

महामहोपाध्याय श्री मेघविजयजीगणिप्रणीता

श्री अर्हद्गीता

(भाषा टीका)

*

टीका एवं सम्पादन :

डॉ. सोहनलाल पटनी

एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी) बी. एड्. पी-एच. डी.

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय, सिरोही (राज.)

*

प्रयोजक :

स्व. सेठ श्री अमृतलाल कालीदास दोशी, बी. ए.



प्रकाशक :

जैन साहित्य विकास मंडल

बम्बई-५६

महामहोपाध्याय श्री मेघविजयजीगणिप्रणीता

श्री अर्हद्गीता

(भाषा टीका)

*

टीका एवं सम्पादन :

डॉ. सोहनलाल पटनी

एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी) बी. एड्. पी-एच. डी.

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय, सिरौही (राज.)

*

प्रयोजक :

स्व. सेठ श्री अमृतलाल कालीदास दोशी, बी. ए.



प्रकाशक :

जैन साहित्य विकास मंडल

बम्बई-५६

प्रकाशक :

चन्द्रकान्त अमृतलाल दोशी,
मे. ट्रस्टी-जैन साहित्य विकास मंडल,
११२, स्वामी विवेकानंद मार्ग,
इर्ला, विले-पार्ला,
बम्बई-५६

*

मुद्रक :

स्वस्तिक प्रिन्टरी,
३९६, स्वातंत्र्यवीर सावरकर मार्ग,
प्रभादेवी, बम्बई-४०००२५

*

प्रथम संस्करण
जुलाई, १९८१
सर्वाधिकार सुरक्षित

*

मूल्य रु० ३

विषय सूची

			पृष्ठ
प्रकाशकीय निवेदन	५
आभार	७
उपाध्याय मेघविजयजी—व्यक्तित्व एवं कृतित्व	९
अर्हद्गीता—विवेचन	१३
अध्याय			
१ मोक्षमूल ज्ञान	२
२ शाश्वत आत्मज्योति	२५
३ ज्ञान अमृत है	३३
४ धर्म बीज	४१
५ शान्त सुधारस से धर्म प्राप्ति	४९
६ ज्ञान दर्शन चारित्र्य प्रधान धर्म	५७
७ सद्धर्म का स्वरूप	६५
८ सद्धर्म का स्वरूप	७४
९ वीतराग भाव की महत्ता	८२
१० सप्तनय से धर्मप्रकाश	९१
११ आत्म गुणों का विकास ही वीतराग मार्ग	१०१
१२ चंद्रगति से मनोगतिका समन्वय	१११
१३ मन में कालचक्र का निरूपण	१२१
१४ मनोजय के उपाय	१३१
१५ अनेकता में एकता	१४०
१६ एकत्व भावना	१४९
१७ वासनाएँ उर्ध्वगति में बाधक	१५८
१८ उत्कृष्ट आचरण का स्वरूप	१६७
१९ तपोबल से परमात्मापद	१७७
२० मंत्रयोग से परमेष्ठिपद की उपासना	१८६
२१ आत्मा का परम ऐश्वर्य	१९४
२२ एकता और अनेकता	२०२

अध्याय

पृष्ठ

२३	ध्यानादि की आवश्यकता	२११
२४	गुरु परमात्मा स्वरूप है	२१९
२५	परमेष्ठिस्वरूप ॐकार संकीर्तन	२२७
२६	ॐकार में परमात्मा	२३५
२७	परमात्मस्वरूप	२४४
२८	सद्गुरु में श्रद्धा से सद्धर्मप्राप्ति	२५२
२९	मातृका अर्ह वाची	२६०
३०	अकार से वीतराग का ग्रहण	२६८
३१	अर्हत् स्वरूप	२७६
३२	अकार में तीर्थंकरों की सिद्धि	२८६
३३	वर्णमातृका से परामातृका	२९६
३४	व्यञ्जन भी अर्हद्वाची हैं	३०५
३५	वर्णमातृका में लोक स्वरूप	३१५
३६	सदाचरण धर्म का स्वरूप	३२३



प्रकाशकीय निवेदन

हमारे पूर्वाचार्यों, मुनियों एवम् विद्वानों ने अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, योग, ज्ञान, न्याय, ज्योतिषादि विषयों का साहित्य विपुल प्रमाण में रचा। यह साहित्यिकी ब्रह्मरुद्र हजारों वर्षों से आज भी ज्ञान भंडारों में ताड़पत्रों एवं हस्तलिखित पत्रों पर विद्यमान है। इस विविध प्रकार के श्रुत ज्ञान को जन-जन तक पहुंचा कर जैन संस्कार को पुष्ट करने का, इस संस्था के संस्थापक स्व. सेठ श्री अमृतलालभाई दोशी ने संकल्प किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आपने सन् १९४८ में 'जैन साहित्य विकास मंडल' की स्थापना की और अनुसंधान कार्य का प्रारंभ किया। फलतः आपके योग्य संचालन में संस्थाने उनके जीवन काल में आवश्यक सूत्र, मंत्र, ध्यान, योगादि विषयों के मौलिक व प्रमाणभूत ३० ग्रंथों का प्रकाशन किया, जिनकी जैन संघ ने बहुत सराहना की और बड़े उत्साह के साथ अपनाया। इसके अलावा और कई रचनाएँ तैयार करवाईं, जिनका हम प्रकाशन कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ 'अर्हद्गीता' के संपादन व प्रकाशन की योजना आपने सात आठ वर्ष पहले बनाई थी, परन्तु अन्य प्रकाशनों में व्यस्त रहने के कारण उनके जीवन काल में इसका प्रकाशन न हो सका। आज इसको प्रकाशित कर हम उनके प्रयत्नों की संपन्नता का संतोष अनुभव कर रहे हैं।

मनुष्य बहुत बुद्धिशाली है। उसने प्रकृति के रहस्योद्घाटन में कोई कोर कसर नहीं रखी। अणु विभाजन से चंद्रमा की धरती पर पैर रखने तक का सामर्थ्य बताया। परन्तु उसकी आत्मा कुंठित हो गई है। भौतिकवाद/समृद्धिवाद उस पर हावी है। फलतः आध्यात्मिक मूल्यों का तेजी से हास हो रहा है। वह विवेक शून्य हो गया है। स्वयं को नष्ट करने पर तुला हुआ है। इस दौड़ को रोकने का एक मात्र मार्ग आध्यात्मिक मूल्यों को फिर से प्रतिष्ठित करना है, और वह आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। भगवान् महावीर के बताये हुए मार्ग पर चलने की अनिवार्यता स्वीकारना ही होगा। उपाध्याय मेघविजयजी जैसे प्रकांड विद्वान की समर्थ लेखनी से रचित आध्यात्मिक कृति 'अर्हद्गीता' उसकी पूर्ति करने में सफल होगी, ऐसी हमारी श्रद्धा है।

डॉक्टर सोहनलालजी पटनी ने ग्रंथ का बहुत ही परिश्रम पूर्वक संपादन किया और प्रकाशन के दौरान सहयोग दिया है, उसके लिए हम उनके बहुत ही कृतज्ञ हैं।

जुलाई, १९८१

ज्योत, इर्ला, विले-पार्ले.

११२, स्वामी विवेकानंद मार्ग,

बंबई-४०० ०५६

निवेदक

चंद्रकांत अमृतलाल दोशी

मे. टूटी

जैन साहित्य विकास मंडल

आभार

उपाध्याय मेघविजयजी प्रणीत अर्हद्गीता को आपके पठन, पाठन तथा चिन्तन मनन हेतु प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। इसमें व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, तर्क, वेदान्त, वैष्णवमत, आयुर्वेद, पिंगल, योग, सभी के माध्यम से अध्यात्म विद्यामय जैन दर्शन की व्याख्या की गई है। ऐसा दुर्लभ ग्रन्थरत्न अभी तक प्रकाश में नहीं आया था। इसके मूल रूप की केवल १०० प्रतियां सन् १९३४ में धूलीया (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हुई थी। उसमें पाठ की अशुद्धियाँ बहुत रह गई हैं जिन्हें शुद्ध कर अन्वय, टीका एवं आवश्यक विवेचन के साथ प्रकाशित करने की योजना जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् बहुश्रुत स्व. सेठ अमृतलाल कालिदास दोशी ने बनाई। उन्होंने जैन साहित्य विकास मंडल के माध्यम से अभी तक अनेकों ग्रन्थोंका स्वयं प्रणयन किया है तथा दूसरों को प्रोत्साहन दिया है। उपाध्यायजी द्वारा लक्ष्मी एवं सरस्वती के अविरोध वाली बात सेठ अमृतलालजी पर खरी उतरती है।

“ वैरं लक्ष्म्याः सरस्वत्या नैतत्प्रामाणिकं वचः ।

ज्ञानधर्मभृतो वक्ष्या लक्ष्मीर्न जडरागिणी ॥ ”

“लोक में यह प्रचलित है कि लक्ष्मी का सरस्वती के साथ वैर है यह प्रामाणिक उक्ति नहीं है। लक्ष्मी जड़ अज्ञानी को नहीं चाहती है वह तो ज्ञान धर्म युक्त पुरुष क वश में रहती है।”

वे सरस्वती एवं लक्ष्मी के संगम स्थल तथा अधिकारी विद्वान थे। उन्होंने अर्हद्गीता को हिन्दी भाषान्तरित करने की अपनी इच्छा को पूज्य पं. भद्रंकरविजयजी गणिवर के समक्ष निवेदित की। गुरुदेव की मुझे अकिंचन पर असीम कृपा रही है अतः मेरी अपात्रता की जानकारी रखते हुए भी उन्होंने मुझे यह कार्य सौंपा। “क्षणमपि सज्जन संगतिरेका भवति भवार्णव तरणे नौका” की उक्ति के अनुसार मुझे गुरुदेव के प्रिय शिष्यद्वय पू. गुरुवर्य कल्याणप्रभविजयजी एवं पू. कुन्दकुन्दविजयजी का सहारा मिला। इन्होंने मेरे बालप्रयास को परिमार्जित कर इस रूप में आपके सामने रखवाने का वंश प्रयास किया। अर्हद्गीता के अंतिम ९ अध्याय पू. मुनिराज धुरन्धरविजयजी के निर्देशन में परिमार्जित हुए हैं। गुरुदेव की मर्म भेदिनी दृष्टि एवं शक्ति का पूर्ण सहारा मुझे मिला है तब यह नवनीत सुपाच्य बन सका है। मैं इस हेतु पू. गुरुदेवों का आजन्म ऋणी रहूँगा। टीका के संशोधन में पू. मुनिराज गुणरत्नविजयजी महाराज व पं. भूरालालजी शर्मा ज्योतिषाचार्य ने जो अमूल्य सहायता दी है उसे भुलाया नहीं जा सकता है।

अर्हद्गीता के प्रारम्भिक अध्यायों को पूज्य जम्बूविजयजी ने अपने बेङ्ग चातुर्मास के दौरान मनोयोग पूर्वक सुना था एवं समुचित मार्ग दर्शन दिया था तदर्थ मैं पूज्यश्री का आभारी हूँ ।

पुस्तक जिस रूप में आपके सामने आ रही है उसका श्रेय जैन साहित्य विकास मंडल के कर्मठ कार्यकर्ता एवं बहुश्रुत चन्द्रकान्तभाई को है । मैं उनका कृतज्ञ हूँ ।

यदि टीका में कोई शान्त्र विरुद्ध बात आ गई हो तो मेरे अल्पज्ञान के कारण आई जानकर क्षमा कर दें एवं कोई विशिष्ट बात ध्वनित हो तो मेरे गुरु का प्रसाद समझें । बस मैं तो 'पदे पदे स्वखलनं' को स्वीकार करता हूँ ।

डॉ. सोहनलाल पटनी

एम. ए. (संस्कृत-हिन्दी) बी. एड्. पी एच. डी.

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय, सिरौही (राज.)

अक्षय तृतीया, सन् १९८१

उपाध्याय मेघविजयजी

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

यशोविजयजी उपाध्याय के समकालीन मेघविजयजी उपाध्याय का नाम जैन संस्कृतज्ञों की परम्परा में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है। यशोविजयजी के युग में स्वयं यशोविजयजी, विनयविजयजी एवं मेघविजयजी की संस्कृत कृतियों के द्वारा परवर्ती युग का जैन संस्कृत साहित्य प्रभावित दिखाई देता है। वे उपाध्याय थे एवं व्याकरण, न्याय, साहित्य, अध्यात्म विद्या, योग तथा ज्योतिर्विज्ञान में निष्णात थे। सत्रहवीं शती के जैनाचार्यों में इनका स्थान विशिष्ट रहा है। ये मुगल सम्राट अकबर प्रतिबोधक प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हीरविजयसूरीश्वरजी की परम्परा में दीक्षित हुए थे तथा इनके दीक्षा गुरु का नाम पंडित कृपाविजयजी था। उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है-हीरविजयजी-कनकविजयजी-शीलविजयजी-सिद्धिविजयजी-कमलविजयजी-कृपाविजयजी-मेघविजयजी।

तपागच्छीय आचार्यप्रवर विजयदेवसूरि के पट्टधर आचार्य विजयप्रभसूरि ने उन्हें उपाध्याय पदवी से विभूषित किया था। इस बात को स्वयं उपाध्याय मेघविजयजी ने अपनी काव्य प्रशस्तियों में स्वीकार किया है। इनका पाण्डित्य असाधारण था एवं दृष्टि मर्मभेदिनी। इन्हीं विजयदेवसूरि पर उन्होंने पाली जिले के सादड़ी ग्राम में सं० १७२७ के चातुर्मास की अवधि में “देवानन्दाभ्युदयमहाकाव्य” का प्रणयन किया था। इनके द्वारा प्रणीत ग्रंथों की सूची निम्नलिखित है :—

१. अर्हद्रीता, भगवद्रीता अथवा तत्त्वगीता
२. युक्ति प्रबोध
३. लघुत्रिषष्टी चरित्रं (अमुद्रित)
४. हेम कौमुदी (चंद्रप्रभा) व्याकरण
५. श्रीशान्तिनाथ चरित्रम्
६. मेघदूत समस्यापादपूर्ति
७. देवानन्दाभ्युदय माघकाव्य समस्यारूप (श्रीविजयदेव महात्म्य विवरणम्)
८. शंखेश्वर प्रभुस्तवन
९. श्री विजयसेन सूरि दिग्विजयकाव्य - तपागच्छ पट्टावली
१०. मातृकाप्रसाद अन्नमः सिद्धंका वर्णनरूप

११. संनसंधान महाकाव्यम् श्रीकृषभदेव, शान्ति, नेभी, पार्श्व, वीर, कुण्ण, रामचन्द्र का वर्णन
१२. हस्त संजीवनी स्त्रोपज्ञ वृत्ति
१३. ब्रह्मबोध
१४. वर्ष प्रबोध
१५. मध्यम व्याकरणम् (३५०० श्लोक प्रमितं)
१६. लघु व्याकरण
१७. थावच्च कुमार स्वाध्याय
१८. सीमंभरस्वामिस्तवनम्
१९. पर्व लेखा
२०. पार्श्वनाथ नामावली, (गुर्जर गिरागुंफिता)
२१. भक्तामर टीका
२२. उदयदीपिका
२३. राणवंश इतिहास
२४. भूविश्वेत्यादि काव्यविवरणम्
२५. रावणपार्श्वनाथाष्टकम्
२६. विंशति यंत्रविधि (पद्मावती की बताई हुई)

‘देवानन्दाभ्युदय महाकाव्य’ अकार से अंकित है। उसके प्रत्येक श्लोक का अन्तिम पाद माघ काव्य का है। ‘युक्ति-प्रबोध’ बनारसी दासजी के मत खंडन में लिखा हुआ ग्रन्थ है। इस ग्रंथ में उपाध्यायजी ने स्त्री निर्वाण, केवली कवलाहार तथा वल्लवारी श्रमण के मोक्ष की चर्चा की है। ‘चंद्रप्रभा हेम कौमुदी’ व्याकरण सं० १७५७ में आगरा में प्रणीत हुई। यह कौमुदी पाणिनीय व्याकरण जैसी है। यह चन्द्रप्रभा कौमुदी की तरह लघु, मध्यम तथा उत्तम प्रकार की है। उत्तम चन्द्रप्रभा में ८००० श्लोक हैं। उनका “लघु त्रिषष्टि चरित्र” त्रिषष्टि शलाका पुरुष का संक्षिप्त रूप है। इसमें ५००० श्लोक हैं! ‘श्री शान्तिनाथ चरित्रम्’ की रचना नैषध काव्य की समस्यापूर्ति रूप है। इसके प्रत्येक श्लोक का चौथा पाद नैषधीय चरित्र का है। इसका एक नाम नैषधीय समस्या भी है। इसमें कुल ६ सर्गों में तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ के जीवन की महिमा गुम्फित है। ‘मेघदूत समस्या पादपूर्ति’ में श्लोक का प्रत्येक चौथा पाद मेघदूत का है। इसमें कुल १३० श्लोक हैं। देवरात्न में चतुर्मास कर रहे आचार्य विजयप्रभसूरी को मेघविजयजी ने औरंगाबाद से लेख विज्ञप्ति के रूप में इस काव्य को

भेजा था। 'शंखेश्वर प्रभुस्तवन' में भगवान् शंखेश्वर पार्श्वनाथ की महिमा का गुणगान है। 'श्री विजयसेनसूरी दिग्विजय महाकाव्य' में आचार्य विजयप्रभसूरी के पूर्वकालिक आचार्यों का ऐतिहासिक उल्लेख है। 'मातृका प्रसाद' ग्रंथ की रचना सं० १७४७ में धर्म नगर में हुई। इसमें ॐ नमः सिद्धय की विस्तृत व्याख्या है। 'सप्त संधान' एक अनूठा महाकाव्य है जिसमें एक ही समय में भगवान् ऋषभ देव, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी, कृष्ण एवं रामचंद्रजी का वर्णन है। श्लेषालंकार का इतना चमत्कार गहन पांडित्य के बिना संभव नहीं था। 'हस्त संजीवनी' ५२५ श्लोकों की पुस्तक है जिसमें हस्त रेखाओं के आधार पर भविष्य के शुभाशुभ बताएँ जा सकते हैं। इसका दूसरा नाम 'सिद्ध ज्ञान' भी है। इस पर उपाध्यायजी ने स्वोपज्ञ वृत्ति की भी रचना की है। इसी प्रकार 'वर्ष प्रबोध' भी ज्योतिष का ग्रंथ है। इसका दूसरा नाम 'मेघ महोदय' है। इसमें १३ अधिकार तथा ३५०० श्लोक हैं जिसमें उःरात प्रकरण, करूर चक्र, पद्मिनी चक्र, मण्डल प्रकरण, सर्वतोभद्र चक्र तथा सूर्य चन्द्रादि ग्रहण पर विचार किया गया है। इससे सभी प्रकार की भविष्य वाणियां धासानी से की जा सकती हैं। ऐसे ही ज्योतिष विषयक एक 'रमल शास्त्र' की इन्होंने रचना की थी जिसका प्रणयन उनके शिष्य भेरुविजय के लिये हुआ था। 'सीमंधरस्वामी स्तवन' में सीमंधरस्वामी के महात्म्य का वर्णन है एवं 'पर्व लेखा' में जैन पर्वों का वर्णन है। 'भक्तामर टीका' आचार्य मानतुंगसूरी के भक्तामर स्तोत्र पर रचित टीका है। 'उदय दीपिका' नामक ज्योतिष शास्त्र की रचना सं० १७५२ में श्रावक मदन सिंह के लिये की गई थी जो प्रश्नोत्तर रूप में है। इसमें प्रश्नफल निकालने का सरल तरीका बताया गया है। 'रावण पार्श्वनाथाष्टकम्' में आठ श्लोकों में रावण तथा पार्श्वनाथ का श्लेषगर्भित वर्णन है। 'पंचतीर्थस्तुति' में एक एक स्तुति के पांच पांच अर्थ होते हैं एवं उनके ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, संभवनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ का एक साथ वर्णन है। उपाध्यायजी ने 'पंचाख्यान' नामका पंचतंत्राधारित लोक कथा साहित्य गुजराती भाषा में रच कर लोकानुरजन किया। उन्होंने 'पंचमी कथा' की भी रचना की! उनका विश्वास यंत्र विधि बहुत प्रसिद्ध है जिस पर साराभाई नवाबने भाष्य लिखा है। उसके अनुसार यह ज्ञात होता है कि देवी पद्मावती उन पर प्रसन्न थी। इन ग्रंथों के अतिरिक्त 'पंचार्थीस्तव' 'अर्जुनपताका' 'भाषा चौबीसी' 'विजयपताका' एवं 'धर्ममंजूषा' आदि छोटी छोटी रचनायें भी कीं। 'धर्ममंजूषा' में मूर्तिपूजा की स्थापना सिद्ध की है। अपने 'ब्रह्म बोध' नाम के ग्रंथ में उन्होंने आध्यात्मिक चिन्तन किया है। यह ग्रन्थ उरलब्ध नहीं है। इनके अतिरिक्त भी गुजराती एवं संस्कृत में उनकी

कई रचनायें मानी जाती हैं पर उनका प्रमाणपुष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है अतः उनका उल्लेख यहाँ समीचीन नहीं होगा। 'अहर्द्वीगा' नामक उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ ३६ अध्यायों में समाप्त हुआ है जिसमें जैन दर्शन का स्वरूप समझाया गया है जिसका विस्तृत विवेचन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

उपाध्याय मेघविजयजी की प्रतिभा असाधारण थी, प्राप्त कृतियों की गुणात्मकता एवं गणनात्मकता के आधार पर यह निःस्संकोच कहा जा सकता है कि वे अपने युग के अधिकारी विद्वान् थे। व्याकरण, काव्य, ज्योतिष, न्याय, कथा साहित्य, सामुद्रिक, मंत्र, तंत्र, योग तथा अध्यात्म विषयों पर उनकी लेखनी समान रूप से चली है। वे यशोविजय युग के कृति काव्य प्रणेता थे जिन्होंने परवर्ती एक पूर्ववर्ती जैन साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया।



अर्हद्गीता : एक विवेचन

उपाध्याय मेघविजयजी की आध्यात्म विषयक तीन रचनायें हैं—मातृका प्रसाद, ब्रह्मबोध एवं अर्हद्गीता। मातृका प्रसाद एवं ब्रह्मबोध के विषय में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। अर्हद्गीता ब्राह्मणीय परम्परा का ब्रह्म विद्या निरूपक गीता की परम्परा का एक जैन दर्शन निरूपक ग्रंथ है। इसकी रचना संवत् १७४७ में हुई। गीता महाभारत का एक भाग है और उसमें १८ अध्याय हैं। प्रस्तुत गीता में ३६ अध्याय हैं। उपाध्याय मेघविजयजी ने इस ग्रंथ के तीन नाम स्थापित किये हैं। अर्हद्गीता, तत्त्वगीता एवं भगवद्गीता और ये तीनों नाम इतने सार्थक हैं कि वे इस ग्रंथ का विषय स्वतः प्रातिपादित करते हैं। अर्हद्गीता अर्थात् अरिहंत भगवान् की वाणी, तत्त्व गीता अर्थात् संसार में तत्त्वभूत जो वस्तु है उसका विवेचन एवं भगवद्गीता—अर्थात् भगवान् महावीर की वाणी। परन्तु इन तीनों नामों में इसका अर्हद्गीता नाम ही सर्वाधिक सार्थक एवं उपयुक्त है क्योंकि तत्त्वमीमांसा तो प्रत्येक धर्म में अलग अलग प्रकार से की गई है इसलिये तत्त्व गीता नाम से जैन धर्म की गीता विषयक भाव—उपपत्ति नहीं हो सकती। भगवद्गीता तो ब्राह्मणीय परम्परा की गीता का रूढ़ नाम है और फिर कौन से भगवान् ? अतः इसका नाम अर्हद्गीता ही स्पष्ट, सार्थक एवं अन्वयार्थक है।

गीता में जहाँ अर्जुन भगवान् कृष्ण से पूछते हैं वहाँ इसमें चम्पानगरी में भगवान् महावीर के गणधर इन्द्रभूति गौतम उन्हें अपनी शंकाओं का समाधान पूछते हैं। ग्रंथारंभ श्री गौतम उवाच से होता है। उत्तर मिलता है भगवान् महावीर से जिनके लिये श्री भगवानुवाच लिखा हुआ है। इसमें कुल ३६ अध्याय हैं किन्तु सरस्वती वन्दना के प्रारंभिक १६ श्लोकों एवं गीता के स्वरूप को समझाने वाले गद्यात्मक परिचय की गणना प्रथम अध्याय के ही अन्तर्गत की गई है। यदि प्रारंभिक भाग को नहीं गिने तो गीता के प्रत्येक अध्याय में २१ श्लोक हैं अर्थात् कुल श्लोक संख्या $३६ \times २१ + १६ = ७७२$ है।

गद्यात्मक परिचय में समझाया गया है कि अर्हद्गीता आगमों का बीज मंत्र है, सकल शास्त्रों का रहस्य है। इसके ऋषि 'गौतम' छन्द 'अनुष्टुप', 'देवता 'सर्वज्ञ जिन परमात्मा' हैं। 'मनुष्य—जन्म प्राप्त कर प्राणधारियों को तदनुकूल प्रयत्न करना चाहिये, धर्म आराधन करना चाहिये' यह अर्हद्गीता का बीज मंत्र है। 'आत्मा में वैराग्य का प्रादुर्भाव' इसकी शक्ति है। 'अमुक्त संसारी जीव भी इसके मनन चिन्तन से मुक्त हो जायें' यह इसका 'कीलक' है। इसके मनन चिन्तन से आत्म-रक्षा होती है क्योंकि अनिच्छु विषयासक्त जीव आध्यात्म शिरोमणि

हो जाता है अतः इसे **अंगुष्ठ से नमस्कार** करो । यति योगी अथवा ब्राह्मण जो कोई भी हो आसक्ति को छोड़कर आत्मबोधक हो जाता है अतः **तर्जनी से नमस्कार** करो। इस प्रकार रक्षा पञ्चरूप में गीता के पठन पाठन का विचार किया गया है । ‘ अज्ञान मोह से रक्षा ’ करने के लिये यह **कवच** रूप है । ‘ मुख्य रूप से कर्म बंधन का नाश ’ इसका **फल** है अतः ‘ फट् ’ विधानात्मक विसर्जनीय शब्द से उसकी **पुष्टि** की गई है । इसका ‘ विनियोग ’ है श्री जिनेश्वर देव के **जप में प्रीति** । उपाध्यायजी ने अर्हद्गीता का ग्रंथावतरण परसमयमार्गपद्धति से श्रुत देवता के अवतरण से किया है । गीता के स्वरूपादि निदर्शन के अन्त में उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है—

“ इति परसमयमार्ग पद्धत्या शास्त्र प्रज्ञा श्रुतदेवतावतारः ”
अर्हद्गीता के स्वरूप की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है—

“ श्री वीरेण विबोधिता भगवता श्री गौतमाय स्वयं ।
सूत्रेण ग्रथितेन्द्रभूतिमुनिना साद्वादशांग्यांपराम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीं पद्त्रिपदध्यायिनीं ।
मातस्त्वां मनसा दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ ”

अर्थ—यह गीता स्वर्ग महावीर भगवान् द्वारा गौतम को कही गई है । द्वादशांगों पर आधारित इस भगवद्वाणी को इन्द्रभूति गौतम ने सूत्र रूप में रचा । इसमें २४ तीर्थङ्करों में अमेद दर्शित किया गया है अर्थात् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक हुए समस्त तीर्थङ्करों में एकत्वं स्थापित किया गया है । इसमें ३६ अध्याय हैं एवं यह भवरोग का नाश करने वाली है । ३६ की संख्या के ३ व ६ में परस्पर विरोध है अर्थात् ३ से त्रिगुणात्मक संसार और ६ से छःजीवनिकाय इनके परस्पर विरोध से मोक्ष संभव है अर्थात् त्रिगुणात्मक संसार से विमुख होना गीता का लक्ष्य है । ३६ का योग होता है ९ अर्थात् इसमें नौ तत्वों का विवेचन है । कुल श्लोक ७७२ हैं जिनका योग होता है ७+७+२=१६=१+६=७ अर्थात् शैली सतभंगी नय की है । सोलह की संख्या नाभिकमल की १६ पखुरियां हैं । इसकी समस्त संख्याओं का सार्थक प्रयोग मुझे दिखाई देता है । प्रथम से तेरहवें अध्याय तक तो मन को वश में करने के उपाय, आत्म ज्योति प्रकट करने का उपाय, उसके फल, ज्ञान धर्म का उदय, धनुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद, शकुन तथा मंत्र तन्त्र शास्त्रों के अनुसार धर्म की प्रधानता, ज्ञान का स्वरूप आदि समझाया गया है । ज्योतिष शास्त्र के अनुसार दिन, रात, पहर, नक्षत्र, तिथि, वार एवं षड्विंशतिका का धर्म केन्द्रित इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता ।

पहले अध्याय में गौतम स्वामी मन को वश में करना चाहते हैं । भगवान् ने

उपाय बताया है मन का दमन करने वाली गीता का अभ्यास किया जाये क्योंकि मोक्ष का हेतु ज्ञान ही क्रम से वैराग्य का जनक है—

‘ हेतुस्तस्य पुनर्ज्ञानं वैराग्यजनकं क्रमात् - ४ । ’

सूत्रात्मक छोटे छोटे पदों में कितनी सुकर बात भगवान् ने बताई है—

आत्मैवह्यात्मनावैद्यो (आत्मा से आत्मा को जानो)

ज्ञानात् शिवमयोऽव्ययः (ज्ञान से शिवमय अव्यय पद प्राप्त होता है)

भगवान् ने कहा कि ज्ञानियों की उदासीनता से निर्जरात्मक प्रवृत्ति होती है । इससे तत्त्व ज्ञान होता है और उससे मोक्ष की प्राप्ति—

“ औदासीन्यात्प्रवृत्तिः स्याद् ज्ञानिनो निर्जरास्पदम् ।
तत्त्वज्ञानादतो मुक्तिं जगुर्नैयायिकाः जिनाः ॥ २१ ॥ ”

दूसरे अध्याय में “ श्रेष्ठ और उज्ज्वल केवलज्ञान कैसे प्राप्त हो ” पर प्रश्न पूछा गया है । भगवान् ने भी कहा है कि जो व्यक्ति तृष्णा, कषाय एवं विषयों को छोड़ देता है वही ज्ञानी है, धर्मी है एवं विवेकी है, तथा वही केवलज्ञान को धारण कर मुक्त होता है—

तीसरे अध्याय में आत्म ज्योति को सूर्य की तरह साक्षात् देखने की इच्छा गौतम स्वामी ने व्यक्त की है । भगवान् ने कहा है कि विषय एवं कषाय रहित जो ज्योति है वही आत्म ज्योति है । चन्द्रमा की ज्योति विषय विकार युक्त है एवं सूर्य का तेज कषाय कलित है—

“ ज्योतिश्चान्द्रं विषयभूः सौरं तेजः कषायभूः
आभ्यां यत्परमंज्योति स्तद्वैन्द्रं परिभाव्यते ॥ २ ॥ ”

इस अध्याय में आत्म-ज्योति के विषय में विस्तृत विवेचन हुआ है ।

चौथे अध्याय में आत्म ज्योति की मूळ तत्त्वविद्या की कलावृद्धि की विवेचना की गई है । उन्नीसवें श्लोक में विवेक को मुख्य स्थान प्रदान किया गया है उसीके कारण आन्ध्र संवर एवं संवर आन्ध्र बन जाता है—

“ संवरः स्यादास्रवोऽपि संवरोऽप्यास्रवाय ते
ज्ञानाज्ञानफलं चैतन्मिथ्या सम्यक्श्रुतादिवत् ॥ १९ ॥ ”

पाँचवें अध्याय में भगवान् ने नवमे शान्त रस की साधना की बात सुझाई है । प्रमाणों के द्वारा धर्म की प्रदानता भी इसी अध्याय में बताई गयी है ।

छठे अध्याय में ज्योतिष शास्त्र, मंत्र शास्त्र, आयुर्वेद तथा शकुन शास्त्र के प्रमाणों से धर्म की प्रधानता प्रतिपादित की गई है। धर्म पुरुष का मुख ज्ञान है, हृदय उसकी सम्यक् श्रद्धा है, चारित्र उसके हाथ पाँव हैं। भुवनत्रय धर्ममय है। ज्ञान ऊर्ध्व लोक में स्थित है, दर्शन अधोलोक में तथा चारित्र मध्य लोक में—

“ उर्ध्वलोके स्थितं ज्ञानमधोलोके चदर्शनम् ।
चारित्रं मध्यलोकस्थं धर्मस्थं भुवनत्रयम् ॥ १९ ॥ ”

आयुर्वेदानुसार धर्म को अमृतमय किस प्रकार बताया गया है—ज्ञान वात दोष को जीतता है, दर्शन पित्त दोष का निवारण करता है तथा चारित्र कफ दोष का नाशक है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय धर्म अमृत कल्प है।

“ वातं विजयते ज्ञानं दर्शनं पित्तवारणम् ।
कफनाशाय चरणं धर्मस्तेनामृतायते ॥ १५ ॥ ”

उपाध्याय जी ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र को वात, कफ, पित्त के निवारक कहा है क्योंकि ज्ञान का स्वरूप तेजोमय लघु रूप है। लघुता से वातरोग का नाश हो जाता है। पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति में कषायों का वास रहता है। सम्यक् दर्शन से कषायों का शमन होता है अर्थात् कषायमूलक पित्त दोष का नाश होता है। चारित्र क्रियात्मक प्रवृत्ति है जिससे कफ प्रवृत्ति का नाश होता है। इस प्रकार धर्म अमृत कल्प है।

सातवें अध्याय में ज्योतिष शास्त्र की भाँति ज्ञानमय धर्म मार्ग का विवेचन किया गया है। जैसा ज्योतिष आकाश में है वैसे ही ज्ञानचक्र हृदय में निवास करता है। धर्म क्या है, इसका एक रूप देखिए ज्ञान दूष है, श्रद्धा दही है एवं चारित्र घी है। अनन्त वीर्यत्व प्रदान करने वाला यह धर्म-वृत सेवन करने योग्य है—

“ ज्ञानं दुग्धं दधि श्रद्धा घृतं तच्चरणं स्मृतम् ।
गुरोर्गव्यमिदं धर्म्यं धार्यं चानन्तवीर्यदम् ॥ ५ ॥ ”

इसी अध्याय में कहा गया है कि जिसका मन धर्म के वश में है उसके वश में तीनों लोक दिखाई देते हैं।

आठवें अध्याय में धर्म को आत्मा का यान बताया गया है जिसमें ज्ञानी मार्ग प्रकाशक चारित्री उसका नियामक तथा दर्शनी उसमें बैठा मुसाफिर है। अर्थात् ज्ञानियों ने मार्ग बताया है, चारित्र धारी मुसाधुओं ने उस मार्ग का नियमन किया है एवं श्रद्धावान श्रावकों को भवपार उतारा है। जैन धर्मानुसार देवगुरु के स्वरूप को भी इसी अध्याय में बताया गया है।

नवे अध्याय में बताया गया है कि आत्मध्यान से आत्म ज्योति प्रकट होती है जैसे शुभध्यान से शुभयोग प्रकट होते हैं। इस अध्याय में पहली बार लक्ष्मी एवं सरस्वती के अविरोध का कारण दिया गया है कि ज्ञान एवं धर्म धारण करने वाले पुरुष की लक्ष्मी वश वर्त्तिनी होकर रहती है क्योंकि वह जड़ता-मूर्खता से प्यार नहीं करती है—

“वैरं लक्ष्म्याः सरस्वत्या नैतत्प्रामाणिकं वचः ।

ज्ञानधर्मभृतो वश्या लक्ष्मीर्न जडरागिणी ॥ १३ ॥”

दशम अध्याय में विश्व में एकत्व भावना का आदेश दिया गया है। इसमें हेयोपादेय ज्ञान, नय मार्ग एवं व्यवहार मार्ग से जगत में एकत्व स्थापित किया गया है।

ग्यारहवे अध्याय में शंका उपस्थित हुई है कि आत्म धर्म के निश्चय से सभी जन्तुओं में चैतन्य समाविष्ट है तो फिर कोई भी प्राणी अधर्मवान् नहीं हो सकता। यहाँ फिर भगवान् ने हेयोपादेय ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार विवेक निश्चित करने की बात कही है।

बारहवाँ अध्याय ज्योतिष शास्त्र एवं मानस शास्त्र में एकता स्थापित करता है। वर्ष, ऋतुएं, मास, पक्ष, दिन, बेला, वार, नक्षत्र आदि सबका समाहार मनमें कर दिया गया है। मन की तेजस्वी अवस्था उत्तरायण है एवं शान्त अवस्था दक्षिणायन है। अपनी वृत्ति में रहना वसन्त है, क्रोधावस्था ग्रीष्म ऋतु है। मनकी स्थिरावस्था वर्षा ऋतु है तो धनार्जन के लिये देशाटन शरद् ऋतु है। इसी प्रकार रसों एवं राशियों का भी मन की अवस्थानुसार चिन्तन किया गया है। अधर्म भावना में मनका रमना रात्रि है तथा धर्म में निष्ठा दिन। मन की शुभ भावना शुक्ल पक्ष एवं अशुभ भावना कृष्ण पक्ष है। इसी प्रकार नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता एवं पूर्णा तिथियों का भी विचार मन की भावनानुसार किया गया है।

तेँहरवे अध्याय में एकम से लेकर पूनम पर्यन्त तिथियों का मन की अवस्थानुसार चित्रण किया गया है। ऐक्य की भावना से पड़वा, द्वित्व की भावना से द्वितीया इत्यादि। वारों का भी इसी प्रकार, मनोवस्था के अनुसार निश्चय किया गया है। कषाय नोकषाय में इच्छा मंगलवार, ज्ञानचर्चा बुधवार तो देवाचर्चन गुरुवार। नक्षत्रों का भी इसी प्रकार मनाधारित वर्णन किया गया है। ज्योतिष शास्त्र एवं अध्यात्म विद्या का ऐसा गंगा-जमुनी मेल अन्यत्र दिखाई नहीं देता। ऐसे प्रयोग उपाध्यायजी की बहुश्रुतता की पुष्टि करते हैं।

चौदहवे से सोलहवे अध्यायों को ब्रह्मकाण्ड के अन्तर्भूत किया गया है क्योंकि इनमें चौदहवे अध्याय के प्रथम श्लोक में गौतम स्वामी का प्रश्न है कि नाडियों के

द्वारा ज्योतिषी तथा वैद्य, भूत भावी एवं वर्तमान को जान लेते हैं, उसे मन से कैसे जाना जाय ?

“ ऐन्द्रंस्वरूपं नाडिभिर्ज्योतिर्ज्ञा वा भिषग्वरः ।

भूतं भाविभगवद्वेत्ति ज्ञेयं तन्मनसा कथम् ॥ १ ॥ ”

पन्द्रहवे अध्याय का प्रश्न है कि—

“ किं तत्त्वं विदुषांज्ञेयं साधनं शिवसम्पदः ” तो सोलहवें में बड़ी भारी समस्या उपस्थित है कि संसार में वस्तुओं का नाना अर्थक्रियाकारी प्रपंच है, उनमें कैसे एकता प्रतिपादित की जाए ।

सत्रहवें अध्याय से छत्तीसवें अध्याय तक का समावेश कर्मकाण्ड विषयान्तर्गत किया गया है । सत्रहवें अध्याय का प्रश्न क्रिया विषयक ही है “ किं विधेयमाविधेयम् वा ” क्या करणीय है तथा क्या नहीं करने योग्य ? क्योंकि संसार की “ उभयोगति ” है ।

अठारहवें अध्याय में यही विवेचन चलता है पर उन्नीसवें अध्याय का प्रश्न भिन्न प्रकार का है क्योंकि अब तक गौतम स्वामी संसार के नानार्थ प्रपंच को समझ चुके हैं और उनकी समस्या है परमतत्त्व का प्रकाशन । भगवान् ने एक छोटे से श्लोक द्वारा पहले परिभाषा देते हुए उनकी शंका का समाधान प्रारंभ किया—

“ चिदानन्दमयं ज्योतिस्तत्त्वंस्पष्टं तपोवलात् ।

जगत्प्रकाशकं मिथ्यामोहध्वान्तविनाशकम् ॥ २ ॥ ”

चिदानन्द मय ज्योति ही तत्त्व है जो तपोवलात् से स्पष्ट होती है । यह तत्त्व जगत् का प्रकाशक है एवं मिथ्या मोह के अन्धकार का नाश करने वाला है । यहाँ से नव तत्त्वों का विवेचन आरंभ होता है । भगवान् ने समझाया कि तत्त्व का श्रवण, मनन एवं साक्षात्करण यदि भावनापूर्वक किया जाये तो जीव माया से मुक्त हो कर परमेश्वर रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । आत्मा से परमात्मा बनने का कितना सरल उपाय है—

“ श्रोतव्यश्चापि मंतव्य साक्षात्कार्यश्च भावनैः ।

जीवो मायाविनिर्मुक्तः स एष परमेश्वरः ॥ ११ ॥ ”

चूंकि विषय कर्मकाण्ड का चल रहा है अतः उपलब्धि का तरीका इन अध्यायों में बताया गया है । बीसवें अध्याय का प्रश्न है परमेश्वर कैसे हैं जिनकी भक्ति करता हुआ यह आत्मा शिवसंपदा को प्राप्त हो जाय ? यहाँ मनुष्य जन्म की महत्ता एवं ज्ञान को सर्वोत्तम बताया गया है कि दूध में सार घी है, फ़ूड में परिमल, संसार में चैतन्य साररूप है और चैतन्य में भी सर्वोत्तम है कैवल्यज्ञान—

“ दुग्धे स्तारं यथासर्पिः पुष्पे परिभलस्तथा ।

तथा लोकेऽपि चैतन्यं तस्मिन् कैवल्यमुत्तमम् ॥ ८ ॥ ”

इस अध्याय में “ ॐ नमः सिद्धम् ” तथा “ ॐ अर्हम् का महत्व समझाया गया है ।

इक्कीसवे अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, बुद्ध आदि से अर्हत् भगवान् की एकता प्रतिपादित की गई है क्योंकि प्रश्न ऐसा ही था कि ये अर्हत् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, बुद्ध अथवा दूसरे क्या है ?

बाईसवे अध्याय में प्रश्न है “ निदानन्दाभिनन्दिनी आत्म ज्योति ” सिद्ध भगवान् में पूर्णतया प्रतिभासित है । उनमें एकता प्रतिष्ठित होने पर परमेश्वर की एकता सिद्ध होती है तो फिर आत्मा और परमात्मा में भिन्नता कैसे घटित होती है ? कितने सुन्दर दृष्टान्त से भगवान् ने भेदाभेद को समझाया है कि अकार वस्तुतः एक है पर इसके संवृत भिवृतादि २४ भेद हैं । सिद्ध स्वरूप एक है पर वह २४ जिनेश्वरों में प्रतिभासित है । हरि एक है पर उनके अवतार अनेक हैं वैसे ही अर्हत् भी अनेक हैं—

“ अवतारा ह्यसंख्येया एकस्यापिहरेर्यथा ।

ब्रह्माविष्णुमहेशाद्या एवमर्हन्नेकधा ॥ ११ ॥ ”

तेईसवे अध्याय का प्रश्न बड़ा गम्भीर है कि जब आत्मा परमात्मा में एकता स्थापित है तो फिर ध्यान, दान, तपादि करने की क्या आवश्यकता है ? निश्चय से तो यह आत्मा मुक्त ही है । भगवान् ने समझाया है कि यह आत्मा कैवली है पर व्यवहार से यह मलवान् है—निर्मल समल शातकुम्भ की तरह दो प्रकार का ।

परमात्मा शुद्ध स्वरूपी है अतः इनके ध्यान से समल आत्मा भी सिद्ध स्वरूपी हो जाता है जैसे पुष्प से वासित तेल तन्मयी रूप धारण करता है—

“ तस्यैव भजनाल्लोकः स्वयं तद्गुणभाजनम् ।

पुष्पवासनया तैलं नैव किं तन्मयी भवेत् ॥ १४ ॥ ”

चौबीसवे अध्याय में प्रश्न है—लोकालोक व्यवस्थित पारमेश्वर्य क्या है ? इसमें गुरु का महात्म्य समझाया गया है । धर्म का मूल विनय है और उसका मूल गुरुभक्ति है । सनातन धर्म में गुरु का महत्त्व इस प्रकार बताया गया है—

“ गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः ।

गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥ ”

तो यहाँ उससे भी बढ़ कर बात कही गई है—

“गुरुर्नेत्रं गुरुर्दीपः सूर्याचन्द्रमसौ गुरुः ।

गुरुर्देवो गुरुर्पन्था दिग्गुरुः सद्गति गुरुः ॥ १५ ॥”

और यहाँ गुरु को साक्षात् परमेश्वर सकारण ही बता दिया गया है केवल उपाधि रूप नहीं—

“गुरुः पोतोदुस्तरेऽब्धौ तारकः स्याद्गुणान्वितः ।

साक्षात्पारगतः श्वेतपटरीति समुन्नयन् ॥ ३० ॥”

“स्यादक्षरपदप्राप्तिर्द्वैधापि गुरुयोगतः ।

गुरुरूपेण भूभागे प्रत्यक्षः परमेश्वरः ॥ २१ ॥”

पच्चीसवे अध्याय में पूछा है कि कैवल्य सिद्धि के लिये सर्व प्रथम क्या करना चाहिये ? इसमें पाणिनि व्याकरण के सूत्रानुसार आत्मा, पंचपरमेष्ठि, मोक्ष आदि समझाये गये हैं । ॐ में अधोलोक उर्ध्व लोक एवं मृत्यु लोक तीनों समाये हुए हैं । अ से आत्मा, उ से उसकी वितर्कावस्था एवं म से मोक्ष । अइउण सूत्रानुसार अ से आत्मा, उ से उपयोग एवं म से महानन्द अर्थात् आत्मा उपयोग से महानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकती है । यह ॐकार परमेश्वर है—

“अत्युकारे मकारे च त्रिपदी या व्यवस्थिता ।

तन्मयस्त्रिजगद्व्यापी ॐकारः परमेश्वरः ॥ २१ ॥”

छब्बीसवे अध्याय की समस्या है कि ॐकार त्रिजगद्व्यापी है इसका निश्चय कैसे किया जाये ? भगवान् ने स्पष्ट किया है कि “नोकारेण विनाक्षरम्” ॐकार के बिना कोई अक्षर ही नहीं है । समस्त स्वरों तथा व्यंजनों में अकार ही सब कुछ है—

“अकारो वर्णमुख्योऽयं केवलात्मा स तीर्थकृत् ।

नामिभूर्मरुदेवास्य योनिलोके प्रसिद्धिभाक् ॥ १५ ॥”

अकार वर्णों में मुख्य है केवलात्मा, तीर्थकर । यह नामि से उत्पन्न है एवं पवन उसकी योनि है । मुद्रालङ्कार एवं श्लेषालङ्कार की छत्रसे अकार को ऋषभदेव की संज्ञा दी गई है कि वह अकार स्वरूप तीर्थकर परमात्मा नामिराजा से उत्पन्न है । मरुदेवी इनकी माता है, ऐसी लोक में प्रसिद्धी है । अन्त में तो यहाँ तक कह दिया है कि “अकारं सर्वगं जपेत्” सब वर्णों में अवस्थित ॐकार की उपासना करो क्योंकि यह अव्यय ॐस्वरूप शक्तिमान है एवं इसके शब्दोच्चारण मात्र से समस्त लोक क्षण मात्र में ब्रह्मतेज से व्याप्त हो जाता है—

“न्यासतोऽप्यव्ययं वक्ति ॐकारः शक्तिमान् स्वयम् ।
शब्दादपि क्षणालोकं व्याप्तोहि ब्रह्मतेजसा ॥ २१ ॥”

सत्ताइसवे अध्याय की शंका है कि शिव स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा वाले व्यक्ति को क्या धार्मिक कार्य करने चाहिये। यहाँ भगवान् ने प्रत्युत्तर में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, तथा सम्यक् चारित्र्य का स्वरूप समझाया है। ऋषभदेव भगवान् की शिव, राम, विष्णु से एकता प्रतिपादित की गई है। मत्स्य, कूर्म, वराह, घोडा, हाथी, सिंह आदि लंछन तथा सूर्य चन्द्रादि ग्रह इसलिये पूज्य हैं कि वे भगवान् के चरणकमल में स्थित हैं। यहाँ सत्संगति की महिमा प्रकारान्तर से प्रतिष्ठित हुई है। भगवान् के लंछन एवं ग्रह इसलिये पूज्य हैं कि वे भगवान् के चरण कमलों में लीन हैं।

अष्टाईसवे अध्याय की समस्या विचित्र है। संसार में धर्म शास्त्रों में, क्रियाओं में, वेप में, अनुयोग में एवं आचार में सर्वत्र भेद दिखाई देता है। सभी अपने धर्म को शुद्ध एवं दूसरे के धर्म को दुष्ट कहते हैं तो इसके लिये क्या करें? भगवान् ने उत्तर में कहा कि दया, शील, तप एवं श्रुत से धर्म की परीक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार कसौटी से उत्तम स्वर्ण की परीक्षा की जाती है। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, एवं भाव के अनुसार मनुष्य को अपनी बुद्धि को तत्त्व चिंतन में लगाना चाहिये—

या गतिः सा मतिरिति न्यायात्तन्त्रेऽप्यतत्त्वधीः ।

द्रव्यक्षेत्रकालभावान्नान्वेति प्रायशो मतिः ॥ ३ ॥

तस्या नैर्मल्यसम्पत्तै दयाशीलतपःश्रुतैः ।

परीक्षणीयो धर्मोऽपि कथैः स्वर्णमिवोत्तमैः ॥ ४ ॥

उन्तीसवे अध्याय में प्रश्न है कि मातृका में सारा विश्व प्रकाशित है एवं पंच परमेष्ठि प्रतिष्ठित हैं। यह अव्यक्त एवं अक्षर भी हैं इसको लिखने से पूर्व दो रेखाओं को लिखने का क्या कारण है? श्री भगवान् ने समझाया है कि जो मातृका पहले नाभि में अव्यक्त रूप से थी वही बादमें लिखने पर व्यक्त हो जाती है जैसे ग्रंथकार पहले मानस में अव्यक्त रूप से ग्रंथ का संयोजन करता है और बादमें उसका प्रकटन करता है। जो वस्तु पहले अव्यक्त होती है वही बाद में व्यक्त हो जाती है। इसको यों समझा जाता है सूक्ष्म-पंचतन्मात्राएं अव्यक्त रहती हैं परन्तु बाद में व्यक्त होने पर आत्मा सहित पंच भूत के रूप में प्रकट होती है। यहाँ फिर ॐकी व्याख्या की गई है कि यह फणधारी नागराज शेष है, गणेश है। मातृका में साठ वर्ण इसलिये हैं कि साठ अक्षरों का एक पल, साठ पलों का एक दण्ड, साठ दण्डों का एक दिन रात्र, साठ दिनों का एक ऋतु एवं साठ ऋतुओं की एक वर्ष वीसी सिद्ध होती है।

तीसरे अध्याय में श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि वर्ण मातृका में अकार प्रधान है एवं उकार में भी अकार की प्रधानता है तो फिर इस अकार से, अरिहंत भगवान् लें या ब्रह्मा, विष्णु—महेश । श्री भगवान् ने कैवल्य के कारण अकार से अर्हत् का ग्रहण करने का आदेश दिया है क्योंकि अकार की प्रकृति सरल एवं धवल है । उसने कृष्ण का ग्रहण नहीं हो सकता । यहाँ एक नया सूत्र उपाध्यायजी ने प्रस्तुत किया है “ अं नमः ” क्योंकि अ से आदि देव ऋषभदेव एवं म से महावीर । इस प्रकार “ अं नमः ” में आदिनाथ से महावीरपर्यन्त २४ तीर्थंकरों का वन्दन हो जाता है—

अइत्यर्हन् आदिदेवो—महावीरो मति स्मृतः ।

अं नमः कथनादर्हच्चतुर्विंशतिमानमेत् ॥ १४ ॥

इस अध्याय में अकार के अनेक महत्त्व बताते हुए उसमें अर्हद् भगवान् का ग्रहण करने का आदेश दिया है । यह अकार इषत् प्राग—भारिका स्थित है, अतः अपनी इष्ट सिद्धि के लिये अकार से अरिहन्त भगवान् का ही ग्रहण करना चाहिये ।

इकतीसरे अध्याय में शंकाओं का समाधान तो हो गया है और अब अरिहंत भगवान् में स्थित कुछ भावों का प्रकाशन गौतम स्वामी ने चाहा है जिससे वे पवित्रात्मा हो जायें । यहाँ भगवान् ने अर्हत् भगवान् का स्वरूप निरूपण किया है कि अर्हद् भगवान् सहनशीलता में साक्षात् पृथ्वी, चित्त की निर्मलता में समुद्र जल, अप्रतिहत गति के कारण वायु एवं उग्र तपस्या के तेज से साक्षात् अग्नि है । अप्रतिहत गति के कारण तीक्ष्ण किरणों से शोभित सुवर्णभास्कर सूर्य हैं तथा प्रकृति जैसे सौम्य होने के कारण चन्द्रमा हैं एवं निरालम्बता के कारण वे आकाश रूप हैं । कितनी विश्वजनीन व्याख्या प्रस्तुत की है—

तितिक्षयार्हन्नवनी च साक्षात् शुद्धोऽम्बुराशेर्जलवत् स्वचित्ते ।

तथाऽनिलोप्यऽप्रतिबद्धचारेऽनलप्रभावस्तपसोप्रधाम्ना ॥ १० ॥

गत्यांशुमानप्रतिहन्यमान—स्तोक्षणांशुमालीच सुदीप्रतेजाः

सौम्यः प्रकृत्या अमृतांशुरूपः सदानिरालम्बतयांबरभः ॥ ११ ॥

इस अध्याय में ‘ राम ’ में २४ तीर्थंकरों की सिद्धि की गई है । र ऋषभवाची अ से आदि एवं म से महावीर । इस प्रकार ‘ राम ’ से ऋषभदेव से लेकर महावीर तक के २४ तीर्थंकरों की सिद्धि हुई—

ऋकारतः श्रीऋषभाख्यार्हन् आकारतत्तवाद्यर्हतो मकारः ।

श्रीमान् महावीर इति प्रसिद्धा—रामे चतुर्विंशतिरार्हतीयम् ॥ १३ ॥

बत्तीसरे अध्याय की समस्या जिज्ञासा मूलक है । सभी स्वरों में अर्हद् भगवान् की प्रभावता कैसे ही जाय ? यहाँ अकार में सभी चौबीस तीर्थंकरों की सिद्धि भगवान्

में की है । उन सबमें अर्हन्त्व की प्रतिष्ठा है—एकता में अनेकता । ॐकारादि मंत्र यंत्रों से उनका कथन किया जाता है—

एकोऽनेकः स्त्रैर्गुणैरैन्द्रवंशं ॐकाराद्यै मंत्रयंत्रैर्निवेद्यः ॥ २० ॥

तैत्तिरीयवे अध्याय की समस्या है कि धर्मसभा के सदस्य यह कैसे निर्णय करें कि शास्त्र के बिना ज्ञानी नहीं और मातृका के बिना शास्त्र नहीं क्योंकि मातृका माता के समान है तथा माता की तरह उसका सबको ध्यान करना चाहिये । भगवान् ने मातृका के सार ॐ का महत्त्व बताया है कि नमस्कार विनय है, ज्ञान विनय मूलक है तथा किया ज्ञान मूलक है । इस ज्ञान तथा क्रिया से सिद्ध बना जाता है । यहाँ सभी स्वरों का महत्त्व अलग से प्रतिपादित किया गया है । प्रत्येक स्वर में पंच परमेश्वि भगवान् की स्थापना की गई है जैसे ऋ स्वर में ऋषभदेव भगवान् की स्थापना देखिये—

ऋस्वरे वीतरागत्वं दीर्घोऽयं च महात्मनि ।

एषां समानता तस्माच्छब्दार्थयोरभेदतः ॥ १३ ॥

ऋ स्वर ऋषभवाची होने से वीतरागत्व का द्योतक है । दीर्घ ऋ ऋषिवाचक है । दोनों में समानता होने से शब्द और अर्थ के अभेद के कारण इन ऋ ऋ स्वरों में समानता रहती है ।

अ इ उ ऋ लृ पंच ह्रस्वाक्षर उच्चार प्रमाण काल में ही मुक्ति हो जाती है । इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“ अ ई उ ऋ लृ इत्यस्य सूत्रस्योच्चारमात्रतः ।

निर्व्यञ्जनत्वे सिद्धिःस्यान्नृणां सिद्धान्तसम्मतता ॥ १४ ॥ ”

चौत्तीसवे अध्याय में पूछा गया है कि ३८ व्यंजनों में आर्हन्त्व की सिद्धि कैसे की जाये ? तब भगवान् ने ककार से लेकर क्ष लं वं तक अक्षर की सिद्धि की है जो अरिहंत वाची है ।

पैत्तीसवे अध्याय में मातृकोपदेश से लोकालोक का स्वरूप बताया है । मातृका का आधार लेकर ऊर्ध्व लोक, अधोलोक, दश असुरदण्डक, नव भ्रैवेयक, पांच अनुत्तरलोक आदि का निरूपण किया गया है । इस अध्याय की विशेषता है नमः शब्द में २४ तीर्थकरों की सिद्धि रेखाओं के अंकन द्वारा की गई है । यदि गोलाई रहित न लिखा जाये तो उसमें आठ रेखायें होंगी । अ में एक रेखा, म में नौ रेखायें एवं विषम में छः रेखायें कुल २४ रेखायें हुईं जो तीर्थकरवाची हैं । इसका निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है ।

= आठ रेखायें

अ । = एक रेखा

= नौ रेखायें

= छ रेखायें

२४ रेखायें

अंतिम छठीसवे अध्याय में धर्म का तत्त्व पृछा गया है । भगवान् ने छंद शास्त्र के गणो के अनुसार धर्म का महत्व समझाया है । आठों गणों में भगवान् के रूपका समावेश इस अध्याय की विशेषता है । लघु, गुरु एवं यति आदि की अर्हद् धर्मानुसार बड़ी सटीक व्याख्या की गई है । अन्त में धर्म का स्वरूप इस प्रकार समझाया है—

“ पदं श्रुति कद्रुत्याज्यं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम् ।

यतः स्याद् ग्राम्य धर्मस्योद्दीपनं ध्रियते न तत् ॥ १९ ॥ ”

जैसे छन्द शास्त्र में कर्ण कद्रु एवं असंस्कृत दुष्ट वाक्य को त्याग दिया जाता है, जिससे गंवारूपन झलके ऐसे पदों का चयन नहीं किया जाता है उसी प्रकार व्यवहार में प्रयुक्त—अश्लील, अपशब्द, दुष्टवचन एवं असंस्कृत भाषा को त्याग देना चाहिये । प्रारंभ में आत्मा सर्वगुरु मकार रूप है पर वह उपयोग से सर्वलघुरूप नकारमय बन कर अर्हत् स्वरूप बन जाती है । इस प्रकार अर्हद्गीता में अर्हद् धर्म की विशद व्याख्या की गई है जिसका सार प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में दिया जा रहा है । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

● ●

श्री अर्हद्गीता



प्रथमोऽध्याय मोक्षमूल ज्ञान

[अर्हद्गीता के पहले अध्याय में सर्व प्रथम श्रुतदेवता की स्तुति की गई है। अर्हत् शासन की यह सरस्वती निर्दोष है, सुप्रकाशांगी है। यही वर्णमातृका एवं परा मातृका का स्वरूप है। द्रव्यानुयोग, कथानुयोग, चरण करणानुयोग एवं गणितानुयोग आदि चार अनुयोगों से युक्त होने के कारण यह चार भुजाओं वाली है। आत्मानुशासन के कारण यह ब्राह्मी है। उसका सद्ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है और यह आत्मा ही ब्रह्मात्मा, परमात्मा है।

सरस्वती वन्दना अथवा श्रुतज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान की एकता का प्रतिपादन करने के पश्चात् यह बताया गया है कि यह अर्हद्गीता सकल्यगम बीज मंत्र एवं सकल शास्त्रों का रहस्यभूत शास्त्र है। इसके ऋषि गौतम, छन्द-अनुष्टुप, देवता-सर्वज्ञ जिन हैं। मनुष्यत्व प्राप्त कर धर्मारामन मनुष्यका कर्त्तव्य है, यही गीता का बीज है, आत्मा में वैराग्य भावों का उदय इसकी शक्ति है। संसारी जीवभी इसके मनन चिन्तन से मुक्त हो जायँ, यह उसका 'कीलक' है। तत्पश्चात् अर्हद्गीता का आत्मरक्षापरक पंजर स्वरूप बताया गया है। आत्मरक्षा पंजर रूप की कल्पना के पश्चात् यह बताया गया है कि यह गीता ज्ञान कवच रूप है, कर्म विनाशन इसका फल है।

गीता में जहाँ अर्जुन भगवान् कृष्ण से अपनी शंकाओं का समाधान पूछते हैं वही अर्हद्गीता में इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर से अपनी समस्याओं का निराकरण पूछते हैं। इस प्रथम अध्याय में गौतमस्वामी मनको वश में करने के उपाय पूछते हैं एवं भगवान् ने उसका मूल ज्ञान बताया है। ज्ञान से वैराग्य एवं वैराग्य से शिवत्व की प्राप्ति होती है, यही परमेष्ठि पद है।]



ॐ अर्हं श्री भगवती सरस्वती

श्री अर्हद्गीता

अध्याय प्रथमः

सरस्वती सदा भूयादार्हती शाश्वती श्रिये ।

पूर्णा प्रभातसञ्जातप्रभेवेन्दुविवस्वतोः ॥ १ ॥

अन्वय—इन्दु विवस्वतोः प्रभात सञ्जात प्रभा इव पूर्णा शाश्वती
आर्हती सरस्वती सदा श्रिये भूयात् ॥ १ ॥

अर्थ—चन्द्रमा एवं सूर्य की प्रभातकालीन प्रभा के समान पूर्णा,
शाश्वत काल से चली आई एवं चलने वाली आर्हत् धर्म की सर्व समर्था
अर्हद्वाणी—सरस्वती सबके लिए कल्याण कारिणी हो ।

विवेचन—‘प्रभातसंजात प्रभा’ से तात्पर्य है प्रभातकालीन ज्योति जो
पुष्टिदायक होती है। चन्द्र की प्रभातकालीन किरणों में अमृत का वास रहता
है बाल रवि की किरणों में विपुल तेज एवं पुष्टि की प्रबलता रहती है। जैसे
चन्द्र तथा सूर्य की ज्योति अशेष संसार को प्रकाशित करने के कारण पूर्णत्व की
गरिमा से सुशोभित हैं वैसे ही समग्र आर्हत् साहित्य पर प्रकाश डालने के
कारण यह सरस्वती भी पूर्ण है। यह शाश्वत इसलिए है कि यह त्रिकाला-
बाधित है। वह पूर्णा इसलिए भी है कि उसकी शरण में जाने से ज्ञान का अशेष
प्रकाश प्रकट होता है। उसकी शक्ति सकल लोक प्रकाशिका है। यह सरस्वती अर्हत्

अध्याय प्रथमः

३

शासन का प्राण है क्योंकि यह सरस्वती है, यानि रेफेण सहितं सर, एवं स्व का अर्थ है, अहं रेफ के साथ अहं यानि अहं। अहं एवं अहंत् एक ही है। इसमें सम्बन्ध के अर्थ में ई प्रत्यय लगा है अर्थात् यह अहंद्वती है, आहंती है। यह आहंती यानि योग्य है, सर्व समर्था है। ऐसी चन्द्रकिरणों के समान शीतलता, शान्ति एवं सूर्य किरणों के समान तुष्टि पुष्टि दाता सरस्वती जगत के कल्याण के लिए हो। सरस्वती ज्ञान की प्रतीक देवता है। ज्ञान से ही संसार की मुक्ति सम्भव है। मुक्ति ही प्राणी मात्र का शाश्वत श्रेय है अतः मुक्ति की कामना से ही आहंती अर्थात् पूजनीया, सर्वसमर्था, जैन शासन से सम्बन्धित सरस्वती केवल मेरे लिए ही नहीं परन्तु समग्र संसार के कल्याण के लिए हो। यहाँ विश्वकल्याण की करुणात्मिका भावना दिखाई देती है।

छन्द-अनुष्टुप् ।

यस्यां नैकान्तजडता नोष्मता न तमोलवः ।

निर्दोषां सुप्रकाशाङ्गीं स्तुमस्तामार्हतीं गिरम् ॥ २ ॥

अन्वय-यस्यां न एकान्त जडता न ऊष्मता न तमोलवः तां निर्दोषां सुप्रकाशाङ्गीं आर्हतीं गिरम् स्तुमः ॥ २ ॥

अर्थ-जिस सरस्वतीदेवी में केवल जडता नहीं, उष्मा नहीं, किंचित मात्र तमोगुण नहीं, वह निर्दोष स्वप्रकाशित आर्हती वाणी की हम स्तुति करते हैं ।

विवेचन-सरस्वती को पूर्व में सूर्य-चन्द्र की प्रभा की तरह कहा गया है पर इस श्लोक में सूर्य-चन्द्र की प्रभा से सरस्वती या अहंदवाणी को श्रेष्ठ बताया गया है। चन्द्रमा की प्रभा में जडता एवं सूर्य की प्रभा में उष्मा होती है। पुनः चन्द्रमा एवं सूर्य की प्रभा तो केवल प्रकाश करने वाली है पर यह तो सुप्रकाश करने वाली है। चन्द्रमा में जाड्य है तो सूर्य में उष्मा अर्थात् दोनों में तमोगुण है पर इस अहंद भगवान की वाणी स्वरूपा सरस्वती में तमोगुण का लेश भी नहीं है। चन्द्रमा की प्रभा विरही जन को सन्ताप देनेवाली है और सूर्य तपाने वाला है अर्थात् उनकी प्रभा दोष पूर्ण है पर यह तो निर्दोष है। परमज्योति पंचविशिका में पू० यशोविजयजी महाराज ने ऐसा ही वर्णन आर्हती गिरा का किया है।

सरस्वती में एकान्तिकता नहीं है, वह अनेकान्तवाद व स्याद्वाद का पोषण करने वाली है। उसमें उष्मा अर्थात् क्रोध एवं विवाद का मूल कदाग्रह नहीं है। वह शीतलता से युक्त सतोगुणमयी है, तमोगुण का तो लेश भी उसमें नहीं है क्योंकि

वह श्रुतदेवता है। श्रुत में सम्यक् ज्ञान का समावेश है और ज्ञान सदैव निर्दुष्ट शुद्ध सत्त्व रूप में प्रतिष्ठित है। दोष कर्मावरण से उत्पन्न होते हैं जो आठ प्रकार के हैं। इस ज्ञानमयी देवी को कैवल्यज्ञान स्वरूप भी कह सकते हैं क्योंकि सभी कर्मों के क्षय के कारण यह केवल शुद्ध रूप में विद्यमान होने के कारण निर्दुष्ट है। श्रुतदेवता की स्तुति में कहा गया है:—

सुअदेवया भगवई नाणावरणीअ-कम्म संघायं ।

तेसिं खवेउ सययं जेसिं सुअसायरे भत्ती ॥ १ ॥

श्रुत के द्वादश अंग है। द्वादशांग में समग्र जैनागम का समावेश है और श्रुत की देवता सरस्वती है। इसी की कृपा से श्रुतसागर का पार पाया जा सकता है। यह सरस्वती शब्दब्रह्म एवं परब्रह्ममयी है। ‘ॐ नमः सिद्धम्’ में इसी ज्ञानमयी वागीश्वरी की उपासना की गई है। सिद्धचक्र की उपासना में इसी आर्हती गिर की उपासना है जिसमें तप, क्रिया एवं ज्ञान से अर्हद्वाणी के सार अनेकान्तवाद, सप्तभंगीनय एवं स्याद्वाद का पोषण होता है। इस सिद्धचक्र की उपासना में तपश्चर्या से ऊष्मता एवं तमोगुण का नाश किया जाता है। तत्पश्चात् क्रिया से निर्दुष्टता की ओर प्रयाण एवं ज्ञानोपासना से द्वादशांग का सुप्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। सरस्वती को सुप्रकाशांगी इसलिए कहा गया है कि वह संगीतनादमयी है इसके लौकिक सप्त स्वरों में सप्तभंगीनय अर्थात् ज्ञान सूर्य की सप्तवर्णात्मिका दृष्टि है। इसकी छन्द शास्त्रानुसार ६ मात्राओं में षड्दर्शन का समुच्चय विद्यमान है। फिर यह सरस्वती इसलिए सुप्रकाशांगी है कि यह हमारे शरीर को, आत्मा को ज्ञान से सुप्रकाशित कर ज्ञानमय कर देती है “कमलदल स्तुति” में कहा गया है :—

कमलदलविपुलनयना कमलमुखी कमलगर्भसमगौरी ।

कमले स्थिता भगवती, ददातु श्रुतदेवता सिद्धिम् ॥ १ ॥

कमल हमारी दार्शनिक परम्परा में ज्ञान का प्रतीक है। इस प्रकार सरस्वती का प्रत्येक अंग ज्ञानमय है एवं उससे आलोकित है। ‘कमलदलविपुलनयना’ का अर्थ है कमलदल के समान विशाल नेत्र वाली। नयन इन्द्रियों के प्रतीक हैं और इन्द्रियों को स्पर्श की संज्ञा दार्शनिक जगत में दी गई है। “कादयो मान्ताः स्पर्शाः” के पाणीनीय सूत्र के अनुसार क से म पर्यन्त के २५ व्यञ्जन कमलदल विपुल नयना में आ जाते हैं। सरस्वती का मुख कमल के समान है, उसमें अष्टदल कमल है जिसके अन्तर्गत य र ल व श ष स ह आदि अन्तस्थ एवं ऊष्म आ जाते हैं और ‘कमल गर्भा’ का अर्थ है नाभिकमल, जिसमें अकारादि १६ स्वर हैं। इस प्रकार इस श्रुतदेवता में समग्र शब्द संसार, लौकिक मातृका एवं परामातृका तथा उसका सार रूप अर्ह सन्निविष्ट है। इसीलिए इसे आर्हती गिर कहा गया है।

अध्याय प्रथमः

५

मेघगम्भीरघोषत्वाद्यदीयाऽव्यक्तवर्णता ।

गीतारंभ इवान्वर्थ-दर्शने स्पष्टवर्णता ॥ ३ ॥

अन्वय—यदीया मेघगम्भीर घोषत्वात् अव्यक्त वर्णता गीतारंभ इव अनु अर्थ दर्शने स्पष्ट वर्णता ॥ ३ ॥

अर्थ—इसका अनाहत नाद मेघ गम्भीर घोष के समान है अतः वहाँ इसकी अव्यक्त वर्णता है किन्तु गीतारंभ की भाँति यह अव्यक्त वर्णवाली वाणी पश्चात्गामिनी है एवं जब इसकी सार्थकता पर विचार किया जाता है तो इसकी स्पष्ट वर्णता दृष्टिगोचर होती है ।

विवेचन—यहाँ मेघगम्भीर घोष की बात कह कर अरिहन्त वाणी की ओर संकेत किया है । जिनेश्वर भगवन्त “मेघगम्भीरया गिरा” अर्थात् जलद गम्भीर घोष के साथ ही बोलते हैं । अतः यह अर्हद्वाणी अनाहत नाद स्वरूपा है । योगियों का कथन है कि अनाहत नाद की अनुगुंज मेघों की एवं नगाड़ों की ध्वनि के समान होती है । इस गम्भीर घोष की वर्णमातृका अव्यक्त-अस्पष्ट होती है जिस प्रकार गीतारंभ में वादक केवल स्वर संधान करता है एवं तत्पश्चात् ही वह किसी गीत का तदनुसार संधान करता है वैसे ही यह सरस्वती भी जिनेश्वर भगवन्तों के अनाहत नाद रूप मेघ गम्भीर घोष की अनुवर्तिनी है । स्वर संधान के पश्चात् गीत का भावार्थ, सरलार्थ एवं तात्पर्यार्थ इंगित किया जाता है वैसे ही जब उस अर्हद्वाणी रूप सरस्वती की वर्णमातृका का अर्थदर्शन किया जाता है तो वह लौकिकमातृका में भी प्रकट होती है । अव्यक्तवर्णता एवं व्यक्तवर्णता से यहाँ ‘परब्रह्म’ एवं ‘शब्द ब्रह्म’ का ग्रहण होना चाहिए । इसे ही योगशास्त्र में ‘परामातृका’ एवं ‘वर्णमातृका’ कहा जाता है ।

साध्यक्षा श्रुतदेवीवाऽनुयोगाङ्गचतुर्भुजा ।

आत्मानुशासनाद् ब्राह्मी संविदे हंसगामिनी ॥ ४ ॥

अन्वय—अनुयोगाङ्गचतुर्भुजा सा श्रुतदेवी इव अध्यक्षा (अस्ति) आत्मानुशासनात् ब्राह्मी संविदे च हंसगामिनी (अस्ति) ॥ ४ ॥

श्री अर्हद्गीता

अर्थ—चार अनुयोग* रूपी चार हाथों वाली यह अर्हद्वाणी श्रुतदेवता सरस्वती के समान लौकिक मातृका में एवं आगम में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। आत्मा ही ब्रह्म है एवं उस आत्मा का अनुशासन करने के कारण इसे ही ब्राह्मी कहा जाता है। आत्मा की ज्ञानप्राप्ति के लिए हंसगामिनी अर्थात् प्राण संचारिणी है।

विवेचन—अध्यक्ष का अर्थ है अधि अक्ष यानि आँखों के सामने अर्थात् प्रत्यक्ष। अध्यक्ष—प्रत्यक्ष वह इसलिए है कि वह लौकिक जगत में भी वर्णमातृका के रूप में एवं अर्ह रूप परामातृका के रूप में विद्यमान दिखाई देती है। अध्यक्ष का अर्थ प्रधान भी होता है वह सभी देवियों में इसलिए प्रधान है कि उसी के आधार पर अन्य पदार्थों एवं देवताओं का महत्त्व जाना जाता है अतः सभी धर्मों में इस देवी का महत्त्व गाया गया है। इसी बात का महत्त्व 'पद्मावती स्तोत्र' में प्रतिपादित किया गया है।

तारा त्वं सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता।
गायत्री श्रुतशालिनां प्रकृतिः प्रोक्तासि सांख्यागमे
मातर्भारति ! किं प्रभूतभणितैः व्याप्तं समस्तं त्वया ॥१॥

सरस्वती के चार भुजाएं हैं तो इस अर्हद्वाणी के भी द्रव्यानुयोगादि चार अनुयोग हैं। आत्मा का अनुशासन करने के कारण ब्राह्मी है क्योंकि जीवात्मा भी तो ब्रह्म रूप ही तो है "जीवो ब्रह्मैव नापरः"। ज्ञानोपयोग के क्षेत्र में यह हंस (प्राण) गामिनी (संचारिणी) है अर्थात् यही ज्ञान प्राप्ति की उत्कंठा आत्मा में जागृत करती है एवं उसमें चैतन्य का संचारण यही करती है क्योंकि यह ज्ञान स्वरूपा है।

✓ बृहत्वाद् ब्रह्म सद्ज्ञानं तद् ब्रह्माऽर्हति केवलम् ।
परे ब्रह्मणि निर्माय शिवे सिद्धे स्वरूपतः ॥ ५ ॥

अन्वय—(इयं ज्ञान देवता) स्वरूपतः शिवेसिद्धे ब्रह्म सद्ज्ञानं निर्माय बृहत्वाद् तद् ब्रह्म केवलम् परे ब्रह्मणि अर्हति ॥ ५ ॥

* द्रव्यानुयोग, कथानुयोग, चरणकरणानुयोग एवं गणितानुयोग।

अर्थ—यह ज्ञान देवता अपने शुद्ध स्वरूप से शिव एवं सिद्ध रूप में अवस्थित आत्मा में ब्रह्मभाव का सद्ज्ञान उत्पन्न करती है अतः विशालता के कारण यह भी ब्रह्म स्वरूपा सरस्वती केवल पर ब्रह्म अर्हद् भगवान की वाणी में विलसित हो रही है ।

ब्रह्मास्मिन्निति जीवोऽपि ब्रह्मात्मैव तदाश्रयात् ।
वह्नेराश्रयतोऽङ्गारो वह्निमण्डलमंशुमान् ॥ ६ ॥

अन्वय—अस्मिन् (जीवे) ब्रह्म (अतः) तदाश्रयात् जीवः अपि ब्रह्मात्मा एव । यथा वह्नेः आश्रयतो भङ्गारो अंशुमान् वह्निमण्डलम् (एव) ॥ ६ ॥

अर्थ—जीव में भी ब्रह्म है अतः उसके आश्रय से जीवात्मा भी ब्रह्मात्मा ही है जैसे अग्नि का आश्रयी अंगारा भी देदीप्यमान अग्निमण्डल ही होता है ।

ब्रह्मणा ज्ञायमानोऽर्थः सर्वो ब्रह्माऽभिधीयते ।
तत्तद्विषयिणः शुद्धेर्विषयेऽध्यवसायतः ॥ ७ ॥

अन्वय—विषयिणः तत् तत् शुद्धेः विषये ब्रह्मणा ज्ञायमानः सर्वैः अर्थः अध्यवसायतः ब्रह्म अभिधीयते ॥ ७ ॥

अर्थ—अग्नि का विषय अंगारा भी अग्नि ही है इस न्याय से विषयी (पदार्थ) के उन सभी शुद्ध विषयों में शुद्धज्ञान से (ब्रह्मणा) ज्ञायमान अर्थ भी अध्यवसाय से ब्रह्म ही कहलाता है ।

विवेचन—ब्रह्म द्वारा ज्ञायमान सभी पदार्थ ब्रह्म ही है क्योंकि जिस प्रकार अग्नि एवं अंगारों को अलग नहीं किया जा सकता है अर्थात् उनमें अविनाभाव है वैसे ही ब्रह्म एवं उसके पदार्थ जीव में भी अविनाभाव है वस्तुतः दोनों एक ही हैं । इस न्याय से जीवात्मा (विषय) को भी ब्रह्म (विषयी) के नाम से अभिहित करते हैं । आत्मा सो परमात्मा । दलतया परमात्मा एव जीवात्मा ।

सुधेयमिति चिन्तायां गोचरः सलिलं सुधा ।
राजवाग् विषयोऽप्यर्थो राजवागीयमुच्यते ॥ ८ ॥

अन्वय—इयं सुधा इति चिन्तायां सलिलं सुधा गोचरः । राज-
वाग् विषयः अर्थः अपि राजवागीयं उच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—यह अमृत है ऐसा चिन्तन करने पर जल भी अमृतमय बन
जाता है क्योंकि राजा की वाणी (राजाज्ञा) एवं उसका सम्पादनीय
अर्थ भी राजाज्ञा ही कहा जाता है ।

विवेचन—“भावना फलतीह सर्वत्र” अर्थात् सर्वत्र भावना ही फलवती
होती है जैसी भावना होगी वैसा ही संसार भी परिणमित होगा । अच्छी भावना से
अच्छा संसार तथा निराशात्मिका भावना से संसार निराशामय होगा । अतः भावना
से तो जल भी अमृतमय हो जाता है । कहा है—

पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं ।
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥

(कल्याणमंदिर स्तोत्र)

राजा आदेश भेजता है तो वह आदेशमय पत्र भी राजाज्ञा कहा जाता है ।

वस्तु यत्कर्मविषयस्तत्कर्मादिदिकं स्फुटम् ।
व्यापारविषये भावे व्यापारोऽयमिति स्थितिः ॥ ९ ॥

अन्वय—यत् वस्तु कर्म विषयः तत् स्फुटं कर्मादिदिकम् । (हि)
व्यापार विषये भावे अयं व्यापारः इति स्थितिः ॥ ९ ॥

अर्थ—विषय और विषयी दोनों में अभेद है इसी बात की पुष्टि
आगे करते हैं कि जो वस्तु कर्म का विषय है वह स्पष्ट रूप से कर्म की
ही अर्चना—पूजा है अर्थात् कर्म और कर्म का विषय दोनों एक ही हैं ।
जैसे हम किसी प्रवृत्ति के विषय में सोचते हैं तो वह भी प्रवृत्ति ही
कहलाती है ।

विवेचन—स्पष्ट है जब किसी व्यक्ति ने परदेश जाने के लिए प्रयाण ही
किया है पर पूछने पर लोग यही कहेंगे कि बम्बई गया है ।

अध्याय प्रथमः

९

ब्रह्मणो विषयादेवं यत्सत्तद् ब्रह्म निश्चितम् ।

जीवोऽपि ब्रह्म शुद्धस्य तस्य ब्रह्मपदं शिवम् ॥ १० ॥

अन्वय—एवं ब्रह्मणः विषयात् यत् सत् तत् निश्चितं ब्रह्म । जीव अपि ब्रह्म । शुद्धस्य तस्य शिवम् ब्रह्मपदं (अपि) (निश्चितम्) ॥ १० ॥

अर्थ—इस प्रकार ब्रह्म का विषय होने के कारण संसार में जो कुछ भी सत् (ध्रौव्यात्मक) है वह निश्चित रूप से ब्रह्म है । जीव भी सत् है अतः वह भी ब्रह्म है । जीवात्मा शुद्ध बुद्ध है अतः उसका मोक्ष रूप ब्रह्मपद भी निश्चित है ।

जीवन्मुक्तोऽपि सर्वज्ञः प्रास्तदोषः सुसंवृतः ।

ब्रह्मचर्यपरः साक्षात्परब्रह्मतयोच्यते ॥ ११ ॥

अन्वय—प्रास्तदोषः सुसंवृतः ब्रह्मचर्यपरः जीवन्मुक्तः सर्वज्ञः अपि परब्रह्मतया उच्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—दोषों से रहित अर्थात् घाती कर्मावरण से रहित संवर भाव में स्थित ब्रह्मचर्यपर, जीवन्मुक्त सर्वज्ञ भी परब्रह्म रूप में कहे जाते हैं ।

विवेचन—‘प्रास्तदोषः’ का अर्थ है अस्त हो गए हैं दोष जिनके अर्थात् निर्जराभाव में स्थित ज्ञान दर्शन चारित्र्य युक्त जीवन्मुक्त सर्वज्ञ भी ‘परब्रह्म’ रूप में जाने जाते हैं । वे सयोगी केवली या जीवन्मुक्त केवली होते हैं उनके घाती कर्मों का तो नाश हुआ होता है पर ४ अघाती कर्म भोग्य होते हैं ।

लोकालोकोप्यनन्तत्वाद्ब्रह्मणो ब्रह्मनामभृत् ।

तद्ज्ञानमपि सद्ब्रह्म ह्यग्निज्ञमनुजेऽग्निवत् ॥ १२ ॥

अन्वय—अनन्तत्वात् लोकालोकः अपि ब्रह्मणः ब्रह्मनामभृत् । तद्ज्ञानं अपि सद्ब्रह्म हि अग्निज्ञमनुजे अग्निवत् ॥ १२ ॥

अर्थ—अनन्त होने के कारण लोकालोक भी महान् ब्रह्म नाम को धारण करते हैं। उनका ज्ञान भी सदब्रह्म है। जिस प्रकार अग्नि के उपयोग में स्थित मनुष्यों को भी अग्नि ही माना जाता है वैसे ही ब्रह्म ज्ञान भी ब्रह्म स्वरूप ही होता है।

स्त्रियां स्त्रीवाचको ग्रामः ग्रामाख्या ग्रामवासिनी ।

नष्टो ग्रामो गतो ग्राम इत्याद्याश्रयलक्षणात् ॥ १३ ॥

अन्वय—स्त्रियां स्त्री वाचको ग्रामः, ग्रामवासिनी ग्रामाख्या
नष्टो ग्रामः गतः ग्रामः इत्यादि आश्रयलक्षणात् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस गाँव में स्त्रियाँ का बाहुल्य हो उसे स्त्रियों के गाँव की संज्ञा दी जाती है। वैसे ही ग्राम वासिनी स्त्री को ग्रामाख्या नाम से बुलाते हैं। गाँव नष्ट नहीं हुआ पर उसके आश्रय नष्ट हुए हैं, गाँव नहीं गया पर उसके निवासी गए हैं। इस प्रकार के आश्रय लक्षणों से यह सिद्ध होता है कि संसार में लिंग से भी लिंगी की पहचान होती है।

ज्ञाता ज्ञेयं तथा ब्रह्म ब्रह्मत्रयमपि स्मृतं ।

श्रेष्ठत्वात्परमं ब्रह्म सिद्धोऽर्हन्नाप्तकेवलः ॥ १४ ॥

अन्वय—ज्ञाता ज्ञेयं तथा ब्रह्म ब्रह्मत्रयमपि स्मृतं श्रेष्ठत्वात्परमं
ब्रह्म सिद्धः अर्हन् आप्तकेवलः ॥ १४ ॥

अर्थ—ज्ञाता ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों ही ब्रह्म कहे जाते हैं। इन तीनों में श्रेष्ठ होने के कारण यही परम ब्रह्म हैं, सिद्ध हैं, केवलज्ञानी हैं, अर्हत् है।

विवेचन—तीर्थकर भगवान ही परम ब्रह्म के रूप में स्थित हैं।

तदुक्तार्थानुसारेण सूत्रं तद्गीतमुच्यते ।

तस्यैवार्थस्तु भाष्यादिर्गीतार्थस्तद्विदांवरः ॥ १५ ॥

अन्वय—तत् उक्तार्थानुसारेण तत् सूत्रं गीतं उच्यते। तस्य
अर्थस्तु भाष्यादि विदांवरः गीतार्थः (उच्यते)।

अर्थ—उन अर्हत्तों द्वारा कहे गए सूत्रों को गीत कहा जाता है एवं उसके अर्थ एवं भाष्य आदि को जानने वाले श्रेष्ठज्ञानी गीतार्थ कहे जाते हैं ।

विवेचन—ज्ञानियों को गीतार्थ भी कहा जाता है अर्थात् गीत या सूत्र के अर्थ को जानने वाले आचार्य विद्वान् ।

गीतार्थमननात्पूज्यः श्रीगीतार्थोऽपि सूखिवत् ।

अतः प्रथमतो गीताभ्यास एव विधीयताम् ॥ १६ ॥

अन्वय—श्री गीतार्थोऽपि सूखिवत् अतः गीतार्थ मननात् पूज्यः
अतः प्रथमतः गीताभ्यास एव विधीयताम् ॥ १६ ॥

अर्थ—उन सूत्रों के अर्थ एवं उनके जानने वालों की आचार्यों की तरह प्रतिष्ठा है । अतः उन सूत्रों के अर्थ भाष्यादि का मनन करने से साधक भी पूज्य बन जाता है । इसीलिए साधक को सर्व प्रथम गीताभ्यास या सूत्रों का अभ्यास कराना चाहिए अथवा ज्ञान—मार्ग की ओर प्रवृत्त होना चाहिए ।

[ऋष्यादि]

ऋषिः—ॐ अस्य श्री अर्हद्गीताख्यपरमागमबीजमंत्ररूपस्य
सकलशास्त्ररहस्यभूतस्य श्री गौतम ऋषिः ॥

छंदः—अनुष्टुप् छंदः ॥

देवता—श्री सर्वज्ञो जिनः परमात्मा देवता ॥

बीजं —‘प्राप्तेऽपि नृभवे यत्नः, कार्यः प्राणभृता तथा ’ इति
बीजं ॥

शक्तिः—‘येनात्मात्मन्यवस्थाता तद्वैराग्यं प्रशस्यते’ इति शक्तिः॥

कीलकं—‘ अमुक्तोऽपि क्रमान्मुक्तो निश्चयात्स्यादनिच्छया ’
इति कीलकं ।

[करन्यासः]

- ‘ अनिच्छुर्विषयासक्तोऽप्याध्यात्मिक शिरोमणिः ’
इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः ।
- ‘ यतिर्योगी ब्राह्मणो वाऽपीच्छावान्नात्मबोधकः ’ —
इति तर्जनीभ्यां नमः ॥
- ‘ आध्यात्मिकं तारतम्यमिच्छाविजयतः क्रमात् ’—
इति मध्यमाभ्यां नमः ।
- ‘ अज्ञानं मोहमेवाहुस्तस्माद्दिच्छा ततो भवः ’
इत्यनामिकाभ्यां नमः ॥
- ‘ इच्छयानिच्छयाऽपि स्यात्क्रियैकापि स्वरूपतः ’
इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥
- ‘ मुख्यैव कर्मबंधाय निर्जरायै परा पुनः ’
इति करतलपृष्ठाभ्यां नमः ॥

[षडङ्गन्यासः विनियोगश्च]

- ‘ अनिच्छुर्विषयासक्त ’ इति हृदयाय नमः ।
- ‘ यतिर्योगी ब्राह्मणो वा ’ इति शिरसे स्वाहा ॥
- ‘ आध्यात्मिकं तारतम्यं ’ इति शिखायै वषट् ॥
- ‘ अज्ञानं मोहमेवाहुः ’ इति कवचाय हूं ॥
- ‘ इच्छयानिच्छयाऽपि स्यात् ’ इति ज्ञानादि नेत्रत्रयाय
संवौषट् ॥

‘मुख्यैव कर्मबंधाय’ इति अस्त्राय फट् ॥

श्रीजिनेश्वरप्रीत्यर्थं जपे विनियोगः ॥

ॐ सकल शास्त्र रहस्य भूत इस श्री अर्हद्गीता रूप परम आगम बीजमंत्र के ऋषि गौतम हैं, छन्द अनुष्टुप है, श्री सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् देवता हैं। मनुष्य जन्म को प्राप्त कर प्राणधारियों को इसके लिए यत्न करना चाहिए — यह इसका बीज है। इससे आत्मा में स्थित वैराग्य भावना प्रशस्त हो यह इसकी शक्ति है। संसारी बद्ध जीव भी इसके आश्रय से ही निश्चय ही क्रमशः मुक्त हो यह इस मंत्र का कीलक है। विषयासक्त भी निष्काम एवं आध्यात्मिक शिरोमणि हो अंगुष्ठ मुद्रा से नमस्कार। यति योगी अथवा ब्राह्मण भी इच्छावान् आत्म बोधक हो तर्जनी मुद्रा से नमस्कार। क्रमशः इच्छा पर विजय प्राप्त करने से आध्यात्मिक तरतमता प्राप्त हो—मध्यमा अंगुलि मुद्रा से नमस्कार। अज्ञान ही मोह है उसी से इच्छा एवं इच्छा से ही संसार पैदा होता है — अनामिका अंगुलि मुद्रा से नमस्कार। इच्छा अथवा अनिच्छा से एक क्रिया भी स्वरूप से हो — कनिष्ठिका अंगुलि मुद्रा से नमस्कार। जगद्विद्या कर्म-बन्धन के लिए व पराविद्या निर्जरा के लिए दोनों हथेलियों की मुद्रा से नमस्कार।

अनिच्छुक या विषयासक्त को हृदय से नमस्कार करना चाहिए। यति योगी अथवा ब्राह्मण को शिर से स्वाहा। आध्यात्मिक तरतमता को शिखा से वषट्। अज्ञान को ही मोह कहते हैं — कवच के लिए हूँ। इच्छा अनिच्छा से भी हो तो भी ज्ञानादि (ज्ञान दर्शन चारित्र्य) तीन नेत्रों के लिए संवौषट्। मुख्य (जगद्विद्या — यज्ञ आदि) कर्म बंधन के लिए हैं अतः अस्त्र के लिए फट्। इस प्रकार जिनेश्वर देव की प्रीति के लिए जप में विनियोग है।

[ध्यानम्]

(शार्दूलविक्रीडितम्)

श्रीवीरेण विबोधिता भगवता श्रीगौतमाय स्वयं ।
सूत्रेण ग्रथितेन्द्रभूतिमुनिना सा द्वादशांग्यां पराम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीं षट्त्रिंशद्ध्यायिनीं
मातस्त्वां मनसा दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥

अन्वय—श्रीवीरेण भगवता स्वयं गौतमाय विबोधिता, इन्द्र-भूतिमुनिना सा सूत्रेण ग्रथिता द्वादशांग्यां पराम् अद्वैतामृतवर्षिणीं षट्त्रिंशद्ध्ययिनीं भवद्वेषिणीं त्वां मातः भगवद्गीते मनसा दधामि ॥

अर्थ—श्रमण भगवान् महावीर द्वारा स्वयं उपदेशित, इन्द्रभूति गौतमस्वामी द्वारा सूत्र रूप में लिखी हुई, द्वादश अंगों से पूर्ण, आत्मा परमात्मा के अद्वैत—अभेद की अमृत वर्षा करने वाली, छत्तीस अध्यायों-वाली संसार के आवागमन के चक्र का समूलोच्छेदन करने वाली हे माता अर्हद्वाणी तुम्हें मैं मन से धारण करता हूँ ।

॥ इति परसमयमार्गपद्धत्या शास्त्रप्रज्ञाश्रुतदेवतावतारः ॥

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः

अर्हन्तं श्रमणं वीरं भगवन्तं नमन् जगौ ।

तस्मिन् कालेऽथ समये 'चंपायां' गौतमो गणी ॥ १ ॥

अन्वय—अथ तस्मिन् काले समये चंपायां गौतमो गणी श्रमणं भगवन्तं वीरं अर्हन्तं नमन् जगौ ॥ १ ॥

अर्थ—उस काल में एक अवसर पर चम्पा नगरी में गौतम गणधर ने अर्हत स्वरूप श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार करते हुए पूछा ।

श्री गौतम उवाच

देवाधिदेव भगवन् लोकालोकप्रकाशक ! ।

योगिनोऽपि मनो वश्यं जायते तद्ब्रदाधुना ॥ २ ॥

अन्वय—हे देवाधिदेव ! लोकालोकप्रकाशक भगवन् ! योगिनः अपि मनः वश्यं जायते तत् अधुना वद ॥ २ ॥

अर्थ—हे देवाधिदेव ! लोकालोक प्रकाशक भगवन् । आज मुझे वह विधि बताइए जिससे योगी लोग का मन भी वश होता है ।

अध्याय प्रथमः

१५

श्री भगवानुवाच

प्राप्तेऽपि नृभवे यत्नः कार्यः प्राणभृता तथा ।

परमेष्ठिपदं येन लभ्यतेऽत्राऽपुनर्भवम् ॥ ३ ॥

अन्वय—नृभवे प्राप्तेऽपि प्राणभृता तथा यत्नः कार्यः येन अत्र अपुनर्भवं परमेष्ठिपदं लभ्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—मनुष्य योनि प्राप्त कर भी प्राणधारियों को वैसा यत्न करना चाहिए जिससे इस संसार में मुक्त परमेष्ठिपद की प्राप्ति हो ।

विवेचन—यहाँ 'प्राप्तेऽपि नृभवे' में 'अपि' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि मानव जीवन बहुत मूल्यवान है एवं उससे बहुत से लोग सन्तुष्ट हो जाते हैं अतः यह कहा गया है कि मनुष्य भव की प्राप्ति होने के बावजूद भी जीवधारियों को मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए । परमेष्ठि पद यानि मुक्तावस्था कैसी है ? इस पर विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि वह पुनर्जन्म से रहित है ।

हेतुस्तस्य पुनर्ज्ञानं वैराग्यजनकं क्रमात् ।

तद्ज्ञानं प्रथमं गीताभ्याससाध्यं पशोरपि ॥ ४ ॥

अन्वय—पुनः ज्ञानं तस्य (परमेष्ठिपदस्य) हेतुः क्रमात् वैराग्य जनकं (च) तद्ज्ञानं पशोः अपि प्रथमं गीताभ्याससाध्यं (अस्ति) ॥ ४ ॥

अर्थ—परमेष्ठिपद मानव जीवन का चरम लक्ष्य है एवं उसकी प्राप्ति का कारण ज्ञान है जो अनुक्रम से वैराग्य भावना का जनक है । परमेष्ठिपद की प्राप्ति में सहायक यह ज्ञान भी पशुभाव में स्थित प्राणियों को भी गीताभ्यास से साध्य है ।

विवेचन—ज्ञानोपयोग ही संसार से विरक्ति का मूल हेतु है । यह ज्ञानोपयोग गीताभ्यास रूप तत्त्वज्ञान से साध्य है ।

मनोदमनकृद्गीताभ्यासो हि शिवसाधनम् ।

इच्छाविनाशाद् द्रव्याणां पर्यायपरिभावनैः ॥ ५ ॥

**अन्वय—द्रव्याणां पर्यायपरिभावनैः इच्छाविनाशाद् मनोदमन-
कृद् गीताभ्यासो हि शिवसाधनम् ॥ ५ ॥**

अर्थ—द्रव्यों के पर्याय हैं एवं पर्याय के बिना द्रव्य नहीं है, द्रव्य उत्पाद व्यय एवं प्रौढ्यात्मक है वह सत् है, उसके पर्याय (परिणाम) बदलते रहें पर वह शाश्वत है ऐसी भावना से आत्म-निष्ठ भावना परिपुष्ट होती है एवं संसार से विरक्ति हो इच्छा का विनाश हो जाता है । अतः द्रव्यों (षड्द्रव्यों) एवं उनके पर्याय (परिणाम) भावना पर विचार करने से संसार के प्रति आसक्ति कम हो जाती है और यह काम गीताभ्यास से साध्य है उसमें षड्द्रव्य का खूब विवेचन किया गया है अतः प्राणियों के लिए गीताभ्यास मोक्ष का साधन है ।

विवेचन—यह गीता द्रव्य परिणाम पर आलोचन प्रत्यालोचन करने के कारण मन का दमन करनेवाली है एवं मन ही मनुष्यों के बन्ध एवं मोक्ष का कारणभूत है । द्रव्यों के परिणाम की परिभावना से द्रव्य के सत् रूप के प्रकट होने से संसार के प्रति अनासक्ति-विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है ।

जायते पवनाभ्यासाज्जाड्यमैहिकसिद्धये ।

देवाः सागरसंख्यानैरानपानैर्न मुक्तिगाः ॥ ६ ॥

**अन्वय—पवनाभ्यासात् जाड्यं ऐहिकसिद्धये जायते सागर
संख्यानैः आनपानैः देवाः न मुक्तिगाः ॥ ६ ॥**

अर्थ—पूर्व में मन का दमन करने की बात कही गई है । मन का दमन कर उसकी चञ्चलता का अपहार कर स्थिरता प्राप्त करने के लिए प्राणायाम भी किया जाता है परन्तु प्राणायाम से जो मानसिक जडता प्राप्त होती है वह मात्र सांसारिक सिद्धियों को देने वाली है । उससे पारलौकिक सिद्धि या परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती है । सागरोपमसंख्या के आयुष्य वाले देवता दीर्घकालीन कुम्भकरूप प्राणायाम करने पर भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके हैं ।

अध्याय प्रथमः

अ. गी.-२

१७

विवेचन—देवों का उत्कृष्ट आयुष्य ३३ सागरोपमसंख्या में माना गया है उनका यह नियम है कि जितने सागरोपम का उनका आयुष्य होता है उतने प्रखवाड़े में एक श्वासोच्छ्वास लेते हैं अर्थात् उनका कुम्भक दीर्घ होता है जो प्राणायाम का ही रूप है ।

सूक्ष्माः स्युः प्राणसंचारा-स्तथैकेन्द्रियदेहीनाम् ।

बाह्यस्तु तेषां पवनाभ्यास एव न केवलः ॥ ७ ॥

अन्वय—तथा एकेन्द्रियदेहीनां (अपि) प्राणसंचाराः सूक्ष्माः स्युः (अतः) पवनाभ्यासः तु बाह्य एव तेषां (मुक्त्यर्थं) पवनाभ्यास एव न केवलः ॥ ७ ॥

अर्थ—यदि प्राणायाम से प्राणों को सूक्ष्मत्व प्रदान कर दिया जाता हो तो वैसा सूक्ष्मत्व एकेन्द्रिय देहधारियों में है । उनमें प्राणों का संचरण सूक्ष्म है पर वे मुक्त नहीं हैं । अतः पवनाभ्यास तो केवल बाह्य वस्तु है अतः जीवों की मुक्ति के लिए केवल पवनाभ्यास ही सब कुछ नहीं है ।

विवेचन—पवनाभ्यास के साथ शुद्ध ज्ञानोपयोग से ही मुक्ति की आकांक्षा की जा सकती है ।

तथापि न कथा मुक्तेरेषां पुद्गलसंग्रहात् ।

भयाहारादिसंज्ञाभिः स्थावराणां भवभ्रमः ॥ ८ ॥

अन्वय—तथापि पुद्गलसंग्रहात् एषां स्थावराणां भयाहारादि-संज्ञाभिः भवभ्रमः (विद्यते) न कथा (च) मुक्तेः ॥ ९ ॥

अर्थ—तथापि कर्म संग्रह के कारण इन स्थावर एकेन्द्रिय जीवों को भी भय, आहार आदि संज्ञाओं के कारण संसार परिभ्रमण करना पड़ता है एवं इनकी मुक्ति की तो बात भी नहीं की जा सकती है ।

विवेचन—जब तक पुद्गल का संग्रह होगा तब तक किसी भी प्राणी की मुक्ति नहीं हो सकती है । स्थावर जीव तो ऐसे हैं कि जिनमें सुख प्राप्त करने की गति चेष्टा भी दिखाई नहीं पड़ती है । उनमें मन भी नहीं होता है ।

भवेद् ज्ञानान्मनोऽनिच्छं भावोऽनित्यादिभावेनात् ।

शिवाय शाश्वतो ध्येयः स्वभावः परमात्मनः ॥ ९ ॥

अन्वय—ज्ञानात् मनः अनिच्छं भवेत् अनित्यादि भावेनात् भावः
(भवेत्) (अतः) शिवाय परमात्मनः शाश्वतः स्वभावः ध्येयः ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोग से मन निष्काम बनेगा एवं अनित्यादि बारह भावनाओं तथा मैत्र्यादि ४ भावनाओं को भावना से अन्तिम माध्यस्थ्य भाव का प्रस्फुरण होगा । अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये परमात्मा के शाश्वत स्वभाव का ध्यान करना चाहिए ।

विवेचन—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्मस्वारख्यात, लोकस्वरूप, बोधि-दुर्लभ ये १२ भावनाएँ हैं । मैत्री, प्रमोद करुणा एवं माध्यस्थ्य ये चार भावनीय भाव हैं । परमात्मा के शाश्वत स्वभाव का ध्यान करने का तात्पर्य है शाश्वत स्वरूपपरमणता अथवा आत्मनिष्ठ होना क्योंकि निश्चय दृष्टि से परमात्मा ही आत्मा है ।

इदमाध्यात्मिकं तत्त्वं परमैश्वर्यलक्षणम् ।

पन्था मृत्युञ्जयस्यायं शिवस्यावश्यमात्मनाम् । १० ॥

अन्वय—इदं आध्यात्मिकं तत्त्वं परमैश्वर्यलक्षणम् । आत्मनाम्
मृत्युञ्जयस्य शिवस्य अयं पन्था अवश्यम् ॥ १० ॥

अर्थ—यह आध्यात्मिक तत्त्व परमैश्वर्य का लक्षण है एवं आत्मा की अमरता तथा उसके मोक्ष के लिए यह सुनिश्चित मार्ग है ।

विवेचन—आत्मा का चिन्तन मनन एवं निदिध्यासन परमात्म-भाव में रमण है क्योंकि आत्मा में परमात्मा है । यदि आत्म-भावना को निष्कृष्ट भाव से भावित किया जाय तो अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होगी क्योंकि आत्मा के परमात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का यह भी मार्ग है । कहा गया है “आत्मानं विद्धि” “अयमेव पन्थाः” । “नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः” ।

तावान् कपायविषय-हेतुर्यस्य परिग्रहः ।

तस्यापि भरतस्याऽभूत् कैवल्यमात्मभावेनात् ॥ ११ ॥

अध्याय प्रथमः

१९

अन्वय—यस्य कषाय विषय हेतुः तावान् परिग्रहः तस्यापि
भरतस्य आत्मभावनात् केवल्यं अभूत् ॥ ११ ॥

अर्थ—भरत चक्रवर्तीजी के विषय कषाय का कारणभूत कितना
अधिक प्रमाण में परिग्रह था पर केवल आत्मभावना से उन्हें केवल-
ज्ञान प्राप्त हो गया ।

विवेचन—श्री ऋषभदेव भगवान् के सबसे बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती अपने
आरीसा भुवन में अपने वस्त्राभूषित शरीर को निरख रहे थे। उस समय एक
अंगुली से एक अंगूठी गिर पड़ी उन्हें यह लगा कि अंगुलि शोभारहित हो गई है
उन्होंने एक एक कर सारे गहने उतार दिए एवं यह भावना की कि संसार में जो
कुछ आँखों से देखा जा रहा है वह अनित्य है। नित्य तो केवल आत्मा है और
उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ।

येनात्मात्मन्यवस्थाता तद्वैराग्यं प्रशस्यते ।

आत्मैव ह्यात्मना वेद्यो ज्ञानात् शिवमयोऽव्ययः ॥ १२ ॥

अन्वय—येन आत्मा आत्मनि अवस्थाता तत् वैराग्यं प्रशस्यते
आत्मना हि आत्मा वेद्यो । शिवमयः अव्ययः ज्ञानात् एव ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा आत्मा को आत्मनिष्ठ बनाया जाय अथवा
जिसके द्वारा आत्मा स्वरूपानुसंधान करे उसे ही उच्च वैराग्य कहा जाता
है। संसार में आत्मा से ही आत्मा को जानना चाहिए और आत्मा को
मोक्षमय अव्यय परमात्मपद केवल इसी आत्मज्ञान से ही होगा ।

विवेचन—वैराग्य का अर्थ है कि यह आत्मा को बाह्य वस्तुओं से विरमित
कर अन्तर्मुखी करे। आत्मा में अन्तर्दर्शन से ही आत्म भावना की सिद्धि, लब्धि,
अनुभूति होगी। क्योंकि कहा गया है “उद्धरेदात्मनात्मानम्” अपना उद्धार
स्वयं करो अर्थात् अपने आपको पहचानो ।

अज्ञानात्केचन प्राहुर्मुक्तिं केचित्तपोबलात् ।

भजनात्केवलात्केचिद्व्यं चाध्यात्मभावनात् ॥ १३ ॥

अन्वय—केचन अज्ञानात् मुक्तिं प्राहुः, केचित् तपोबलात्,
केचित् भजनात् केवलात्, वयं च आध्यात्मभावनात् ॥ १३ ॥

अर्थ—संसार में कुछ लोग केवल ज्ञान शून्य हो जाने को मुक्ति कहते हैं तो कुछ केवल तपोबल से मुक्ति प्राप्ति की बात करते हैं। कुछ सम्प्रदाय तो केवल भक्ति योग से ही मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं पर हम (जैन दर्शन में) अध्यात्म भावना से ही मुक्ति प्राप्ति की बात कहते हैं।

विवेचन—यहाँ केवल शब्द से यह संकेत दिया है कि जैन दर्शन एकांगीनय वाला नहीं है। वह स्याद्वाद पर आधारित है क्योंकि अध्यात्म भावना के अन्तर्गत ज्ञान दर्शन (भक्तिश्रद्धा) एवं तप तीनों का समावेश हो जाता है।

शास्त्रानुवादादध्यात्म कथनान्नात्मभावनम् ।

नेच्छाद्युपरमो यावत्तावन्नाध्यात्मिको जनः ॥ १४ ॥

अन्वय—शास्त्रानुवादात् अध्यात्म कथनात् न आत्मभावनम् । यावत् इच्छादि उपरमः न तावत् जनः आध्यात्मिको (भवति) ॥ १४ ॥

अर्थ—केवल शास्त्रों के पठन पाठन तथा प्रशंसा से एवं अध्यात्म की बात करने से ही आत्मभावना का विकास नहीं होता है। व्यक्ति तभी आध्यात्मिक होता है जब कि उसकी इच्छादि संसार भावनाओं का विराम होता है।

अनिच्छुर्विषयासक्तोऽप्याध्यात्मिकशिरोमणिः ।

यतियोगी ब्राह्मणो वापीच्छावान्नात्मबोधकः ॥ १५ ॥

अन्वय—विषयासक्तोऽपि अनिच्छुः आध्यात्मिकशिरोमणिः । इच्छावान् यतिः योगी ब्राह्मणो वापि आत्मबोधकः न ॥ १५ ॥

अर्थ—विषयों में अवस्थित पुरुष भी यदि निष्काम भाव युक्त हो तो वह आध्यात्मिक पुरुषों में श्रेष्ठ गिना जाता है। यति योगी अथवा ब्राह्मण भी यदि इच्छावान् हो तो वह आत्मज्ञानी नहीं माना जाता है।

विवेचन—

तुलना कीजिए

यदा मरुन्नरेन्द्रश्रीस्त्वया नाथोपभुज्यते,

यत्र तत्र रतिर्नाम विरक्तत्वं तदापि ते ।—“ वीतराग स्तोत्र ”

मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वजगदेव परिग्रहः ।

मूर्च्छयारहितानां तु जगदेवापरिग्रहः ॥

अध्याय प्रथमः

२१

आध्यात्मिकं तारतम्यमिच्छाविजयतः क्रमात् ।
गुणस्थानानि तेनैव प्रोचुरुच्चावचान्यपि ॥ १६ ॥

अन्वय—इच्छाविजयतः क्रमात् आध्यात्मिकं तारतम्यं (प्राप्यते)
तेन एव उच्चावचानि गुणस्थानानि अपि प्रोचुः ॥ १६ ॥

अर्थ—इच्छा पर विजय प्राप्त करने से ही क्रमशः आध्यात्मिक
तरतमता प्राप्त की जाती है उसी से ही उँचे एवं नीचे के गुणस्थानक भी
कहे गए हैं ।

विवेचन—इच्छा की सघनता से नीचे के गुणस्थान एवं इच्छा की विरलता
से क्रमशः ऊँचे ऊँचे गुणस्थानकों में आत्मा का प्रवेश होता है ।

अमुक्तोऽपि क्रमान्मुक्तो निश्चयात्स्यादनिच्छया ।
अज्ञानं मोहमेवाहुस्तस्मादिच्छा ततो भवः ॥ १७ ॥

अन्वय—अनिच्छया अमुक्तः अपि क्रमात् मुक्तः निश्चयात् स्यात् ।
अज्ञानं मोहं एव आहुः तस्मात् इच्छा ततः भवः ॥ १७ ॥

अर्थ—निष्काम भाव से अर्थात् कामना रहित व्यक्ति बद्ध होने पर
भी क्रमशः निश्चय रूप से मुक्त हो जाता है । अज्ञान ही मोह है एवं
मोह से इच्छा तथा उसी से फिर संसार भ्रमण होता है ।

इच्छयानिच्छयापि स्यात् क्रियैकापि स्वरूपतः ।
मुख्यैव कर्मबन्धाय निर्जरायै परा पुनः ॥ १८ ॥

अन्वय—इच्छया अनिच्छया अपि एका क्रिया स्यात् स्वरूपतः
मुख्या कर्मबन्धाय एव पुनः परा निर्जरायै (स्यात्) ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि एक ही प्रवृत्ति इच्छा या अनिच्छा से हो तो पहली
इच्छा से हुई प्रवृत्ति कर्म—बन्धन का कारण बनती है एवं दूसरी अनिच्छा
से हुई प्रवृत्ति निर्जरा का कारण बनती है ।

विवेचन—इच्छा ही संसार में दुःख का मूल कारण है। इच्छा से किसी भी काम में प्रवृत्ति दुःख परिणामी एवं बन्ध परिणामी होती है। निष्काम भावना से हुई प्रवृत्ति में संवर भाव निहित है। अतः उससे कर्म निर्जरा होती है। इच्छा आस्रव है एवं अनिच्छा मोक्ष है। वीतराग स्तोत्र में कहा गया है :—

आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् ।

कैवल्यायात्मनो ज्ञानं ध्यानं वस्तुविरागता ।

भवायानात्मनो ज्ञानं ध्यानं वस्तुविरागता ॥ १९ ॥

अन्वय—आत्मनः ज्ञानं कैवल्याय, वस्तुविरागता ध्यानं, अनात्मनः ज्ञानं भवाय ध्यानं वस्तुविरागता ॥ १८ ॥

अर्थ—आत्मज्ञान केवलज्ञान का कारण है। वस्तुविरक्ति ध्यान का साधन है और अनात्मा का चिन्तन संसार का कारण है बाह्य वस्तु से विरक्त हो आत्म वस्तु में ध्यान लगाना श्रेयस्कर है।

आध्यात्मिको विरक्तः स्यात्तदेवाध्यात्मलक्षणम् ।

कषायविषयैर्वान्तिः स्यादध्यात्मसुधारसे ॥ २० ॥

अन्वय—आध्यात्मिकः विरक्तः स्यात् तत् एव अध्यात्मलक्षणम् । अध्यात्मसुधारसे कषाय विषयैः वान्तिः स्यात् ॥ २० ॥

अर्थ—जब आध्यात्मिक ज्ञान का यही लक्षण है कि उसके होने पर आत्मा विरक्त हो जाती है एवं उस अध्यात्म सुधारस का पान करते हुए विषय कषायों की उल्टी हो जाती है अर्थात् विषय एवं कषायों की आत्मा वमन कर देती है।

विवेचन—वैराग्य ही अध्यात्म का लक्षण है। आत्मज्ञानवान् व्यक्ति कषायों एवं विषयों से सदा विमुख रहता है उनकी तरफ दृष्टिपात भी नहीं करता।

औदासिन्यात्प्रवृत्तिः स्याद् ज्ञानिनो निर्जरास्पदम् ।

तत्त्वज्ञानादतो मुक्तिं जगुर्नैयायिकाः जिनाः ॥ २१ ॥

अध्याय प्रथमः

२३

अन्वय-ज्ञानिनः औदासिन्यात् निर्जरास्पदम् प्रवृत्तिः स्यात् ।
तत्त्वज्ञानात् नैयायिकाः जिनाः अतः मुक्तिं जगुः ॥ २१ ॥

अर्थ-ज्ञानियों की रागरहित अनासक्त अवस्था से कर्मनिर्जरा में प्रवृत्ति होती है इसी तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) से फिर मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा जिनेश्वर भगवन्तों ने कहा है ।

विवेचन-वैराग्य का नाम ही औदासिन्य है। इसे ही योग में उन्मनी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में साधक बाह्य संसार से विमुख होकर आत्मोन्मुख होता है।

॥ इति अर्हद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



अध्याय दूसरा

शाश्वत आत्मज्योति

[गौतमस्वामी ने भगवान महावीर से पूछा है कि हे भगवान् ! अनादि सिद्ध अरिहंत पद की धारक आत्मज्योति को कैसे प्रकट किया जाय ? श्री भगवान ने धीर गम्भीर वाणी में उत्तर दिया कि आत्मा का लक्षण ज्ञान है, इसी ज्ञान के बल पर आत्मा मोहरूप अज्ञानान्धकार से मुक्त होती है। यही ज्ञान आत्मज्योति का प्रकाशक है इसे केवलज्ञान कहते हैं। ज्ञानाभ्यास में सदगुरु के उपदेशों का श्रवण एवं मनन बहुत सहायक होते हैं। जगत में सर्वप्रथम लोग अपने बालकोंको विद्याभ्यास करवाते हैं। विद्या के बल पर ही संसार में हेय एवं उपादेय स्वरूपा विवेकी दृष्टि उत्पन्न होती है। शास्त्रपाठी नहीं किंतु मोहसे मुक्त होने वाला ही ज्ञानी है अन्य धूर्त हैं। इस दुर्लभ मनुष्य जीवन में सद्ज्ञान का बड़ा महत्त्व है। इस सद्ज्ञान में सर्वोत्तम है केवलज्ञान। इसी केवलज्ञान से आत्मा सर्वज्ञ एवं सम्यक्दृष्टि होती है। इसे आत्मज्योति का प्रकाश कहते हैं।]



अध्याय-२

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रं ज्योतिर्जगज्ज्येष्ठं श्रेष्ठं केवलमुज्ज्वलम् ।

सिद्धमार्हत्यमात्रिभ्रत् कथं तत्प्रकटीभवेत् ॥ १ ॥

अन्वय-सिद्धं आर्हत्यं आविभ्रत् जगज्ज्येष्ठं श्रेष्ठं केवलं उज्ज्वलं
(यत्) ऐन्द्रं ज्योतिः तत् कथं प्रकटीभवेत् ॥ १ ॥

अर्थ-श्री गौतमस्वामी ने पूछा हे भगवन् ! अनादि सिद्ध अरिहन्त पद को धारण करने वाली संसार में सबसे बड़ी सर्वश्रेष्ठ एवं केवल जो उज्ज्वल ही है ऐसी परमात्म ज्योति कैसे प्रकट होती है ।

विवेचन-यहाँ आत्मा के ज्ञान प्रकाश को संसार की समस्त ज्योतियों से श्रेष्ठ बताया गया है ।

श्री भगवानुवाच

परमैश्वर्यभागिन्द्रः शान्तं कान्तं च तन्महः ।

ज्ञानलक्षणमाप्नातं ख्यातं धर्मपदेन तत् ॥ २ ॥

अन्वय-इन्द्रः परमैश्वर्यभाक् शान्तं कान्तं च तन्महः ज्ञानलक्षणं
आप्नातं तत् धर्मपदेन ख्यातम् ॥ २ ॥

अर्थ-आत्मा परमेश्वर के ऐश्वर्य से युक्त है तथा उसकी ज्योति शान्त तथा कान्त है । ज्ञान उसका प्रसिद्ध लक्षण कहा गया है एवं धर्म मार्ग में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा है । एवं धर्मपद से वह प्रसिद्ध है ।

विवेचन-'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' में ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए
'उपयोगो लक्षणम्' कहा गया है । अर्थात् ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है ।

ज्ञानं धर्मस्तस्य धर्मी परमात्मेति गीयते ।

मोहरूपाज्ञानमुक्तः ऐन्द्रं ज्योतिः स्फुटं भवेत् ॥ ३ ॥

अन्वय—ज्ञानं धर्मः तस्य धर्मी परमात्मा इति गीयते । मोहरूप
अज्ञानमुक्तः ऐन्द्रं ज्योतिः स्फुटं भवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—ज्ञान ही धर्म है एवं उसके धर्मी आत्मा का ही परमात्मा रूप
में गायन किया जाता है जब यह आत्मा मोहरूपी अज्ञान से मुक्त हो
जाती है तो इसमें परमेश्वर का प्रकाश प्रकट होता है ।

इन्द्र आत्मा तदन्वेष्टा श्रवणान्मननाद्गुरोः ।

ध्यानेन साक्षात्कारेण स हि श्रावक उच्यते ॥ ४ ॥

अन्वय—गुरोः श्रवणात् मननात् तत् अन्वेष्टा आत्मा इन्द्रः ।
ध्यानेन साक्षात्कारेण स (आत्मा) हि श्रावक उच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—गुरु के वचनों को सुनने व उन पर मनन करने के कारण
उस परमात्मा का अन्वेषण करने वाला आत्मा ही परमात्मा है । उसी
आत्मा का ध्यान एवं परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला श्रावक कहा
जाता है ।

विवेचन—गुरु वचन को सुनकर उस पर मनन कर एवं आत्म साक्षात्कार
करनेवाला आत्मा ही परमात्मा है ।

यच्चिह्नमिन्द्रियं लोके ज्ञेया तेनेन्द्रतात्मनि ।

तज्ज्योतिश्चेत्प्रसन्नं स्यान्नश्येत्तर्हि तमोभरः ॥ ५ ॥

अन्वय—लोके इन्द्रियं यत् चिह्नं तेन आत्मनि इन्द्रता ज्ञेया ।
तत् ज्योतिः चेत् प्रसन्नं स्यात् तर्हि तमोभरः नश्येत् ॥ ५ ॥

अर्थ—संसार में इन्द्रियाँ जिसका चिह्न है उसे इन्द्र कहा जाता है
अर्थात् आत्मा ही इन्द्र है । आत्मा में परमात्मा को जानना चाहिये । यदि
आत्मा की वह ज्ञान ज्योतिः स्फुरित हो जाय तो अज्ञानान्धकार नष्ट हो
जाता है ।

विवेचन—इन्द्रिय के यहाँ दो अर्थ है—आत्म सम्बन्धी एवं इन्द्रिय सम्बन्धी ।
चिह्न के भी दो अर्थ है लक्षण एवं कार्य । आत्म-ज्योति के प्रसन्न होने का अर्थ है
विकसित होना क्योंकि प्रसन्नता ही विकास का कारण है ।

ऐन्द्रं ज्योतिर्नतास्त्विन्द्राः शक्रचक्रभृतोऽधिपाः ।
इन्द्रानुजार्कचन्द्राद्या मणयो जगदम्बुधौ ॥ ६ ॥

अन्वय—शक्र चक्रभृतः अधिपाः इन्द्राः तु ऐन्द्रं ज्योतिः नताः
इन्द्रानुजार्कचन्द्राद्या जगदम्बुधौ मणयः ॥ ६ ॥

अर्थ—इन्द्र पदवी को धारण करने वाले, चक्रवर्ती राजेन्द्र भी इस
आत्म ज्योति के समक्ष नतमस्तक होते हैं। इन्द्र, सूर्य एवं चन्द्र तो संसार
सागर में ही महत्त्व रखते हैं पर आत्म ज्योति के समक्ष वे निस्तेज हैं।

जीवयोनिषु मानुष्यं मुख्यं तत्र सुबोधिता ।

तत्रापि केवलं ज्ञानं तच्चित्तं परमर्हति ॥ ७ ॥

अन्वय—जीवयोनिषु मानुष्यं मुख्यं तत्र सुबोधिता तत्रापि केवलं
ज्ञानं तच्चित्तं परं अर्हति ॥ ७ ॥

अर्थ—समस्त जीवयोनियों में मनुष्य जन्म प्रधान है, मनुष्य जन्म में
सद्ज्ञान का महत्त्व है एवं सद्ज्ञान में केवलज्ञान मुख्य है और वह
केवलज्ञान भी अर्हद् भगवान में है।

क्षणिकं विद्युतस्तेजो दीपे मौहूर्तिकं च तत् ।

घस्त्रे दैवसिकं धिष्ण्ये रात्रिकं पाक्षिकं विधौ ॥ ८ ॥

अन्वय—विद्युतः तेजः क्षणिकं दीपे च तत् तेजः मौहूर्तिकं घस्त्रे
दैवसिकं (तेजः) धिष्ण्ये रात्रिकं विधौ च पाक्षिकं ॥ ८ ॥

अर्थ—विद्युत का तेज क्षणिक होता है और दीप में मुहूर्त भर का
तेज होता है। सूर्य में दिवस—पर्यन्त तेज रहता है, नक्षत्र में तेज रात्रि
भर ही होता है तथा चन्द्रमा में पखवाड़े भर ही तेज रहता है।

अयनं तु सहस्रांशौ भूषणे वार्षिकं महः ।

इच्छामलविनिर्मुक्तं ऐन्द्रं ज्योतिस्तु शाश्वतम् ॥ ९ ॥

अन्वय—सहस्रांशौ अयनं भूषणे तु वार्षिकं महः । इच्छामल-
विनिर्मुक्तं ऐन्द्रं ज्योतिः तु शाश्वतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—सूर्य में छ मास पर्यन्त एवं आभूषणों में वर्षभर तेज रहता है, परन्तु इच्छा रूपी मल से रहित परमात्मज्योति तो शाश्वत है चिरन्तन है ।

ऐन्द्रमेवान्तरं चक्षुर्ज्ञानं जन्तोः समुन्मिषेत् ।

तदा स चक्षुष्मान् विश्वं पश्येदात्मसमं शमी ॥ १० ॥

अन्वय—जन्तोः ऐन्द्रं एव आन्तरं ज्ञानं चक्षु (यदा) समुन्मिषेत् तदा स चक्षुष्मान् शमी विश्वं आत्मसमं पश्येत् ॥ १० ॥

अर्थ—प्राणियों की आत्मज्ञान रूपी आन्तरिक ज्योति जब प्रकाशित होती है तभी ज्ञानचक्षुष्मान् शान्त आत्मा समग्र संसार को अपने ही समान देखता है ।

दीपः प्रकाशयेद्देहं मण्डलं रविमण्डलम् ।

ऐन्द्रं ज्योतिर्जगत्पूज्यं लोकालोकप्रकाशकम् ॥ ११ ॥

अन्वय—दीपः देहं प्रकाशयेत् रविमण्डलं मण्डलं ऐन्द्रं ज्योतिः जगत्पूज्यं लोकालोकप्रकाशकम् ॥ ११ ॥

अर्थ—दीप अपने प्रदेश घर को ही प्रकाशित करता है एवं सूर्यमण्डल सौरमण्डल को आलोकित करता है । परन्तु आत्म-ज्योति तो समग्र संसार को प्रकाशित करने वाली है इसलिए जगत् में पूज्य है ।

द्रव्यप्रकाशात् सूर्यादेर्यत्तमो न विलीयते ।

तद् ज्ञानभानुना नाशयं धर्माचरणकारिणा ॥ १२ ॥

अन्वय—सूर्यादेः द्रव्यप्रकाशात् यत् तमः न विलीयते तद् (तमः) धर्माचरणकारिणा ज्ञानभानुना नाशयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—सूर्य आदि के द्रव्य प्रकाश से जो अज्ञानभावान्धकार विलीन नहीं होता है उस भावान्धकार को धर्माचरणकारी ज्ञान सूर्य से अवश्य नष्ट कर देता है ।

विवेचन—सूर्य का प्रकाश द्रव्यान्धकार को नष्ट कर सकता है भावान्धकार दूर कर आत्म ज्योति को विकसित करने में तो ज्ञान सूर्य ही सक्षम है ।

येनाचारेण यावत् स्यात् ज्ञानिनो मोहवर्जनम् ।

तावान् धर्मोदयस्तत्र गतिस्तदनुसारिणी ॥ १३ ॥

अन्वय—येन आचारेण ज्ञानिनो मोहवर्जनम् यावत् स्यात् तावान् तत्र धर्मोदयः तद्गतिः धर्मानुसारिणी ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस ज्ञान के आचार से ज्ञानी के आचार से ज्ञानी के मोह का जितना अधिक नाश होगा उतना ही उसके हृदय में धर्म का उदय होगा । गति तो धर्म का अनुसरण करने वाली है ।

(गतिर्धर्मानुसारिणी)

स्वल्पोऽपि धर्मसंसिद्धो सौवर्ण्यं कुरुतेऽयसः ।

भावितो विविधैर्भावैर्ज्ञानधर्मस्तथांगिनः ॥ १४ ॥

अन्वय—विविधैः भावैः भावितः स्वल्पः अपि धर्मसंसिद्धः अयसः सौवर्ण्यं कुरुते तथा अंगिनः ज्ञानधर्मः (अपि करोति) ॥ १४ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के पुट देकर थोड़े भी सिद्ध रस के स्पर्श से कर्मकुशल लोहे से सोना बना देता है वैसे ही ज्ञानी थोड़े भी विशुद्ध धर्म एवं शुद्ध भावना से अनित्यादि १२ भावनाओं एवं मैत्र्यादि ४ भावनाओं को भावना करने से अपने लोह तुल्य अज्ञानावृत्त आत्मा को शुद्ध सुवर्ण-रूप ज्ञानमय कर देता है ।

महान्मोहोदयो यस्मिन्नाचारे धर्मतानवम् ।

त्याज्यः स धर्माचारोऽपि शक्तेनारोहकर्मणि ॥ १५ ॥

अन्वय—यस्मिन् आचारे धर्मतानवम् महान् मोहोदयः (च) आरोहकर्मणि शक्तेन स धर्माचारः अपि त्याज्यः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस आचार में धर्म की हीनता हो एवं महान् मोह का उदय हो, उच्च मार्ग पर बढ़ते हुए समर्थ को यदि वह धर्माचार भी लगे तो उसे छोड़ देना चाहिए ।

जानाति सर्वं ज्ञानेन सम्यग्दृष्टिस्ततो भवेत् ।

विरमेत्पातकाज्जीवो मोहोदयविधायिनः ॥ १६ ॥

अन्वय—ज्ञानेन सर्वं जानाति ततः सम्यग्दृष्टिः भवेत् ।
मोहोदयविधायिनः पातकात् जीवः विरमेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—संसार में यह आत्मा ज्ञान से ही सर्वज्ञ है (सब कुछ जानती है) इसी से वह सम्यग्दृष्टि होती है, इसी ज्ञान से मोहोदय के कारणभूत पाप से आत्मा विराम पाती है ।

तत्पूर्वं ज्ञानमादेयं हेयोपादेयगोचरम् ।

चक्षुर्जन्मनि बालोऽपि पूर्वमुन्मीलयेद्यतः ॥ १७ ॥

अन्वय—हेयोपादेयगोचरम् तत् ज्ञानं पूर्वं आदेयं, यतः बालोऽपि
जन्मनि पूर्वं चक्षुः उन्मीलयेत् ॥ १७ ॥

अर्थ—अतः संसार में सभी वस्तुओं के पहले हेय उपादेय विषयक ज्ञान को ही ग्रहण करना चाहिए, इसी से संसार में हेय और उपादेय रूपा विवेकी दृष्टि उत्पन्न होती है। क्योंकि संसार में भी बालक जन्म प्राप्त करते ही सर्व प्रथम नेत्र ही खोलता है अतः यह बात लोक व्यवहार से भी सिद्ध है ।

विद्याभ्यासस्ततः पूर्वं जनैर्बालस्य कार्यते ।

कार्ये कार्यः पुरो दीपो रात्रौ ज्ञानं पुरस्तथा ॥ १८ ॥

अन्वय—ततः पूर्वं जनैः बालस्य विद्याभ्यासः कार्यते । रात्रौ
कार्ये पुरः दीपः कार्यः तथा ज्ञानं पुरः ॥ १८ ॥

अर्थ—अतः सर्व प्रथम लोग जगत् में बालकों को विद्याभ्यास करवाते हैं ताकि उनके अन्तर में ज्ञानभानु का उदय हो जाय । रात्रि में किसी भी कार्य के पहले दीपक किया जाता है । वैसे ही संसार के प्रत्येक कार्य के पूर्व में उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

पठनान्नोच्यते ज्ञानी यावत्तत्त्वं न विन्दति ।

रामनाम शुको जल्पन् न तैरश्च्यः तदर्थवित् ॥ १९ ॥

अन्वय—यावत् तत्त्वं न विन्दति (तावत्) पठनात् ज्ञानी न उच्यते। रामनाम जल्पन् तैरश्च्यः शुकः न तदर्थवित् (एव तरति) ॥ १९ ॥

अर्थ—जब तक तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक मात्र पढ़ने से ही मनुष्य ज्ञानी नहीं कहा जाता है। बिना ज्ञान के उसकी मुक्ति भी नहीं होती है। राम नाम का मात्र पारायण करने वाला पक्षी तोता उसके अर्थ का जानने वाला नहीं होता है। संसार सागर से पार तो रामनाम के अर्थ को जानने वाला ही होता है।

तृष्णां कषायविषयविषयां यस्यजेजनः ।

ज्ञानी धर्मी विवेकी स मूर्तो धूर्तस्ततोऽपरः ॥ २० ॥

अन्वय—यः जनः कषायविषयविषयां तृष्णां त्यजेत् सः ज्ञानी धर्मी विवेकी मूर्तः ततः अपरः धूर्तः ॥ २० ॥

अर्थ—जो मनुष्य कषाय विषय वाली तृष्णा को छोड़ देता है वह साक्षात् ज्ञानी धर्मी एवं विवेकी है परन्तु जो तृष्णावान् है एवं विषय कषायों से युक्त है वह साक्षात् धूर्त है।

आजीविकायै शास्त्रज्ञाः केपि वैराग्यशालिनः ।

सम्यग्ज्ञानधना नैते योऽनिच्छुः पूज्य एव सः ॥ २१ ॥

अन्वय—केऽपि शास्त्रज्ञाः आजीविकायै वैराग्यशालिनः । एते न सम्यग्-ज्ञान-धनाः यः अनिच्छुः सः एव पूज्यः ॥ २१ ॥

अर्थ—कुछ शास्त्रज्ञ मात्र आजीविका के लिए ही वैराग्य के पथ पर चलते हैं। ये लोग सम्यग् ज्ञानी नहीं होते। संसार में वही पूज्य हैं जो निष्काम हैं, अनासक्त हैं।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

अध्याय तीसरा

ज्ञान अमृत है

[गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा हे नाथ ! आत्मज्योति सूर्य चन्द्रादि प्रकाशपिण्डों की तरह साक्षात् क्यों नहीं दिखाई देती है, एवं वह शाश्वत क्यों है ? भगवान ने उत्तर दिया, सूर्य चन्द्रादि प्रकाश पिण्डों की ज्योति विषय कर्मायों को उत्पन्न करने वाली है, पर परमात्म ज्योति उनका नाश करनेवाली हैं। लोक में जिस प्रकार राज तेज साक्षात् दिखाई नहीं देता है परन्तु उसकी दुहाई सर्वत्र व्याप्त रहती है वैसे ही आत्मज्योति दृष्टिगत नहीं होती है पर उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। उसे वही प्राप्त कर सकता है जो अनासक्त है। अनासक्त भाव से विषयों का सेवन करते हुए भी नन्दीषेण मुनि ने आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया था। आत्मज्ञान की प्राप्ति से संसार में विवेक पथ प्रशस्त हो जाता है इसी से दान, तप, शील, एवं भाव क्षणभर में ही मोक्ष को प्रदान कर देते हैं क्योंकि ज्ञान बिना प्राणी राग द्वेषादि कर्मायों में पड जाता है एवं विनष्ट हो जाता है। इस ज्ञान भानु के प्रकाशित होनेपर सम्यग् ज्ञान प्रकट होता है जिस से परिग्रहादि भावनाओं का नाश होता है। इस प्रकार आत्मज्ञानी अशुभ ध्यान को रोकनेवाली निर्विकारी क्रियाओं को करता हुआ मोक्षरूप आनन्द में रमण करता है।]

* * *

अध्याय-तृतीयः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रं ज्योतिः कथं साक्षान्नेक्ष्यते तपनादिवत् ।

कथं तदव्ययं नाथ ! ततः स्यात्कीदृशं फलम् ॥ १ ॥

अन्वय—हे नाथ ! ऐन्द्रं ज्योतिः तपनादिवत् कथं साक्षात् न ईक्ष्यते कथं तत् अव्ययं ततः कीदृशं फलं स्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने पूछा हे भगवन् आत्म ज्योति सूर्य चन्द्रादि प्रकाशपिण्डों की तरह क्यों साक्षात् दिखाई नहीं देती है । वह कभी भी नष्ट नहीं होने वाली यानी शाश्वत क्यों है एवं उससे किस प्रकार का परिणाम प्राप्त होता है ।

श्री भगवानुवाच

ज्योतिश्चान्द्रं विषयभूः सौरं तेजः कषायभूः ।

आभ्यां यत्परमं ज्योतिः—स्तदैन्द्रं परिभाव्यते ॥ २ ॥

अन्वय—चान्द्रं ज्योतिः विषयभूः सौरं तेजः कषायभूः आभ्यां यत् परमं तत् ऐन्द्रं ज्योतिः परिभाव्यते ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने उत्तर दिया चन्द्रमा की ज्योत्स्ना तो विषयों को जन्म देने वाली है एवं विषय से ही उत्पन्न होने वाली है, सूर्य का तेज भी कषाय को जन्म देने वाला है एवं कषाय से ही उत्पन्न होता है पर इनसे जो अलग परम ज्योति है वह परमात्म ज्योति कही जाती है ।

यत्प्रसादेन विषये व्याप्तावपि न लिप्यते ।

पवित्रमैन्द्रं तज्ज्योतिः शंखेश्वर इवोन्नतम् ॥ ३ ॥

अन्वय—यत्प्रसादेन विषये व्याप्तौ अपि न लिप्यते तत् पवित्रं ऐन्द्रं ज्योतिः शंखेश्वरः इव उन्नतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस परम ज्योति की महती कृपा से विषयों में व्याप्त व्यक्ति भी उनसे अलिप्त रहता है यह परम ज्योति उन्नत दक्षिणावर्त शंखराज की तरह पवित्र है उच्च है ।

राज्ञस्तेजोऽर्कवत्साक्षा—नैव नैशतमोपहम् ।

तथैव दीपयेन्न्याय—धर्ममिन्द्रमहस्तथा ॥ ४ ॥

अन्वय—राज्ञः तेजः अर्कवत् साक्षात् नैशतमोपहं न तथैव न्यायधर्मं दीपयेत् तथा इन्द्रमहः ॥ ४ ॥

अर्थ—यद्यपि राजा का तेज सूर्य की भाँति साक्षात् रात्रि के अंधकार को दूर नहीं करता है तथापि उसकी प्रतापाम्नि से न्यायधर्म सुप्रकाशित रहते हैं । वैसे ही आत्म ज्योति सूर्य की भाँति साक्षात् तो नहीं है पर उससे संसार में न्याय एवं धर्म आलोकित हो रहे हैं, गति प्राप्त कर रहे हैं ।

सेविता एव संशुध्यै विषया नंदिषेणवत् ।

क्षारमृन्मेलनात् किं स्यात्सद्यः शुद्धं न चीवरम् ॥ ५ ॥

अन्वय—संशुध्यै एव नंदिषेणवत् विषया सेविता किं क्षारमृत् मेलनात् सद्यः चीवरं शुद्धं न स्यात् ? ॥ ५ ॥

अर्थ—प्राचीन काल में नंदिषेण मुनि ने आत्म शुद्धि के लिये विषयों का सेवन किया । क्या खारी मिट्टी में मैला कपड़ा रखने से वह शुद्ध नहीं होता है ? अर्थात् मिट्टी भी मैले कपड़े को साफ कर देती है बस उसमें क्षार चाहिए वैसे ही विषय भी आत्म शुद्धि कर सकते हैं पर उनमें स्निग्धता नहीं होनी चाहिए वरन् क्षार होना चाहिए । अर्थात् विषयों के प्रति अनासक्ति होनी चाहिए ।

देवतामिव निसेवतां विषेनोन्मितं विषयजं सुखं सुधीः ।

चित्तधैर्यविधयेति किं जनो नाहिफेनमपि कार्यसाधनम् ॥ ६ ॥

अन्वय—सुधीः जनः विषेन उन्मितं विषयजं सुखं चित्त-धैर्य-
विधया देवतां इव निसेवताम् कार्यसाधनं (करोति) किं अहिफेनं
अपि कार्यसाधनं न (करोति) ॥ ६ ॥

अर्थ—सुज्ञ विद्वान् विषयुक्त विषयों से उद्भूत सुख को देवताओं की
भाँति धैर्य चित्त से सेवन करता है अतः उसे सुफल की प्राप्ति होती है ।
अफीम विष होता है परन्तु क्या उससे विष शमन का कार्य नहीं होता है ?

विवेचन—“ विषस्य विषमौषधम् ” के अनुसार विष भी विष का औषध
स्वरूप होता है ।

सेवितेन विषयेन दुर्लभा प्राप्यते यदि विरागजा सभा ।

नागरे पथि यतः शिवं भवेच्चौर एव स हि पौरपुंगवः ॥ ७ ॥

अन्वय—विषयेन सेवितेन यदि दुर्लभा विरागजा सभा प्राप्यते
यतः नागरे पथि शिवं भवेत् चौर एव स पौर-पुङ्गवः ॥ ७ ॥

अर्थ—विषयों का सेवन करते हुए भी यदि विरक्त जनों की संगति
प्राप्त हो जाय तो उससे सज्जनों का तो कल्याण होता ही है पर चोर भी
श्रेष्ठ नागरिक हो जाता है ।

ऐन्द्रं ज्योतिः प्रभावेन विकटापि तमोघटाः ।

दिग्मोहं न मनाक् कुर्यात् तदेव समुपास्यते ॥ ८ ॥

अन्वय—ऐन्द्रं ज्योतिः प्रभावेन विकटा तमोघटा मनाक् अपि
दिग्मोहं न कुर्यात् तत् एव समुपास्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्म ज्योति के प्रभाव से भयंकर अज्ञानान्धकार के बादल
थोड़ा भी दिशाभ्रम उत्पन्न नहीं कर सकते हैं अतः उसी की उपासना संसार
में की जाती है ।

ज्ञानादानं तपः शीलं पूजा ध्यानं च भावना ।

क्षणान्भोक्षफलं दत्ते नामृतं ज्ञानतः परम् ॥ ९ ॥

अन्वय-ज्ञानात् दानं तपः शीलं पूजा ध्यानं च भावना क्षणात्
मोक्षफलं दत्ते (अत) ज्ञानतः परं न अमृतं विद्यते ॥ ९ ॥

अर्थ-ज्ञान के प्रभाव से ही दान, तप, शील, पूजा, ध्यान एवं
भावना क्षण भर में ही मोक्ष का फल प्रदान करते हैं अतः संसार में ज्ञान
से परे कुछ भी नहीं है। ज्ञान के बिना दूसरा अमृत नहीं है। ज्ञान
अमृत है।

पथ्यं विनापि भैषज्यं नैरुज्यं कुरुते जने ।

तथा ज्ञानं विना कष्टं स्पष्टं निष्टंकयेच्छिवम् ॥ १० ॥

अन्वय-भैषज्यं विना (केवलं) पथ्यं जने नैरुज्यं कुरुते तथा
ज्ञानं कष्टं विना स्पष्टं शिवं निष्टंकयेत् ॥ १० ॥

अर्थ-बिना दवा के भी केवल पथ्य ही मनुष्य में निरोगता उत्पन्न
कर देता है वैसे ही तपस्या के बिना अकेला ज्ञान स्पष्ट रूप से मोक्ष का
संधान करवा देता है।

विना ज्ञानं न दानादिरवदातक्रिया मनाक् ।

फलं किञ्चन संधत्ते प्रत्युतानर्थसंभवः ॥ ११ ॥

अन्वय-ज्ञानं विना दानादिः अवदातक्रिया न मनाक् किञ्चन
फलं संधत्ते प्रत्युत अनर्थसंभवः ॥ ११ ॥

अर्थ-ज्ञान के बिना दान आदि शुद्ध क्रियाएं थोड़ा भी फल प्राप्त
नहीं करवा सकती हैं प्रत्युत अनर्थ को उत्पन्न करती हैं।

विवेचन-ज्ञान के बिना दान अहंकार पैदा कर देता है। अभिमान से
व्यक्ति राग द्वेषादि कषायों में पड़ जाता है एवं अन्ततोगत्वा विनष्ट हो जाता है।

ज्ञानं चक्षुः स्वतो जन्तो मार्गामार्गविवेचनात् ।

विश्वप्रकाशात् सहस्रः सहस्रांशुदयायते ॥ १२ ॥

अन्वय-जन्तोः स्वतः] मार्गामार्गविवेचनात् ज्ञानं चक्षुः विश्व-
प्रकाशात् सहस्रः सहस्र-अंशु-उदयायते ॥ १२ ॥

अर्थ—सन्मार्ग कुमार्ग का विवेचन करने के कारण प्राणियों के लिए ज्ञान स्वतः नेत्र रूप में प्रतिष्ठित है। यह ज्ञान समस्त विश्व को प्रकाशित करने के कारण हजारों सूर्य के उदय की समता करता है।

ध्रौव्यभावनया द्रव्ये ध्रुवनिष्ठं ध्रुवं स्वतः ।

निर्मलं केवलं ज्ञानं दत्ते शिवं ध्रुवं फलम् ॥ १३ ॥

अन्वय—द्रव्ये ध्रौव्यभावनया ध्रुवनिष्ठं स्वतः ध्रुवं निर्मलं केवलं ज्ञानं ध्रुवं शिवं फलं दत्ते ॥ १३ ॥

अर्थ—द्रव्य में ध्रौव्य-निश्चयात्मक भावना से सत्य समाया हुआ है क्योंकि स्वतः सत् निर्मल केवल ज्ञान ध्रुव-निश्चय ही मोक्ष फल को प्रदान करता है।

यथाञ्जनादिना चक्षु नैर्मल्यं लभतेऽञ्जसा ।

लोकभावनया ज्ञानं तथा भवति शाश्वतम् ॥ १४ ॥

अन्वय—यथा अञ्जनादिना अञ्जसा चक्षुः नैर्मल्यं लभते तथा लोकभावनया ज्ञानं शाश्वतं भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार काजल की कालिमा से आँखों को निर्मल किय जाता है वैसे ही लोक भावना से ज्ञान भी शाश्वत होता है।

विद्यमाने यथा भानौ न ग्रहे रुचिरा रूचिः ।

सम्यग्ज्ञानोदये तद्वत्परिग्रहरूचिः क्वचित् ॥ १५ ॥

अन्वय—यथा भानौ विद्यमाने ग्रहे रुचिरा रूचिः न तद्वत् सम्यग् ज्ञानोदये परिग्रहरूचिः न क्वचित् ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य के प्रकाशमान होने पर ग्रह नक्षत्रों (तारा-मण्डल) से प्रकाश की आशा नहीं की जाती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान के उदित होने पर परिग्रह में रूचि नहीं होती है।

कान्तारागमिवाऽसेव्यं कान्तारागं स मन्यते ।

दुःखं कञ्चुकीसंसर्गं मत्वा तत्त्वाशयः पुमान् ॥ १६ ॥

अन्वय—कान्तारागं इव असेव्यं कञ्चुकीसंसर्गं दुःखं मत्वा स तत्त्वाशयः पुमान् कान्त अरागं मन्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियों के प्रति आसक्ति नहीं रखता हुआ एवं कञ्चुकी संसर्ग आदि भोगविलासकी भावनाओं को दुःख का मूल कारण मानकर तत्त्व-ज्ञानी पुरुष अभीष्ट वैराग्य भावना की अनुमोदना एवं बहुमान करता है ।

संयोगान्सकलान्दत्त-विप्रयोगान्विमर्शयन् ।

पूर्वमेव वियोगार्थी यतिर्जयतिविद्विषः ॥ १७ ॥

अन्वय—संयोगात् सकलान् दत्तविप्रयोगान् विमर्शयन् वियोगार्थी यतिः पूर्वमेव विद्विषः जयति ॥ १७ ॥

अर्थ—सारे संयोग वियोग में परिणमित होने वाले हैं यह सोचकर वियोग (वैराग्य) को चाहने वाला साधु पहले ही काम मद, मोह, आदि शत्रुओं को जीत लेता है ।

वैभवं वै भवं चित्ते चिन्तयन् सुकृतैकदृक् ।

भोगानिव भुजङ्गानां भोगान् स दूरतस्त्यजेत् ॥ १८ ॥

अन्वय—स सुकृतैकदृक् चित्ते वैभवं वै भवं चिन्तयन् भुजङ्गानां भोगान् इव भोगान् दूरतः त्यजेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—मात्र पुण्याभिलाषी वह ज्ञानी पुरुष चित्त में सांसारिक वैभव व सम्पत्ति को निश्चय ही संसारचक्र एवं पुनर्जन्म का कारण मानकर सर्प के फनों के समान सांसारिक भोगों को दूर से ही त्याग देता है ।

निर्विक्रियाः क्रियाः कुर्वन्नशुभध्यानरोधिकाः ।

ज्ञानवानश्रुते लीलाः शिववासे न रोधिकाः ॥ १९ ॥

अध्याय तृतीयः

३९

अन्वय—ज्ञानवान् अशुभध्यानरोधिकाः निर्विक्रियाः क्रियाः कुर्वन्
शिववासे न रोधिकाः लीलाः अश्नुते ॥ १९ ॥

अर्थ—ज्ञानी अशुभ ध्यान को रोकने वाली निर्विकारी क्रियाओं को
करता हुआ मोक्ष मार्ग में निर्बाध आनन्द को प्राप्त करता है ।

अनन्तमव्ययं भास्वत् स्वतो जातमहोदयम् ।

ऐन्द्रं ज्योतिर्जनमभ्रं भ्राजतां शुचि सौरवत् ॥ २० ॥

अन्वय—अनन्तं अव्ययं भास्वत् स्वतः जातमहोदयं शुचि ऐन्द्रं
ज्योतिः जनं अभ्रं सौरवत् भ्राजतां तथा ॥ २० ॥

अर्थ—अनन्त, अव्यय, प्रकाशमान स्वतः महोदय को प्राप्त पवित्र
आत्मज्योति लोक और आकाश को सूर्य की भाँति प्रकाशित करे ।

अनालम्बमनाच्छाद्यं न मूर्तं व्याप्तमञ्जसा ।

तेजोऽनन्तमिवानन्तमैन्द्रं जयतु भास्वरम् ॥ २१ ॥

अन्वय—अनालम्बं अनाच्छाद्यं न मूर्तं अञ्जसा व्याप्तं अनन्तं तेजः
इव अनन्तं भास्वरं ऐन्द्रं जयतु ॥ २१ ॥

अर्थ—किसी प्रकार के आलम्बन एवं आच्छादन से रहित अमूर्त
(अरूप) एवं अनन्त तेज के समान तुरंत व्याप्त प्रकाशमान आत्म ज्योति
की जय हो ।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

अध्याय चौथा

धर्म बीज

[तीसरे अध्याय में पूछे गौतम स्वामी के प्रश्नों के उत्तर के क्रम में श्री वीर भगवान् ने कहा—ज्ञानियो की तत्त्वविद्या पूजा अध्ययन एवं दानादि ब्राह्म साधनों से विकसित होती है क्योंकि ये धर्म के साधन हैं। गुरु जंगम तीर्थ है। उनकी सेवा एवं स्थावर तीर्थों की उपासना से मन में निर्मलता आती है, शास्त्रों का अध्ययन करने से स्वाध्याय होता है एवं उससे त्याज्य तथा ग्राह्य धर्मों का ज्ञान होता है। यह विवेक ही कैवल्य संपदा है। इस मोक्ष साधना में दान शील तप एवं भाव का बड़ा महत्त्व है। दान से दानावरणीय कर्म का नाश होता है जिससे संसार में वैभव तथा परलोक में अनन्त ज्ञान की प्राप्ति होती है। शील-चारित्र्य से इस संसार में रूप और बल तथ परलोक में अनन्त वीर्यता प्राप्त होती है। तप से शरीर नीरोग रहता है एवं शरीरत्याग पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। भाव तो संसार में सर्वोच्च ही है वह विवेक के रूप में संसार में प्रतिष्ठित है इसीसे आस्रव संवर एवं संवर आस्रव हो जाते हैं।]

अध्याय चतुर्थः

ऐन्दव्यपि कला वृद्धिं लभतेऽनुक्रमाद्यथा ।

तथेह तत्त्वविद्यापि ज्ञानिनां बाह्यहेतुभिः ॥ १ ॥

अन्वय—यथा ऐन्दवी कला अपि अनुक्रमात् वृद्धिं लभते तथा
इह ज्ञानिनां तत्त्वविद्यापि बाह्य हेतुभिः (वृद्धिं लभते) ॥ १ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रकला क्रमशः बढ़ती रहती है वैसे ही
ज्ञानियों की तत्त्वविद्या भी बाह्य कारणों से पुष्ट होती हुई बढ़ती है ।

अज्ञानहेतवः सर्वेऽप्यधर्मा विषया यथा ।

तथा धर्मो ज्ञानबीजं दयादानादिकाः क्रियाः ॥ २ ॥

अन्वय—यथा अज्ञानहेतवः सर्वे अपि विषया अधर्माः तथा
दयादानादिकाः क्रियाः ज्ञानबीजं धर्मः ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अज्ञान के कारणभूत सभी विषय अधर्म हैं उसी
प्रकार दया दान तप आदि क्रियाएं ज्ञान की बीज हैं एवं धर्म हैं ।

आयुर्घृतं यशस्त्यागः कार्यकारणयोगतः ।

पूजाध्ययनदीक्षादि—धर्मसाध्याय साध्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—कार्यकारणयोगतः घृतं आयुः त्यागः यशः (तथैव)
पूजाध्ययनदीक्षादिः धर्मसाध्याय साध्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—कार्य कारण के योग से घी को आयु एवं त्याग को यश की
संज्ञा दी जाती है वैसे ही पूजा अध्ययन एवं दीक्षादि धर्म सिद्धि के लिए
किए जाते हैं ।

स्वाध्यायः स्याद् गुरुपास्तेः शास्त्राध्ययनं वाचनैः ।

हेयोपादेयबोधोऽस्मात्ततः कैवल्यसम्पदः ॥ ४ ॥

अन्वय—गुरुपास्तेः स्वाध्यायः वाचनैः शास्त्राध्ययनं स्यात्
अस्मात् हेयोपादेयबोधः ततः कैवल्यसम्पदः ॥ ४ ॥

अर्थ—गुरु की सेवा एवं उपासनासे स्वाध्याय वाचन करने से शास्त्रों का अध्ययन होता है इसी से त्याज्य एवं ब्राह्म अर्थात् विवेकाविवेक का बोध होता है जिससे कैवल्य की सम्पदा प्राप्त होती है ।

सुदृष्टपरमार्थानां जंगमस्थावरात्मनाम् ।
सेवायात्रादिभिः कार्ये निर्मले ज्ञानदर्शने ॥ ५ ॥

अन्वय—सुदृष्टपरमार्थानां जंगमस्थावरात्मनाम् सेवायात्रादिभिः
ज्ञानदर्शने निर्मले कार्ये ॥ ५ ॥

अर्थ—परमार्थ को देखे हुए जंगम तीर्थ साधु की सेवा तथा स्थावर तीर्थों की यात्रा से क्रमशः ज्ञान तथा दर्शन को निर्मल करना चाहिए ।

युक्ताहारविहारार्थैः समितीनां प्रवर्तनैः ।
निवर्तनैः कषायादे-ज्ञानाच्चरणमद्भुतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—ज्ञानात् युक्ताहारविहारार्थैः समितीनां प्रवर्तनैः कषा-
यादेः निवर्तनैः चरणं अद्भुतम् ॥ ६ ॥

अर्थ—उपयोग पूर्वक आहार विहार करने से, पांच समितियों को जीवन में उतारने से तथा कषायों को हटाने से चारित्र अद्भुत होता है !

ज्ञानदर्शनचारित्रयोगाद्धर्मः स्फुटो भवेत्
शैवः पन्था अयं सेव्यः सम्यक् तत्त्वविमर्शिना ॥ ७ ॥

अन्वय—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-योगात् धर्मः स्फुटः भवेत् सम्यक्
तत्त्वविमर्शिना अयं शैवः पन्था सेव्यः ॥ ७ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन एवं चारित्र के योग से धर्म प्रकट होता है अतः सम्यक् ज्ञानी को इसी मंगलमय मोक्ष मार्ग की आराधना करनी चाहिए ।

अध्याय चतुर्थः

४३

दानान्निदानाल्लक्ष्मीणां दानावरणसंक्षयः ।

येन विश्वप्रबोधार्थं दातात्मा जायते स्वतः ॥ ८ ॥

अन्वय—निदानात् लक्ष्मीणां दानात् दानावरण संक्षयः येन दातात्मा स्वतः विश्वप्रबोधार्थं जायते ॥ ८ ॥

अर्थ—परस्व पूर्वक पात्रानुसार लक्ष्मी का दान करने के फलस्वरूप दानावरणीय कर्म का क्षय होता है जिससे दातात्मा अपने आप विश्व के प्रबोध के लिए हो जाता है—विश्व में प्रसिद्ध हो जाता है। अर्थात् दान-भावना से दानी संसार में अनुकरणीय हो जाता है।

वैयावृत्येऽन्नपानाद्यैर्गुरुचैत्यादिषु ध्रुवम् ।

✓ आत्मनो जायते सर्व-लाभभोगवृत्तिक्षयः ॥ ९ ॥

अन्वय—गुरुचैत्यादिषु अन्नपानाद्यैः वैयावृत्ये ध्रुवं आत्मनः सर्व-लाभ-भोगवृत्तिक्षयः (च) जायते ॥ ९ ॥

अर्थ—गुरु की अन्नपान आदि से सेवा एवं मंदिरों की सुव्यवस्था करने पर आत्मा के सभी लाभान्तराय तथा भोगान्तराय कर्मों का क्षय हो जाता है।

तेन सर्वार्थबोधस्य लाभश्चानन्दभोगयुक् ।

अनन्तः स्याद्यथा बीजं फललाभो विनिश्चयात् ॥ १० ॥

अन्वय—तेन सर्वार्थबोधस्य आनन्द-भोग-युक् लाभः, यथा बीजं अनन्तः स्यात् विनिश्चयात् फल लाभः ॥ १० ॥

अर्थ—उससे सभी पदार्थों (विषयों) के ज्ञान का लाभ और आनन्द एवं भोग युक्त बनता है जिस प्रकार बीज अनन्त होने पर निश्चय ही फल लाभ होता है। फल लाभ की प्राप्ति का निश्चय होने पर बीज अनन्त होता है।

तथोपभोगवीर्यादेः सर्वथावरणसंक्षयः ।

वीर्याचारात्तपस्यादौ तेन स्याज्जगदर्चनम् ॥ ११ ॥

अन्वय—तपसि आदौ वीर्याचारात् उपभोग वीर्यादेः सर्वथावरण संक्षयः तेन जगदर्चनं स्यात् ॥ ११ ॥

अर्थ—तपस्या में सर्व प्रथम वीर्याचार का पालन करने से उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्मों के आवरण का सर्वथा क्षय होता है जिससे संसार में सम्मान होता है ।

छत्रचामरपुष्पाद्यैः पूजासननिवेशनम् ।

पादक्षेपेऽम्बुजन्यासादिकं च जिनपूजनात् ॥ १२ ॥

अन्वय—छत्रचामरपुष्पाद्यैः पूजासननिवेशनम् पादक्षेपे अम्बुजन्यासादिकं (कृत्य) जिन पूजनात् ॥ १२ ॥

अर्थ—छत्र, चामर, फूलों से जिनेश्वर की पूजा करने से और चरणों में कमल को अर्पण करने से जिनेश्वर की पूजा होती है ।

धर्मेऽधिकेऽधिको धर्मस्तथाऽधर्मोऽप्यधर्मतः ।

कारणानुगतं कार्यं दृष्टं तन्न्यायवेदिभिः ॥ १३ ॥

अन्वय—अधिके धर्मे अधिको धर्मः तथा अधर्मतः अपि अधर्मः कारणानुगतं कार्यं तत् न्यायवेदिभिः दृष्टम् ॥ १३ ॥

अर्थ—अधिक धर्म का आचरण करने में अधिक धर्म है वैसे ही अधर्म से अधर्म ही होता है क्योंकि न्यायविद् लोगों ने यह देखा है कि कार्य तो कारण का अनुगामी होता है जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा ।

भवे स्याद्विभवो दानादनंतज्ञानता शिवे ।

शीलादूपं बलं पूर्वं परे चानन्तवीर्यता ॥ १४ ॥

अध्याय चतुर्थः

४५

अन्वय—भवे दानात् विभवो स्यात् शिवे अनन्तज्ञानता, शीलात् रूपं बलं च पूर्वं परे अनन्तवीर्यता ॥ १४ ॥

अर्थ—दान से संसार में वैभव एवं परलोक (मोक्ष) में अनन्तज्ञानता की प्राप्ति होती है। शील से (चारित्र्य से) संसार में पहले रूप और बल एवं परलोक (मोक्ष) में अनन्तवीर्यता की प्राप्ति होती है।

आरोग्यं तपसा देहेऽप्यदेहेऽकर्मलिप्तता ।

सुखं सांसारिकं भावाद्भवे सिद्धे स्वभावजम् ॥ १५ ॥

अन्वय—तपसा देहे आरोग्यं अदेहे अपि अकर्मलिप्तता भावात् भवे सांसारिकं सुखं सिद्धे स्वभावजम् (सुखं) ॥ १५ ॥

अर्थ—तपाचरण से शरीर में आरोग्य लाभ होता है एवं शरीर त्याग पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। उत्तम भावना से संसार में सांसारिक सुख एवं सिद्धपद की प्राप्ति पर स्वभाविक सुख की प्राप्ति होती है।

जिनादेर्नमनान्म्यः सेव्यः सेवनया भवेत् ।

पूज्यः पूजनया ध्येयो ध्यानादात्माऽनया दिशा ॥ १६ ॥

अन्वय—अनया दिशा जिनादेः नमनात् आत्मा नम्यः सेवनया सेव्यः पूजनया पूज्यः ध्यानात् ध्येयः भवेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस प्रकार जिनेश्वर भगवन्तों को नमन करने से ही यह आत्मा नमनीय, उनकी सेवा से सेव्य, पूजा से पूज्य एवं उनके ध्यान से ध्येय बनती है।

ज्ञानदानेऽक्षयं ज्ञानं सुदृष्टिर्दृढदर्शनात् ।

प्राणातिपाताद्विरते—रेव सिद्धेऽक्षयस्थितिः ॥ १७ ॥

अन्वय—ज्ञानदाने अक्षयं ज्ञानं दृढदर्शनात् सुदृष्टिः प्राणातिपातात् विरतेः एव सिद्धे अक्षय स्थितिः ॥ १७ ॥

अर्थ—ज्ञान का दान देने से अक्षयज्ञान की प्राप्ति होती है ।
दृढ़ श्रद्धा से सम्यग्दृष्टि (समकित) की निर्मलता प्राप्त होती है । अहिंसा
का पालन करने से सिद्ध पद में अक्षयस्थिति की प्राप्ति होती है ।

अधर्मकारणं त्याज्यं यथा मोक्षार्थिना तथा ।

ग्राह्यो ज्ञानमयो धर्मः शर्म स्यात् शाश्वतं यतः ॥ १८ ॥

अन्वय—यथा मोक्षार्थिना अधर्मकारणं त्याज्यं तथा (तेन)
ज्ञानमयः धर्मः ग्राह्यः यतः शाश्वतं शर्म स्यात् ॥ १८ ॥

अर्थ—इसीलिए मोक्षार्थी अधर्म के सभी कारणों का त्याग कर देता
है और ज्ञानमय धर्म ग्रहण करता है जिससे कि शाश्वत सुख की प्राप्ति
हो सके ।

संवरः स्यादास्रवोऽपि संवरोप्याश्रवायते ।

ज्ञानाज्ञानफलं चैतन्मिथ्या सम्यक् श्रुतादिवत् ॥ १९ ॥

अन्वय—मिथ्या सम्यक् श्रुतादिवत् एतत् ज्ञानाज्ञानफलं (यत्)
आस्रवः अपि संवरः स्यात् संवरः अपि आश्रवायते ॥ १९ ॥

अर्थ—मिथ्या एवं सम्यक् श्रुत की तरह यह ज्ञान और अज्ञान का
फल है कि जिसके कारण संवर (कर्मों को प्रवेश) आश्रव (कर्मों का
रोकना) बन जाते हैं एवं अज्ञान के फलस्वरूप संवर भी आस्रव में परिणीत
हो जाता है । अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में ज्ञान की मुख्य भूमिका है उपयोग
पूर्वक किया गया कर्म संवर का कारण बन जाता है एवं प्रमाद पूर्वक
अज्ञानावस्था में किया गया शुभ कर्म भी आस्रव का कारण बन जाता है ।

चित्रसारथिना माया कोपो गणिविनिग्रहे ।

मानः पराऽनतेर्ज्ञस्य मुनेः पात्रादिसंग्रहः ॥ २० ॥

अन्वय—चित्रसारथिना माया कोपः गणिविनिग्रहे ह्यस्य परानतेः
मानः मुनेः पात्रादिसंग्रह ॥ २० ॥

अध्याय चतुर्थः

४७

यहाँ 'गणविनिग्रहे' के स्थान पर
'गणविनिग्रहे' पाठ होना चाहिए।

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी द्वारा गृहीत मिथ्या श्रुत भी सम्यक्श्रुत हो जाता है और मिथ्या दृष्टि द्वारा गृहीत सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत हो जाता है। जैसे प्रदेशी राजा के मंत्री चित्रसारथि ने माया से प्रदेशी राजा को केशी गणधर का शिष्य बनाया पर वह माया सम्यक् थी। गुरु अपने गण-समुदाय का अनुशासन करने के लिए कोप करते हैं पर वह भी सम्यक् होता है। ज्ञानी दूसरों को नहीं नमता है पर उसका मान भी सम्यक् होता है। वैसे ही मुनि भी पात्रों का संग्रह करते हैं। पर वह सम्यक् प्रयोजन के लिए है अतः सम्यक् है।

विषमप्यमृतं ज्ञानाद्—ज्ञानादमृतं विषम् ।

इत्येवं साधनैः साध्यो ज्ञानधर्मोऽस्ति निश्चयात् ॥ २१ ॥

अन्वय—ज्ञानात् विषं अपि अमृतं निश्चयात् अज्ञानात् अमृतं अपि विषं इति एवं साधनैः ज्ञानधर्मो साध्योऽस्ति ॥ २१ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोग से विष भी अमृतमय निश्चित रूप से बन जाता है एवं अज्ञान से अमृत भी विषमय बन जाता है अतः इसी प्रकार के सुसाधनों से ज्ञानधर्म की साधना करनी चाहिए।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

“पंचमोऽध्यायः”

शान्त सुधारस से धर्म प्राप्ति

[पांचवे अध्याय में गौतम स्वामी ने भगवान् से धर्माधर्म की पहचान पूछी है। भगवान् ने उत्तर दिया—जिस प्रकार सूर्य चन्द्र ग्रहण से ज्योतिष शास्त्र पर विश्वास उत्पन्न होता है वैसे ही तत्त्व ज्ञान से धर्म का स्पष्ट दर्शन होता है। देव-पूजा, तीर्थ-यात्रा, साधु-दर्शनादि निश्चय रूप से सद्धर्म के परिचायक हैं वैसे ही हिंसक मिथ्याभाषी, चौर एवं परस्त्रीगामी दुष्ट अथवा लोभी में अधर्म का आभास होता है। दाता, दयालु, सत्य वक्ता अथवा भगवान् के भक्तों की संसार में प्रशंसा होती है। वैद्य नाड़ी परीक्षण से वात-पित्तादि रोगों का निदान करता है वैसे ही मन की गति एवं तदनुसार वर्तन से धर्म-अधर्म की स्थिति को जाना जा सकता है। दया, दान, यम, नियम आदि धर्म विधानों को संसार के सभी धर्मशास्त्र एवं मत से स्वीकार करते हैं। संसार में धर्ममूल शान्त सुधारस की साधना ही श्रेष्ठ है। संसार के अन्य शृंगार वीर करुणादि रस मोहकारक हैं जिससे आत्म मार्ग भ्रष्ट हो जाता है। शान्त-सुधारस से आत्मा वैरागी विवेकी एवं ज्ञानवान बनती है जिससे वह जगत्पूज्य बनती है।]

* * *

पंचमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रस्वरूपं भगवन् तवैवाध्यक्षमीक्ष्यते ।
दर्शय प्रत्ययं धर्म्यं यतस्तत्रोद्यमी नरः ॥ १ ॥

अन्वय—हे भगवन् ऐन्द्रस्वरूपं तव एव अध्यक्षं ईक्ष्यते (तत्)
प्रत्ययं धर्म्यं दर्शय यतः तत्र नरः उद्यमी (स्यात्) ॥ १ ॥

अर्थ—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—हे भगवान् यह जो आत्म ज्योति आपको ही दिखाई देती है उस धर्म सम्मत एवं श्रद्धेय स्वरूप को हमें भी दिखाइए जिससे उस ओर लोग उद्यम करें ।

श्री भगवानुवाच

ज्योतिःशास्त्र प्रत्ययो हि यथैव ग्रहणादिना ।
तथा धर्मस्य बह्वयादे दिव्येऽस्ति प्रत्ययः स्फुटः ॥ २ ॥

अन्वय—यथा ग्रहणादिना ज्योतिः शास्त्र प्रत्ययो हि तथैव बह्व-
यादेः धर्मस्य दिव्ये स्फुटः प्रत्ययः ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण से ज्योतिष शास्त्र पर विश्वास पैदा होता है वैसे ही अग्नि परीक्षा आदि से धर्म (आत्म धर्म) का स्पष्ट ज्ञान होता है । विशेष—नारद स्मृति में अग्नि आदि पंच दिव्यों का वर्णन है । प्राचीन काल में सच्चाई की परीक्षा के लिए अग्नि परीक्षा, जल परीक्षा, तप्तपान परीक्षा आदि का प्रचलन था एवं उससे धर्म की सच्चाई का विश्वास होता था ।

कुमारी वा कुमारः स्यात् करावतरणादिषु ।
प्रयोज्यः शकुनादौ वा स एष शील निश्चयः ॥ ३ ॥

अन्वय—कुमारी वा कुमारः स्यात् करावतरणादिषु शकुनादौ वा स प्रयोज्यः एष शीलनिश्चयः ॥ ३ ॥

अर्थ—विवाह जैसे मंगल अवसर पर अथवा किसी शकुन देखते समय बालिका या बालक का प्रयोग होता है। इससे इसका शील का निश्चय होता है।

देवपूजा तीर्थयात्रा स्वप्नः शुभफलस्तथा ।

साधोर्दर्शनवाक्यादिः शुभः सद्धर्मनिश्चयः ॥ ४ ॥

अन्वय—देवपूजा तीर्थयात्रा शुभफलः स्वप्नः साधोः दर्शन-वाक्यादिः शुभः सद्धर्मनिश्चयः ॥ ४ ॥

अर्थ—देवपूजा, तीर्थयात्रा, शुभ फलदायी स्वप्न, साधुओं के दर्शन एवं उनके उपदेश निश्चय रूप से अच्छे धर्म के लक्षण हैं।

जन्मपत्रग्रहैर्धर्म-प्रत्ययः क्रियतां जनैः ।

दातुः पूजयितुर्यद्वा दुष्टस्याप्यशुभैः शुभैः ॥ ५ ॥

अन्वय—यत् दातुः पूजयितुः वा शुभैः, दुष्टस्य अपि अशुभैः जन्म पत्र ग्रहैः जनैः धर्मप्रत्ययः क्रियतां ॥ ५ ॥

अर्थ—दाता अथवा पूजा करने वाले की जन्म पत्री के शुभ ग्रहों एवं दुष्ट के अशुभ ग्रहों से संसार में लोग धर्म का निश्चय करते हैं।

हिंस्रो वाऽनृतवाक् चौरस्तथैव पारदारिकः ।

दुष्टोऽतिलोभी न क्वापि धर्मस्य प्रत्ययस्त्वयम् ॥ ६ ॥

अन्वय—हिंस्रो वा अनृतवाक् चौरः तथैव पारदारिकः दुष्टः अति-लोभी (स्यात्) अयं तु न क्वापि धर्मस्य प्रत्ययः ॥ ६ ॥

अर्थ—हिंसक, झूठा, चोर, परस्त्रीगामी, दुष्ट, अतिलोभी आदि लोगों में कहीं भी धर्म का दर्शन नहीं होता है।

बैचमोऽध्यायः

५१

दातुर्दयाभृतः सत्यवाचः स्त्रीविरतस्य वा ।

भगवद्भक्तिभाजो वा लोकैः श्लाघैव निश्चयः ॥ ७ ॥

अन्वय—दातुः दयाभृतः सत्यवाचः वा स्त्रीविरतस्य भगवद्भक्तिभाजः वा निश्चयः लोकैः श्लाघा एव क्रियते ॥ ७ ॥

अर्थ—दानवीर, दयालु, सत्यवक्ता, स्त्रियों से विरक्त एवं भगवान् की भक्ति में रस लेने वालों की लोग निश्चय ही प्रशंसा करते हैं अतः इससे धर्म का निश्चय होता है ।

यथैव वातपित्तादि-विक्रिया नाडिकाविधेः ।

ज्ञेया मनोविधेस्तद्वत् धर्मस्यान्यस्य वा स्थितिः ॥ ८ ॥

अन्वय—यथा वातपित्तादिः नाडिकाविधेः विक्रिया एव तद्वत् मनोविधेः धर्मस्य अन्यस्य वा स्थितिः ज्ञेया ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कफ, पित्त, वायु आदि की विकृति को नाडी की संचरण गति से जाना जाता है वैसे ही धर्म की अथवा अधर्म की स्थिति भी मनोभावना से जानी जा सकती है ।

शान्तं ज्योतिस्तदेवैन्द्रं भासते भगवत्यहो ।

चराचरमये लोके सर्वस्यापि सुखावहम् ॥ ९ ॥

अन्वय—अहो ! चराचरमये लोके सर्वस्य अपि सुखावहम्, तत् एव ऐन्द्रं शान्तं ज्योतिः भगवति भासते ॥ ९ ॥

अर्थ—अहो ! चराचर जगत में सभी के लिए सुखदायक वही शान्त आत्म ज्योति परमात्मा में प्रकाशित हो रही है ।

निश्चितः सर्वशास्त्रेषु दयादानदमादिकः ।

धर्मविधिर्विधेयोऽयमस्मात्कः प्रत्यय परः ॥ १० ॥

अन्वय—दयादानदमादिकः सर्वशास्त्रेषु निश्चितः अयं धर्म-विधिः विधेयः अस्मात् परः कः प्रत्ययः ॥ १० ॥

अर्थ—दया, दान, दम आदि को सभी शास्त्रों में निश्चित रूप यह धर्म क्रियाएं मानते हैं अतः हमें इस धर्म विधि का पालन करना चाहिए। इससे अन्य धर्म का क्या प्रमाण हो सकता है ?।

तपसि स्वात्मपीडा स्यात् परपीडार्चनादिषु ।
तथापि जगति श्लाघा पावित्र्यं धर्मनिश्चयात् ॥ ११ ॥

अन्वय—तपसि स्वात्मपीडा स्यात् अर्चनादिषु परपीडा स्यात्
तथापि धर्मनिश्चयात् पावित्र्यं जगति श्लाघा च भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—तपस्या से स्वयं को पीडा होती है एवं अर्चनादि कार्यों में दूसरों को पीडा होती है (पूज्य को विक्षेप से पीडा होती है) फिरभी ये दोनों कार्य धर्मनिश्चय से धार्मिक हैं अतः पवित्र हैं एवं संसार में उनकी प्रशंसा होती है।

शृंगाराद्यैः रसैः स्पष्टै अष्टधाऽपि प्रदीपितैः ।
शान्तनामा हि नयमो रसः साध्यः क्रमाद् ध्रुवः ॥ १२ ॥

अन्वय—शृंगाराद्यैः रसैः अष्टधा स्पष्टैः प्रदीपितैः अपि क्रमाद्
शान्त नामा हि नयमो रसः ध्रुवः साध्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—शृंगार, करुण, वीर, रौद्र भयानक आदि आठ रसों के स्पष्ट रूप से व्यक्त होने पर भी क्रमशः शान्त नाम का नवाँ रस ही निश्चय रूप से साध्य होता है अर्थात् जिस प्रकार सभी रसों की परिणति शान्त नाम के नवें रस में होती है वैसे ही सभी कार्यों की अन्तिम परिणति धर्म में होती है।

इत्येभिः प्रत्ययैर्यस्य मनो न धर्मकामनम् ।
उच्छृङ्खलश्रृङ्खलकं तस्य नैवास्ति दामनम् ॥ १३ ॥

अन्वय—इति एभिः प्रत्ययैः यस्य उच्छृङ्खलश्रृङ्खलकं मनो धर्म
कामनं न (भवति) तस्य दामनं नैवास्ति ॥ १३ ॥

पंचमोऽध्यायः

५३

अर्थ—इस प्रकार इन प्रमाणों से जिसका उच्छृंखल मन धर्म की चाहना नहीं करता है उसके लिए संसार में कोई बंधन नहीं है अर्थात् उसके मन को मर्यादित करने का अथवा संयमनिष्ठ करने का कोई साधन नहीं है ।

शुद्धवंशभवे धर्मे गुणारोहोऽपि चार्हति ।

यदाश्रयान्मार्गणेऽस्य प्रत्ययो लक्ष्यलाभतः ॥ १४ ॥

अन्वय—शुद्धवंशभवे धर्मे गुणारोहोऽपि च अर्हति यदाश्रयात् अस्य मार्गणे लक्ष्यलाभतः प्रत्ययः भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—शुद्ध वंशोद्भव धर्म में स्थित आत्मा गुणारोहण कर आत्म विकास की ओर बढ़ती है । इस धर्म के अनुसरण से अथवा आश्रय लेने से लक्ष्य की प्राप्ति से धर्म पर विश्वास होता है ।

आशिषः स्युश्चिरं जीवेत्याद्या दातरि सज्जने ।

शीलात्स्त्रीकष्टमोक्षादिस्तपसाऽपात्रपात्रताम् ॥ १५ ॥

अन्वय—दातरि सज्जने चिरंजीव इत्याद्या आशिषः स्युः । शीलात्स्त्रीकष्टमोक्षादि तपसा अपात्रपात्रतां (प्राप्नोति) ॥ १५ ॥

अर्थ—दानदाता सज्जन को चिरकाल पर्यन्त जीवित रहने की आशिष मिलती है शील के प्रमाण से स्त्री कष्ट से मुक्त होती है एवं तपश्चर्या से अयोग्य को भी योग्यता की प्राप्ति होती है । (ये सब धर्म के प्रमाण हैं)

दीप्तं ज्योतिर्भवेन्मोहात् शान्तं ज्ञानमयात्मनः ।

दीप्तादुन्मार्गगमनं शान्ताद्धर्मरूचिश्चिरम् ॥ १६ ॥

अन्वय—मोहात् ज्योतिः दीप्तं ज्ञानमयात्मनः शान्तं भवेत् । दीप्तात् उन्मार्गगमनं, शान्तात् चिरं धर्मरूचिः ॥ १६ ॥

अर्थ—मोह से आकृष्ट की आत्म ज्योति विचलित होती है और ज्ञानमय आत्मा की ज्योति शांत होती है। उत्तेजित होने से उन्मार्ग गमन होता है और शांत रहने से शाश्वत धर्मरूचि प्राप्त होती है।

स्फुरन्तु विविधाचाराश्चारा इव महीभुजः ।

शास्त्राभ्यासेऽतिचतुरा न्याय्या धर्म्यैव तत्क्रिया ॥ १७ ॥

अन्वय—शास्त्राभ्यासे महीभुजः चाराः इव अति चतुराः विविधा चाराः स्फुरन्तु तत्क्रिया न्याय्या धर्म्या एव ॥ १७ ॥

अर्थ—शास्त्राभ्यास होने पर चारित्र रूप विविध आचार उसी प्रकार प्रकट होते हैं जिस प्रकार कि राजा के राज्य नीति शास्त्र पढ़ने पर अति चतुर गुप्तचर प्रकट होते हैं अतः तदनुसार (शास्त्रानुसार) क्रिया करना न्याय एवं धर्मसम्मत है।

धर्मादेव जयः पापात् क्षयो लोकोक्तिरीदृशी ।

धर्मस्तथैव प्रत्येयस्तत्र विप्रतिदर्शनम् ॥ १८ ॥

अन्वय—धर्मात् एव जयः पापात् क्षयः ईदृशी लोकोक्तिः । तथा एव धर्मः प्रत्येयः तत्र विप्रति दर्शनम् ॥ १८ ॥

अर्थ—संसार में ऐसी कहावत है कि धर्म से जय एवं पाप से क्षय होता है। इस लोकोक्ति से ही धर्म पर विश्वास करना चाहिए इसके विरोध से प्रतिकूलता होती है।

मायाचरित्रे चतुरोऽप्युच्यते शठ एव सः ।

चौरौ मलिम्लुचः स्नातोऽप्ययं धर्मस्य निर्णयः ॥ १९ ॥

अन्वय—स्नातः अपि मायाचरित्रे चतुरः अपि चौरौ मलिम्लुचः स शठ एव उच्यते अयं धर्मस्य निर्णयः ॥ १९ ॥

अर्थ—स्नान आदि से बाह्य मलत्यागी किन्तु माया का आचरण करने वाला चतुर चौर अथवा डाकू दुष्ट ही है यह धर्म का निर्णय है।

पंचमोऽध्यायः

५५

ख्यातमाबालगोपालं विरोधे समुपस्थिते ।

जनैर्विवेकी प्रष्टव्यः प्राप्या येन गतिः शुभा ॥ २० ॥

अन्वय—ख्यातं (इदं) आबालगोपालं समुपस्थिते विरोधे जनैः
विवेकी प्रष्टव्यः येन शुभाः गतिः प्राप्या ॥ २० ॥

अर्थ—बालकों से लेकर बड़ों तक में यह प्रसिद्ध है कि विरोध के
उपस्थित होने पर विवेकी को अपनी समस्या का समाधान पूछना चाहिए
जिससे शुभ गति प्राप्त हो सके ।

विशुद्धबुद्धिर्बालोऽपि वृद्धो वृद्धैः प्रपूज्यते ।

ज्ञानधर्मोदयादत्र शालिवाहनिदर्शनम् ॥ २१ ॥

अन्वय—ज्ञानधर्मोदयात् अत्र विशुद्धबुद्धिः बालः अपि वृद्धः
वृद्धैः च प्रपूज्यते । शालिवाह निदर्शनम् ॥ २१ ॥

अर्थ—ज्ञानधर्म के कारण विशुद्ध बुद्धि का बालक भी वृद्ध माना
जाता है एवं वृद्ध लोग उसकी पूजा करते हैं इसके उदाहरण
शालिवाहन हैं ।

॥ इति अर्हद्गीतायां पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः

ज्ञान दर्शन चारित्र प्रधान धर्म

[छठे अध्याय में गौतम स्वामी ने फिर पूछा है - संसार के सभी शास्त्रों में धर्म को ऐश्वर्यमय एवं प्रधान क्यों माना जाता है? भगवान ने उत्तर दिया - अन्य शास्त्रानुकूल आचरण करने पर भी फल तो भाग्याधीन है पर धर्म का सुफल तो निश्चित ही है। संसार में जो विभिन्नता दिखाई देती है वह जीवमात्र के अशुभ कर्मों का फल है। संसार में अधर्म व्याप्त है पर उसमें प्रधानता धर्म की है वैसे ही शरीर में अजीव (पुद्गल) की स्थिति दिखाई देते हुए भी जीव तत्त्व की ही प्रधानता है। जैसे संसार में भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीन काल है वैसे ही धर्म में भी ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की त्रयी प्रमुख है। धर्म का मूल ज्ञान है, दर्शन उसका मध्य विस्तार है तथा उसका समाहार चारित्र है इन तीनों में चैतन्य (उपयोग) की प्रधानता है। ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से धर्म शरीर की साधना पूर्ण होती है।]

षष्ठोऽध्यायः

५७

षष्ठोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐश्वर्येण धनुर्वेदे ज्योतिःशास्त्रेऽपि गारूडे ।

आयुर्वेदे शाकुने वा कथं धर्म प्रधानता ॥ १ ॥

अन्वय—धनुर्वेदे ज्योतिःशास्त्रे गारूडे अपि आयुर्वेदे शाकुने वा ऐश्वर्येण कथं धर्म प्रधानता ॥ १ ॥

श्री गौतमस्वामी ने पूछा—

अर्थ—धनुर्विद्या, ज्योतिषशास्त्र, मंत्रशास्त्र, आयुर्वेद एवं शकुनशास्त्र अथवा धर्म में ऐश्वर्य से प्रधानता क्यों मानी जाती है ?

सर्वशास्त्रोदिते यत्ने फलं देवानुसारतः ।

तदनुगुण्यं धर्मेण तद्वैगुण्यं विपर्ययात् ॥ २ ॥

अन्वय—सर्वशास्त्रोदिते यत्ने (कृतेऽपि) फलं देवानुसारतः तत् (फलं) धर्मेण अनुगुण्यं विपर्ययात् तत् वैगुण्यम् ॥ २ ॥

अर्थ—संसार के अन्य सर्वशास्त्रानुसार प्रयत्न करने पर भी फल तो भाग्य पर निर्भर होता है पर वह फल धर्म से सुलभतया प्राप्य है एवं अधर्म से फल प्राप्ति में बाधा आती है ।

छात्रः पात्रधिया पाठयमानोऽपि विदुषां मुखात् ।

एको नारदवत् ज्ञाताऽज्ञाता पर्वतवत्परः ॥ ३ ॥

अन्वय—विदुषां मुखात् पात्रधिया पाठयमानोऽपि एको छात्रः नारदवत् ज्ञाता, परः पर्वतवत् अज्ञाता ॥ ३ ॥

अर्थ—विद्वान् गुरु के मुख से समान रूप से पढ़ाए जाते हुए छात्रों में से एक नारद की भाँति ज्ञाता एवं दूसरा पर्वत की तरह जड़ ही रहता है ।

शुभाशुभफलं चैतच्चेतसा सुविमृश्यताम् ।

तुल्येऽपि साधने हेतुं विनाभेदः फले कुतः ॥ ४ ॥

अन्वय—तुल्येऽपि साधने एतत् शुभाशुभ फलं च चेतसा सुबि-
मृश्यताम् हेतुं विना फले कुतः भेदः ॥ ४ ॥

अर्थ—समान साधन का उपयोग होने पर भी मनुष्य के शुभ एवं
अशुभ कर्मों का फल निष्पन्न होता है। इसे चित्त से विचार कर देख लो।
यदि इसके मूल में कोई कारण नहीं होता तो फल में इतना अन्तर क्यों
होता है ?

यथा सर्वेषु वृक्षेषु जलमेकं पयोमुचः ।

नानारसान् जनयति धर्मः प्राणिगणे तथा ॥ ५ ॥

अन्वय—यथा सर्वेषु वृक्षेषु एकं जलं पयोमुचः (वर्षयति) नाना-
रसान् जनयति तथा धर्मः प्राणिगणे (करोति) ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सभी वृक्षों पर एक ही जल बरसाता हुआ
बादल नाना प्रकार के खारे मीठे कड़वे तीखे आदि रस वाले फलों को पैदा
करता है वैसे ही धर्म भी मनुष्य मनुष्य के कर्मों के अनुसार ही अच्छा
अथवा बुरा फल प्रदान करता है।

धर्माधर्ममयो लोक-स्तत्रापि धर्ममुख्यता ।

जीवाजीवमये देहे जीवस्यैवास्ति तत्त्वतः ॥ ६ ॥

अन्वय—लोकः धर्माधर्ममयः तत्रापि धर्ममुख्यता जीवाजीव-
मये देहे तत्त्वतः जीवस्य (मुख्यता) एव अस्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—संसार धर्म एवं अधर्म मय है पर वहाँ धर्म की ही प्रधानता
है। वैसे ही जीव एवं अजीव मय इस शरीर में तत्त्व से प्रधानता
आत्मा की है।

काले यथैव त्रैविध्यमुपचारेण गीयते ।

ज्ञानधर्मे तथैकस्मिन् भेदत्रयमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

अन्वय—यथा काले उपचारेण त्रैविध्यं गीयते तथैव एकस्मिन्
ज्ञानधर्मे भेदत्रयं उदाहृतम् ॥ ७ ॥

षष्ठोऽध्यायः

५९

अर्थ—जिस प्रकार व्यवहार से काल को तीन प्रकार का कहा जाता है भूत, भावी एवं वर्तमान। वैसे ही एक ही ज्ञानधर्म के तीन भेद बताए गए हैं। वे तीन भेद हैं ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र।

मननाद्बस्तुनो ज्ञानं श्रद्धानादर्शनं पुनः ।

विरत्या चरणं तत्त्वादुपयोगैक्यामाहितम् ॥ ८ ॥

अन्वय—मननात् वस्तुनः ज्ञानं, पुनः श्रद्धानात् दर्शनं, तत्त्वात् विरत्या चरणं उपयोगे ऐक्यं आहितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—सर्व प्रथम मनन से वस्तु का ज्ञान होता है, उस पर दृढ़ निष्ठा होने से दर्शन की प्राप्ति, एवं विरति से चारित्र की उपलब्धि होती है। किन्तु तत्त्व के अबधारण से तीनों में एकता समाई हुई है।

धर्मपुंसो मुखं ज्ञानं हृदयं दर्शनं स्मृतम् ।

शेषांगानि पाणिपाद-मुख्यानि चरणं परम् ॥ ९ ॥

अन्वय—धर्मपुंसः ज्ञानं मुखं दर्शनं हृदयं स्मृतम् शेषांगानि पाणिपादमुख्यानि चरणं परम् ॥ ९ ॥

अर्थ—धर्मरूपी पुरुष का ज्ञान ही मुख है, दर्शन उसका हृदय है, और शेष अंग हाथ पाँव आदि चारित्र रूप हैं।

धर्मस्याहो मुखं ज्ञानं मध्याह्नस्तस्य दर्शनम् ।

व्यापार संवृत्तेः संध्या योगश्चरणमुच्यते ॥ १० ॥

अन्वय—धर्मस्य अहो मुखं ज्ञानं, तस्य दर्शनं मध्याह्नः, सन्ध्या-व्यापार संवृत्तेः योगः चरणं उच्यते ॥ १० ॥

अर्थ—धर्मरूपी दिन का ज्ञान मुख (प्रभात) है, उसका मध्याह्न दर्शन है और संध्या क्रियाओं का संवर से इन सबका योग चारित्र कहा जाता है।

धर्माकाशेऽशुमान् ज्ञानं दर्शनं चामृतद्युतिः ।

परे ग्रहा मंगलाद्याः पंच चारित्रं पंचकम् ॥ ११ ॥

अन्वय—धर्मकाशे ज्ञानं अंशुमान्, दर्शनं च अमृतद्युतिः मंगलाद्या
परे ग्रहाः पंच चारित्रं पंचकम् ॥ ११ ॥

अर्थ—धर्मरूपी आकाश में ज्ञान सूर्य है, दर्शन चन्द्रमा है और
ग्रहो सामायिक छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यात
आदि चारित्रपंचक मंगल आदि अन्य ग्रह हैं ।

बाल्यं ज्ञानं वयस्तस्मात्पुरो दर्शनमुद्यतम् ।

चारित्रं विज्ञता धर्मेऽवस्थात्रयमिदं शुभम् ॥ १२ ॥

अन्वय—पुरो ज्ञानं बाल्यं वयः तस्मात् उद्यतं दर्शनं धर्मे विज्ञता
चारित्रं इदं अवस्था त्रयं शुभम् ॥ १२ ॥

अर्थ—प्रथम ज्ञान बाल्यावस्था है, उसके बाद उत्पन्न होनेवाला दर्शन
युवावस्था है, धर्म विषयक अनुभव-वृद्धता ही चारित्र है । ये तीनों ही
अवस्थाएं शुभ हैं ।

धर्मस्यादिः स्मृतं ज्ञानं सम्यक्त्वं मध्यमुच्यते ।

चारित्रमवसानोऽस्य तत्रैकैवोपयुक्तता ॥ १३ ॥

अन्वय—धर्मस्य आदिः ज्ञानं स्मृतं, सम्यक्त्वं मध्यं उच्यते,
अस्य अवसानः चारित्रं, तत्र एका एव उपयुक्तता ॥ १३ ॥

अर्थ—धर्म का मूल ज्ञान है, एवं दर्शन उसका मध्य विस्तार है,
धर्म का अन्तिम परिणाम चारित्र है, इन तीनों में चैतन्य (ज्ञान) प्रधान है ।

बोधो बीजं तथा मूलं सम्यक्त्वं दृढतायतः ।

चारित्रपंचकं शाखा फलं धर्मतरोः शिवम् ॥ १४ ॥

अन्वय—धर्मतरोः बोधः बीजं तथा दृढतायतः सम्यक्त्वं मूलं
चारित्रपंचकं शाखा फलं शिवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—धर्म रूपी वृक्ष का बीज ज्ञान है, दृढ़ता होने से सम्यक्त्व मूल है, और उसका पांच प्रकार का चारित्र उसकी शाखाएं हैं एवं उसका फल मोक्ष है ।

वातं विजयते ज्ञानं दर्शनं पित्तवारणम् ।

कफनाशाय चरणं धर्मस्तेनामृतायते ॥ १५ ॥

अन्वय—ज्ञानं वातं विजयते, दर्शनं पित्तवारणं, कफनाशाय चरणं तेन धर्मः अमृतायते ॥ १५ ॥

अर्थ—ज्ञान से वात दोष जीता जाता है, दर्शन से अर्थात् सम्यक् श्रद्धा से पित्त दोष जीता जाता है एवं चारित्र से कफ दोष समाप्त होता है । अतः धर्म संसार में अमृत ही है ।

दक्षिणांगं भवेद् ज्ञानं वामांगं भक्तिभाजनम् ।

मध्यभागेऽस्ति चारित्रं धर्मदेहस्य साधनम् ॥ १६ ॥

अन्वय—धर्म देहस्य साधनं ज्ञानं दक्षिणांगं भक्तिभाजनं वामांगं भवेत् चारित्रं मध्यभागे अस्ति ॥ १६ ॥

अर्थ—धर्म शरीर का साधन ज्ञान उसका दाहिना अंग है, भक्ति-मयता उसका बायां अंग है, चारित्र उसका मध्य भाग है । इस प्रकार ज्ञान, दर्शन चारित्र से धर्म शरीर की साधना पूर्ण होती है । धर्म अमृत स्वरूप है ।

ज्ञाने पुंस्त्वं पुनः स्त्रीत्वं भक्त्या दर्शनवृद्धये ।

तदंगजन्मा चारित्राचारः स्यादुभयोत्तमः ॥ १७ ॥

अन्वय—ज्ञाने पुंस्त्वं पुनः भक्त्या दर्शनवृद्धये स्त्रीत्वं तदंगजन्मा चारित्राचारः उभयोत्तमः स्यात् ॥ १७ ॥

अर्थ—ज्ञान में पुरुषत्व है, श्रद्धा की वृद्धि के हेतु की गई भक्ति से दर्शन में स्त्रीत्व है । इन दोनों से उत्पन्न चारित्राचार दोनों में सर्वोत्तम

है। यहां ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता बताई गई है पर उन दोनों से उत्पन्न चारित्र श्रेष्ठ है।

ज्ञानं स्यादेकवचने द्वित्वेऽपि ज्ञानदर्शने।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यैर्धर्मोऽस्ति वचनत्रयी ॥ १८ ॥

अन्वय—एक वचने ज्ञानं स्यात्, द्वित्वे ज्ञानदर्शने, ज्ञान दर्शन चारित्र्यैः धर्मः वचनत्रयी अस्ति ॥ १८ ॥

अर्थ—ज्ञान धर्म का एक वचन है, ज्ञान दर्शन धर्म के द्विवचन है, ज्ञान दर्शन चारित्र से धर्म का बहुवचन सिद्ध होता है। इस प्रकार धर्म में तीनों वचनों का समावेश है।

उर्ध्वलोके स्थितं ज्ञानमधोलोके च दर्शनम्।

चारित्रं मध्यलोकस्थं धर्मस्थं भुवनत्रयम् ॥ १९ ॥

अन्वय—ज्ञानं उर्ध्वलोके अधोलोके च दर्शनं स्थितं चारित्रं मध्यलोकस्थं भुवनत्रयं धर्मस्थं ॥ १९ ॥

अर्थ—उर्ध्वलोक में ज्ञान है तो अधोलोक में दर्शन तथा मध्य लोक में चारित्र स्थित है, इस प्रकार तीनों लोक धर्म में स्थित है।

संध्याभक्तिर्दिनं ज्ञानं यामिनी चरणं स्मृतम्।

धर्मध्यानादृते सर्व-व्यापारभरसंवरात् ॥ २० ॥

अन्वय—संवरात् संध्या भक्ति ज्ञानं दिनं चरणं यामिनी स्मृतम्। धर्मध्यानात् ऋते सर्व व्यापार भरः ॥ २० ॥

अर्थ—भक्ति संध्या है, ज्ञान दिन है एवं चारित्र रात्रि है। यदि इनमें संवर स्वरूप धर्म ध्यान नहीं किया जाय तो ये सब आस्रव का कारण होगी।

व्यापार भर=अर्थात् कर्मों को भरने वाला आस्रव।

एवं त्रिधा वस्तुगते तं भविने निदर्शितम् ।
रत्नत्रयं तत्त्वतोऽपि स्यादेकं तदनेकभूः ॥ २१ ॥

अन्वय—एवं तं (धर्मः) वस्तुगते त्रिधा भविने निदर्शितम् ।
तत्त्वतः रत्नत्रयं एकं अपि तत् अनेक भू स्यात् ॥ २१ ॥

अर्थ—इस प्रकार वह धर्म प्रत्येक वस्तु में तीन प्रकार से समाविष्ट है जो मैंने भवि जीवों को उनके हित के लिए बताए हैं । तत्त्व से ये ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूप रत्नत्रय एक होते हुए भी अनेक रूप हो जाते हैं ।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

सप्तमोऽध्यायः

सद्धर्मका स्वरूप

[अंतःमलको दूर करने के लिये तपका महत्त्व दिखाया है। तपोमय आचरण अनिवार्य समझाया है। सातवें अध्यायमें ज्योतिष शास्त्रानुगत ज्ञानमय धर्ममार्ग का विवेचन किया गया है। जैसा ज्योतिचक्र आकाश में है वैसा ही ज्ञानचक्र हृदय में निवास करता है। ब्रह्माण्ड में जैसे सूर्य के प्रकाशित होने पर ज्योतिचक्र प्रकाशित होता है वैसे ही ज्ञानधर्ममय सूरज के प्रकाशित होने पर विवेकमार्ग का पता लगता है। रूपकसे समझें तो धर्म रूपी गाय का ज्ञान दूध है, श्रद्धा (दर्शन) दही है एवं चारित्र्य घी है। ये तीनों ही आत्माको अनन्त वीर्यत्व प्रदान करने वाले हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरुओं की सेवना, श्रद्धा (दर्शन) की पुष्टि के लिए देवदर्शनादि उपासना करनी चाहिए।

अन्त में ज्योतिष शास्त्रानुसार मनःस्थिति का विवेचन करते हुए यह संदेश दिया गया है कि हठात् अधर्म की प्रवृत्ति में युक्त अवश चित्तको महान दुःखका कारण दिखाया है एवं जिसका मन धर्म के वश में है सारा संसार उसी के वश में होता है।]

सप्तमोऽध्यायः

अ. गी. - ५

६५

सप्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐहिकामुष्मिकफलं यथा ज्योतिर्विदो जनाः ।

जानन्ति तद् ज्ञानधर्म-मार्गाद्विद्यं कथं प्रभो ॥ १ ॥

अन्वय—यथा ज्योतिर्विदो जनाः ऐहिकामुष्मिकफलं जानन्ति तद् ज्ञानधर्ममार्गात् प्रभो ! कथं वेद्यम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सांसारिक प्राणियों के ग्रहों का अमुक फल है ऐसा ज्योतिषी जान लेते हैं वैसे ही ज्ञान रूपी धर्म मार्ग से यह कैसे जाना जा सकता है कि इसका अमुक फल होगा ।

श्री भगवानुवाच

अतिचारोऽथ वक्रत्वं ज्योतिर्विद्भिर्निषिध्यते ।

मार्गं एवं ग्रहात्साध्यस्तथैव धार्मिकैरपि ॥ २ ॥

अन्वय—अथ ज्योतिर्विद्भिः ग्रहात् अतिचारः वक्रत्वं निषिध्यते एवं तथैव धार्मिकैः अपि मार्गः साध्यः ॥ २ ॥

अर्थ—ज्योतिषी ग्रहों का एक राशि पर भोगफल समाप्त हुए बिना दूसरी राशि पर चले जाने के अतिचारको तथा ग्रहों की वक्रगति को (बुरा बताकर उनका अच्छे फल के लिए निषेध करते हैं वैसे ही धार्मिक लोग भी मर्यादा का उल्लंघन न कर एवं दुराचरण का निषेध कर सन्मार्ग के लक्ष पर आगे बढ़ते हैं। अर्थात् ग्रह मार्गी हो तो कार्य सधता है ।

वक्त्री—जो ग्रह पीछे लौटकर चलता है ।

अतिचारी—जो ग्रह अपने मार्ग पर सामान्य गति की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से चलकर दूसरी राशि पर पहुँच जाता है ।

मार्गी—जो ग्रह सामान्य गति से अपनी राशिपर पूरा समय व्यतीत करता है ।

स्पष्टीभूते यथा भानौ ज्योतिर्मार्गप्रकाशनम् ।
तथा ज्ञानधर्मे सूर्ये सम्यग्मार्गनिरीक्षणम् ॥ ३ ॥

अन्वय—यथा भानौ स्पष्टीभूते ज्योतिः मार्गप्रकाशनम् तथा ज्ञान-
धर्मे सूर्ये सम्यग् मार्गनिरीक्षणम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य के स्पष्ट होने पर अन्य ग्रहों का मार्ग प्रकाशित हो जाता है वैसे ही ज्ञानधर्म के सूर्य के प्रकाशित होने पर मोक्ष मार्ग स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है ।

ज्ञानमेव सहस्रांशु हृदि ब्रह्मामृतं परम् ।
ज्योतिः शास्त्रेऽपि तेनैव यथार्थं मननं भवेत् ॥ ४ ॥

अन्वय—ज्ञानमेव सहस्रांशु हृदि परं ब्रह्मामृतं तेन एव ज्योतिः
शास्त्रेऽपि (सहस्रांशोः) यथार्थं मननं भवेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—ज्ञान रूप ही सूर्य है एवं यही हृदय में परम ब्रह्म एवं अमृत रूप में निवास करता है अतः ज्योतिष शास्त्र में भी इसी सूर्य का ही चिन्तन-मनन होता है ।

✓ ज्ञानं दुग्धं दधि श्रद्धा घृतं तच्चरणं स्मृतम् ।
गुरोर्गव्यमिदं धर्म्यं धार्यं चानन्तवीर्यदम् ॥ ५ ॥

अन्वय—ज्ञानं दुग्धं दधि श्रद्धा तत् चरणं घृतं स्मृतम् । गुरोः इदं
धर्म्यं अनन्तवीर्यदं च गव्यं धार्यम् ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्ञान दुग्ध स्वरूप है, श्रद्धा दधि स्वरूप है एवं उन ज्ञान तथा श्रद्धानुसार आचरण करना घृत स्वरूप है । अतः गुरुसे अनन्तवीर्य प्रदायक इस धर्मरूप (ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य) घृत प्राप्त करना चाहिए ।

सप्तमोऽध्यायः

६७

ज्ञानार्थं गुरवः सेव्या देवा दर्शनपुष्टये ।

वस्त्रपात्रं चारित्राय धर्मस्तत्त्वत्रयीमयः ॥ ६ ॥

अन्वय—ज्ञानार्थं गुरवः, दर्शनपुष्टये देवाः सेव्याः चारित्राय वस्त्रपात्रं (सेव्यं) धर्मः तत्त्वत्रयीमयः ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरुओं की तथा दर्शन याने श्रद्धा की वृद्धि के लिए देवताओं की सेवा तथा चारित्र की पुष्टि के लिए वस्त्रों तथा पात्रों का—यानि उपकरणों का उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार धर्म इन ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की तत्त्वत्रयी से युक्त है।

संशोध्य तपनात्कृत्वा व्रताज्यमकषायकम् ।

अजरामरता लब्ध्वै निपीतममृतोपमम् ॥ ७ ॥

अन्वय—तपनात् व्रताज्यं संशोध्य अकषायकं कृत्वा अजरामरता लब्ध्वै अमृतोपमं (तं) निपीतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(ज्ञान दर्शन और चारित्रयुक्त) व्रत रूपी घी को तपस्या से शुद्ध कर उसे क्रोध मोह लोभादि कषायों रूपी मलसे रहित कर अमृत जैसे उस घी का पान करो अजर और शाश्वत अवस्थाको प्राप्त करते हैं। अर्थात् चारित्रको तपसे संशुद्ध करना जरूरी है।

ज्योतिश्चक्रं यथा व्योम्नि ज्ञानचक्रं तथा हृदि ।

दिव्यं मनोभिधानं तद्विश्वविश्वप्रकाशकम् ॥ ८ ॥

अन्वय—यथा व्योम्नि ज्योतिश्चक्रं तथा हृदि ज्ञान चक्रं । मनो-भिधानं तत् दिव्यं विश्व-विश्वप्रकाशकम् । ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आकाश में ज्योतिश्चक्र प्रकाशमान है वैसे ही हृदय में ज्ञानचक्र प्रकाशित है। दिव्य मन रूप यह ज्ञानचक्र सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाला है।

संसारचक्रात्संवृत्य ब्रह्मण्याधीयते मनः ।

प्रसन्नचन्द्रवत्तर्हि सद्यः केवलमुद्भवेत् ॥ ९ ॥

अन्वय—संसारचक्रात् संवृत्य यदि ब्रह्मणि मनः आधीयते तर्हि प्रसन्नचन्द्रवत् सद्यः केवलं उद्भवेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि संसार चक्र में प्रवर्तमान मन को समेट कर ब्रह्म में लीन किया जाय तो (पूर्ण कलमें) प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

संकल्पवातैरुल्लास्यमानं स्यान्मनसः सरः ।

कलुषं किल तन्मध्यमग्नं किञ्चिन्न वीक्ष्यते ॥ १० ॥

अन्वय—यदि संकल्पवातैः मनसः सरः उल्लास्यमानं स्यात् (तर्हि) तन्मध्यमग्नं कलुषं किल किञ्चित् न वीक्ष्यते ॥ १० ॥

अर्थ—पाप पर हमारा दृष्टिपात क्यों नहीं होता उसे समझाते हुए कहते हैं—यदि संकल्प विकल्प रूपी वायु से अन्तस् सरोवर को हिला दिया जाय तो उसके मध्य में स्थित पाप रूपी पंक थोड़ा भी दिखाई नहीं देता जिस प्रकार वायु से हिलाए गए सरोवर के मध्य में स्थित कलुष दृष्टि गोचर नहीं होता है । इस मनके मैलको दूर करनेका उपाय आगे दिखाया गया है ।

मनोमलविशुध्यै तत् मुनिर्निर्दोषमाहरेत् ।

पर्वण्युपोष्य शेषेऽह्नि द्विवैकशोऽशनं शनैः ॥ ११ ॥

अन्वय—तत् मनोमल विशुध्यै मुनिः निर्दोषं आहरेत् । पर्वणि उपोष्य शेषे अह्नि द्विःवा एकशः शनैः अशनं (कुर्यात्) ॥ ११ ॥

अर्थ—अतः साधु को मन के मैल की विशुद्धि के लिए निर्दोष आहार को ग्रहण करना चाहिए । तिथियों के दिनों में उपवास एवं शेष दिनों में एक बार अथवा दो बार धीरे धीरे आहार ग्रहण करना चाहिए ।

सप्तमोऽध्यायः

६९

रागसंवर्धनं भूरि विकृत्यादिविषादिकम् ।

द्वेषकृन्मोहकृन्मद्यं नाश्रीयाद् ज्ञानवान् मुनिः ॥ १२ ॥

अन्वय—भूरि विकृत्यादि विषादिकम् रागसंवर्धनं मत्वा ज्ञानवान् मुनिः (द्वेषकृत् मोहकृत्) मद्यं न अश्रीयात् ॥ १२ ॥

अर्थ—ज्ञानवान् मुनि मद्यादि अभक्ष्य वस्तुओंको विकृतिकारक आदि विषमय राग बढ़ाने वाली वस्तु समझ कर उसका प्रयोग नहीं करे ।

यथान्यचेतसो वृत्ते ज्ञानाय लग्नमीक्ष्यते ।

चन्द्रस्वरूपमत्रापि तथा स्वमनसोऽप्यहो ॥ १३ ॥

अन्वय—यथा अन्यचेतसः वृत्तेः ज्ञानाय लग्नं ईक्ष्यते । तथा अत्रापि स्वमनसः (ज्ञानाय) चन्द्रस्वरूपं (ईक्ष्यते) ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अन्य लोगों के विषय में जानकारी के लिए लम्ब कुण्डली देखी जाती है वैसे ही आध्यात्म विद्या में भी अपने मन की जानकारी के लिए व्यक्ति के प्रकट स्वरूप को देखा जाता है । ज्योतिष में चन्द्रमा मन का स्वामी होता है एवं वह अच्छे लम्ब में स्थित हो तो उस व्यक्ति की मानसिक स्थिति अच्छी होती है । लम्ब में चन्द्रमा जीव रूप माना गया है लम्ब शरीर है तो चन्द्रमा प्राण है । लम्बो देहः प्राणश्चन्द्रो ।

चन्द्रराशिर्मनश्चक्रं तिथयो वत्सरास्तथा ।

तत्त्रिंशांशाद् द्वादशांशान्मासापक्षस्तु होरया ॥ १४ ॥

अन्वय—चन्द्रराशिः मनश्चक्रं तिथयः वत्सराः तथा तत् त्रिंशांशात् द्वादशांशात् मासा पक्षः तु होरया ॥ १४ ॥

अर्थ—चन्द्रमा की राशि मन का घर मानी जाती है । जन्मपत्री के बारह कोठों में से चन्द्रमा जिस घर में होगा उसी के बलाबल पर मन की

स्थिति जानी जायगी। उसके ही तीसरे हिस्से से तिथि एवं दिन तथा बारहवें हिस्से से मास एवं होरा से पक्षों का ज्ञान हो जाता है।

नवग्रहाः नवांशेभ्यो वाराः सप्तांशलाभतः।

भावाश्च राशिकुण्डल्यां भाव्याः ग्रहबलोदयात् ॥ १५ ॥

अन्वय—राशि कुंडल्यां नवांशेभ्यः नवग्रहाः सप्तांशलाभतः वाराः ग्रहबलोदयात् भावाश्च भाव्याः ॥ १५ ॥

अर्थ—चन्द्रके नवांश से नव ग्रहों का ज्ञान होता है, सप्तांश से वारों का ज्ञान तथा राशि, कुंडली से भावों का ज्ञान होता है। इस प्रकार ग्रहों के बलाबल और उदयों से भावों को समझना चाहिए।

कुंडलीमें भाव बारह हैं—तनु, धन, सहज, सुहृत्, पुत्र, शत्रु, कलत्र, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय, व्यय आदि।

चन्द्रविश्ववशाविष्टाः षट्त्रिंशद्द्वादशाथवा।

प्रति द्रेष्काणमिन्दोः स्यात् नक्षत्रं नवकं क्रमात् ॥ १६ ॥

अन्वय—षट्त्रिंशत् अथवा द्वादश। चन्द्रविश्ववशाविष्टाः। प्रति द्रेष्काणं इन्दोः क्रमात् नक्षत्रं नवकं स्यात् ॥ १६ ॥

अर्थ—चन्द्रमा की स्थिति से आविष्ट ३६ अथवा १२ संख्या (राशि) वाले प्रत्येक द्रेष्काण में चन्द्रमा के नौ नौ नक्षत्र होते हैं। जैसे :—

अश्विनी	भरणी	कृत्तिका
(१)	(२)	(३)
रोहिणी	मृग	आर्द्रा
(१)	(२)	(३)

आदौ मध्येऽवसाने वा ज्ञेयं भानां त्रयं त्रयं।

त्रयेऽप्याद्यं चरेच्चन्द्रे द्वितीयं भं स्थिरे पुनः ॥ १७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

७१

अन्वय—आदौ मध्ये अवसाने वा भानां त्रयं त्रयं ज्ञेयं । त्रयेऽपि
आद्यं चन्द्रे चरेत् द्वितीयं भं पुनः स्थिरे ॥ १७ ॥

अर्थ—द्रेष्काण में २७ नक्षत्रों के आदि के नौ मध्य के नौ व अन्त
के नौ के क्रम से सत्ताईस नक्षत्र हुए । नक्षत्रों के आदि के त्रिकू में स्थित
चन्द्रमा चर माना जाता है मध्य त्रिकू में स्थिर है ।

द्विस्वभावे तृतीयं भमेवं नक्षत्रनिर्णयः ।

प्रभुत्वान्मनसश्चेन्दोरेवं गम्या मनोगतिः ॥ १८ ॥

अन्वय—तृतीयं भं द्विस्वभावे एवं नक्षत्रनिर्णयः एवं इन्दो।
प्रभुत्वात् मनसः मनोगति गम्या ॥ १८ ॥

अर्थ—नक्षत्रों के तीसरे त्रिकू में स्थित चन्द्रमा द्वि स्वभाव में
चर और स्थिर दोनो जानना चाहिए । इस प्रकार नक्षत्रों से चन्द्रमा का
निर्णय होता है । इस प्रकार चन्द्रमा के प्रभुत्व के कारण मनोगति की
अवस्था भी स्थिर, चर एवं द्विस्वभावी मानी जाती है ।

दुष्टायां मनसो गत्यां ज्ञातायां न शुभां क्रियाम् ।

कुर्याच्चातुर्यवान् धीरः श्रेष्ठायां नाशुभां ततः ॥ १९ ॥

अन्वय—दुष्टायां मनसः गत्यां ज्ञातायां शुभां क्रियां न धीरः
चातुर्यवान् श्रेष्ठायां कुर्यात् ततः न अशुभां ॥ १९ ॥

अर्थ—इस प्रकार चन्द्रमा की स्थिति अनुसार मन की गति दुष्ट होने
पर क्रिया शुभ नहीं होती है । इसलिए चतुर धीर पुरुष श्रेष्ठ स्थिर मनो-
गति में अर्थात् श्रेष्ठ चन्द्र होने पर कार्य करें उससे अशुभ नहीं होता है

अधर्मे चेत्प्रवर्तेत मनः स्वीयं पुनः पुनः ।

तदा भावि महद् दुःखं मत्वा तत् धारयेत्ततः ॥ २० ॥

अन्वय—स्वीयं मनः पुनः पुनः चेत् अधर्मे प्रवर्तेत तदा भावि
महद् दुःखं मत्वा तत् ततः धारयेत् ॥ २० ॥

अर्थ—अधर्म में यदि मन बार बार प्रवृत्त होता है, रोकने पर बलात् प्रवृत्त होता है तो महान् दुःख की सम्भावना समझनी चाहिए। साधकको सचेत होकर इस प्रकार अशुभ में जाते हुए मन को शुभभाव में धारण करना चाहिए।

धर्मे यस्य मनो वश्यं वश्यं तस्य जगत्त्रयम् ।
सेवापरवशाः देवाः भवेयुस्तद्भवेऽप्यहो ॥ २१ ॥

अन्वय—अहो यस्य मनः धर्मे वश्यं तस्य जगत् त्रयं वश्यं। तद् भवे अपि देवाः सेवापरवशाः भवेयुः ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसका मन धर्म में लीन है तीनों ही लोक उसके वशीभूत हैं। यही लोक में भी देवता उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं।



॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

अष्टमोऽध्यायः

सद्धर्म का स्वरूप

[आठवे अध्याय में धर्म को आत्मा का यान बताया गया है जिसमें ज्ञानी पुरुष मार्ग-प्रकाशक, चारित्र्यी उसके नियामक तथा श्रद्धालु उसमें बैठकर भवसागर से पार जाते हैं। इस रूपक का यह आशय है कि ज्ञानियों ने मार्ग बताया है, चारित्र्यधारी साधु समुदाय ने उस मार्ग का नियमन किया है एवं श्रद्धावान् उस मार्गपर चल रहे हैं। ज्ञान के लिए शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा कर्म के लिए पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। श्रद्धापूर्वक इनका प्रयोग होने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं। इसी अध्याय में हिंसामय कथित धर्मों एवं देवी देवताओं का स्वरूप बताकर उनकी निन्दा करते हुए अहिंसाप्रधान जैनधर्म के स्वरूप का विवेचन किया गया है कि जिस धर्म में क्षमावान् गुरु सर्वज्ञ रूप में जीव की रक्षा में तत्पर हैं उस धर्म का मूल विनय है, स्वरूप यम नियमादिमय हैं, उसका विस्तार पंचाचार एवं फल मोक्ष है। यही जैनधर्म का स्वरूप है।]

* * *

अष्टमोऽध्यायः

ऐन्द्रे प्रवहणे धर्मे ज्ञानी मार्गप्रकाशकः ।

निर्यामकस्तु चरणी दर्शनी पारगः स्थिरः ॥ १ ॥

अन्वय—धर्मे ऐन्द्रे प्रवहणे ज्ञानी मार्ग प्रकाशकः चरणी तु निर्यामकः स्थिरः दर्शनी पारगः ॥ १ ॥

अर्थ—आत्म धर्म की नाव में ज्ञानी मार्ग बताने वाला होता है तो चारित्रनिष्ठ व्यक्ति उस नौका का खिवैया है एवं सम्यग् दर्शनी उससे पार जाने वाला मुसाफिर है ।

रागः कज्जलिका द्वेषो वह्निस्थानं विमूर्च्छना ।

मोह एतत्त्रयीनाशे पारदोऽङ्गी सुसिद्धिभाक् ॥ २ ॥

अन्वय—रागः कज्जलिका द्वेषः वह्निस्थानं मोह विमूर्च्छना एतत् त्रयीनाशे सुसिद्धिभाक् पारदः अङ्गी भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—संसार में राग ही कालिख है जो कलंक लगाती है । द्वेष आग है जो जलाता है एवं मोह बेहोशी है जिससे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है । इन तीनों का नाश होने पर ही जीव पारद के समान सिद्धि-शाली होता है ।

ज्योतिर्ज्ञानं पुनः स्नेहः श्रद्धा वृत्तं तु वर्तिका ।

जिनप्रवचने सौधे धर्म दीपः प्रकाशताम् ॥ ३ ॥

अन्वय—ज्ञानं ज्योतिः पुनः श्रद्धा स्नेहः वृत्तं तु वर्तिका । जिन प्रवचने सौधे धर्मदीपः प्रकाशताम् ।

अर्थ—श्रद्धा के स्नेह में चारित्र की बात्ती भिगो कर ज्ञान ज्योति रूप इस धर्म दीप को जैनागम रूपी महल में प्रकाशित करो ।

पञ्चेन्द्रियाणि ज्ञानस्य क्रियायाः पञ्चवस्तुतः ।

अनिन्द्रियस्य मनसः श्रद्धाकार्याणि साधयेत् ॥ ४ ॥

अन्वय—ज्ञानस्य पञ्चेन्द्रियाणि क्रियायाः पञ्चवस्तुतः अनिन्द्रियस्य मनसः श्रद्धाकार्याणि साधयेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—साधक को चाहिए कि वह ज्ञान की पांच इन्द्रियों व पांच कर्मेन्द्रियों एवं अनिन्द्रिय मन को श्रद्धा पूर्ण कार्यों में योजित करे ।

लोक प्रतीता सर्वज्ञे यथा नेत्रत्रयीश्वरे ।

स्वेष्टदानेश्वरस्यासौ ज्ञानादिधर्मभूभुजः ॥ ५ ॥

अन्वय—यथा सर्वज्ञे ईश्वरे नेत्रत्रयी लोक प्रतीता (तथैव) स्वेष्ट-दानेश्वरस्य धर्मभूभुजः असौ ज्ञानादि ।

अर्थ—जिस प्रकार सर्वज्ञ ईश्वर के तीन नेत्र संसार में प्रसिद्ध हैं वैसे ही इष्टदान देने वाले धर्म राजा के भी ज्ञान दर्शन तथा चारित्र रूप त्रिनेत्र हैं ।

विना रत्नत्रयं धर्म्यं नैवालङ्कृतिता क्वचित् ।

व्यसनाद्वारिते तस्मिन् ध्रुवं दौर्गत्यवान्नरः ॥ ६ ॥

अन्वय—रत्नत्रयं धर्म्यं विना क्वचित् अलङ्कृतिता नैव, व्यसनाद् वारिते तस्मिन् नरः ध्रुवं दौर्गत्यवान् ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन तथा चारित्र के विना धर्माचरण शोभित नहीं होता । विपत्ति से उद्विग्न एवं धर्म साधना से भ्रान्त नर निश्चय ही दुर्गति का पात्र होता है ।

यानपात्रं सितपटं विना कस्तारयेज्जले ।

तस्माद्भवजलोत्तारे न्याय्यः सितपटादरः ॥ ७ ॥

अन्वय—जले सितपटं विना यानपात्रं कः तारयेत् । तस्माद् भवजलोत्तारे सितपटादरः न्याय्यः ॥ ७ ॥

अर्थ—जल में सफेद पाल के बिना नौका का कौन रक्षण कर सकता है? कोई नहीं। वेसे ही संसार सागर से पार होने के लिए श्वेतवस्त्र-धारी साधुओं का आश्रय लेना चाहिए।

ज्ञानं सूत्रं रुचिश्वार्थो निर्युक्तिरुभयात्मकम् ।

चरणं तत्रये धर्मशास्त्रं बोधाय देहिनाम् ॥ ८ ॥

अन्वय—ज्ञानं सूत्रं रुचिः च अर्थः निर्युक्तिः उभयात्मकम् ।
देहिनां बोधाय त्रये चरणं तत् धर्मशास्त्रम् ॥ ८ ॥

अर्थ—ज्ञान सूत्र है—उसमें रुचि अर्थ है, इन दोनों से मिलकर निर्युक्ति (विवेचन) बनती है। सूत्र अर्थ एवं निर्युक्ति ये तीनों मिलकर चारित्ररूप (आचार) होता है। यही सूत्र विवेचन एवं तदनुसार वर्तन धर्म कहलाता है जो प्राणियों के बोधि के लिए होता है।

धर्मो वृषभमूर्त्यैव श्रद्धेयः श्राद्धरोचकैः ।

पदैश्वतुभिः पूर्णोऽयं नात्र किं सुकृतोदयः ॥ ९ ॥

अन्वय—धर्मो वृषभ मूर्त्यैव श्राद्धरोचकैः श्रद्धेयः। अयं चतुर्भिः
पदैः पूर्णः। अत्र सुकृतोदयः किं न।

अर्थ—यह धर्म नन्दी की मूर्ति की तरह ज्ञान दर्शन चारित्र एवं तप रूप चारों पदों से पूर्ण है एवं निष्ठावान् पुरुषों के द्वारा श्रद्धा करने योग्य है। इसका आचरण करने पर पुण्योदय क्यों नहीं होगा ?

देवः कृष्णो वराहास्यः कल्की यत्राभिमन्यते ।

विप्रयोगि गुरुत्वं च धर्मः स कलितोदितः ॥ १० ॥

अन्वय—यत्र देवः कृष्णः वराहास्यः कल्की। विप्रयोगि गुरुत्वं
च अभिमन्यते सः धर्मः कलितोदितः।

अर्थ—जहाँ पर देवता के कृष्ण वराहावतार कल्की अवतार आदि संसार जनित रूप माने जाते हैं और जहाँ विपरिताचारी को गुरुत्व के पद से

विभूषित किया गया वह धर्म कलियुग में उत्पन्न हुआ है। (अर्थात् परमात्मा के सांसारिक स्वरूप संसार भाव युक्त जन्य ही कहे जायेंगे। आध्यात्मिक दृष्टि से ये रूप मान्य नहीं हो सकते हैं।)

जातवेदः प्रतिष्ठाने भूसुराद्रित गौरवे ।

मतिर्नावति हासादौ रागी धर्मेण तत्र कः ॥ ११ ॥

अन्वय—(यत्र) जातवेदः प्रतिष्ठाने भूसुराद्रित गौरवे इतिहासादौ मतिः न वा तत्र धर्मेनुरागी कः ॥ ११ ॥

अर्थ—यज्ञादि (बाह्यान्तर तप) एवं ज्ञानी (ब्रह्म-ज्ञान धर्मानुसारी) के गौरव में प्रतिष्ठित हमारी ऐतिहासिक धार्मिक परंपरा में जिनकी बुद्धि नहीं है उन्हें धर्मानुरागी कैसे कहा जा सकता है ?

यत्रास्ति वामनो देवो धर्मे नाम्ना जनार्दनः ।

गुरौ च कण्ठमालाऽस्मिन् न्याय्यः पूज्यः कलिप्रियः ॥ १२ ॥

अन्वय—यत्र धर्मे वामनः जनार्दनः नाम्ना देवः कलिप्रियः पूज्यः अस्मिन् गुरौ कण्ठमाला न्याय्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस धर्म में देवता को वामन (छोटा) एवं जनपीडाकारी (जनार्दन) नाम दिया गया। जहाँ कलिप्रिय गुरुओं को सम्मान दिया गया वैसे ही धर्म में ऐसे गुरुओं को कंठहार मानना न्याय संगत हो न सकता है।

देवोऽस्थिधन्वा पुरुषास्थिमाला यत्र भैरवः ।

कापालिकाश्च गुरवः तद्धर्मे वार्तया शिवम् ॥ १३ ॥

अन्वय—यत्र अस्थिधन्वा देवः पुरुषास्थिमाला भैरवः कापालिकाः च गुरवः तद्धर्मे वार्तया (एव) शिवम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस धर्म में हड्डियों के धनुष धारण करने वाले देवता हैं एवं रक्षक भैरव पुरुषों की मुण्ड माला धारण करने वाले हैं, जहाँ गुरु

मनुष्य की खोपड़ी धारण करने वाले कापालिक हैं उस धर्म में तो केवल बातों में ही मंगल है ।

देवो मायासुतस्तस्य मायाराध्यैव बुध्यते ।

मायाराधनतो ब्रह्ममयो धर्मः श्रुतौ मतः ॥ १४ ॥

**अन्वय—तस्य देवः मायासुतः माया एव आराध्या बुध्यते ।
मायाराधनतः ब्रह्ममय धर्मः श्रुतौ मतः ॥ १४ ॥**

अर्थ—उस धर्म के देवता माया जन्य हैं एवं वहाँ माया की ही आराधना की जाती है । माया की आराधना से होने वाला ब्रह्ममय धर्म श्रुति में ही बताया गया है ।

देवः श्रीनाभिभूः पूर्वो वर्धमानस्तथान्तिमः ।

अन्योऽप्यजित शान्त्याद्यस्तत्र धर्मे शिवं दृढम् ॥ १५ ॥

अन्वय—(यस्मिन् धर्मे) पूर्वः देवः श्री नाभिभूः तथा अन्तिम वर्धमानः अन्यः अपि अजित शान्त्याद्यः तत्र धर्मे शिवं दृढम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस धर्म में प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव व अन्तिम श्री वर्धमान जिनेश्वर हैं अन्य तीर्थङ्कर श्री अजितनाथ, शान्तिनाथ आदि हैं उस धर्म से निश्चय ही मंगल होगा ।

क्षमाप्रधाना गुरवः सर्वाङ्गज्ञानभाजनम् ।

दक्षाः षडङ्गिरक्षायां शिक्षायां सुगुरोस्तथा ॥ १६ ॥

अन्वय—क्षमाप्रधानाः गुरवः सर्वाङ्गज्ञानभाजनम् षडङ्गिरक्षायां शिक्षायां दक्षाः सुगुरोस्तथा ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस धर्म के गुरु क्षमा प्रधान हैं सभी आगमों का जिन्हें ज्ञान है । छ जीवनिकाय का रक्षण-पालन एवं शिक्षण में (जो दक्ष हैं) वे वास्तव में सुगुरु हैं ।

अष्टमोऽध्यायः

७९

धर्मस्य मूलं विनयः स्वरूपं नियमा यमाः ।

विस्तारः पंचधाचारः फलं चास्यापुनर्भवः ॥ १७ ॥

अन्वय—धर्मस्य मूलं विनयः, नियमा यमाः स्वरूपं, विस्तारः पंचधाचारः, अपुनर्भवः च अस्य फलम् ॥ १७ ॥

अर्थ—इस धर्म का मूल विनय है, यम नियम इसका स्वरूप है। पंचाचार इसका विस्तार है और इसका फल मोक्ष प्राप्ति है।

धर्मध्यानात्मनःशौचं वाक्शौचं सत्यनिश्चयात् ।

दयाचरणतः कायशौचमालोचयेन्मुनिः ॥ १८ ॥

अन्वय—धर्मध्यानात् मनःशौचं, सत्यनिश्चयात् वाक्शौचं दयाचरणतः कायशौचं मुनिः आलोचयेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—साधु को चाहिए कि वह धर्मध्यान से मन की शुद्धि करे, सत्य भाषा से वाणी की शुद्धि करे एवं भूत मात्र प्राणीमात्र के प्रति दया के आचरण से शरीर की पवित्रता का सम्पादन करे। इस प्रकार मन वचन एवं काया की शुद्धि होगी।

शौचं च द्रव्यभावाभ्यां यथार्हं चार्हतास्मृतम् ।

अस्वाध्यायं निगदता दशधौदारिकोद्भवम् ॥ १९ ॥

अन्वय—यथार्हं औदारिकोद्भवं दशधा अस्वाध्यायं निगदता च अर्हता द्रव्यभावाभ्यां शौचं स्मृतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—स्वाभाविक रूपसे उदर से उत्पन्न दस प्रकार की अशुचियों का कथन करते हुए अरिहंत भगवन्तों ने शौच को द्रव्य एवं भाव से दो प्रकार का कहा है।

कुदेवे कुत्सिता भक्तिः कुज्ञानं कुगुरोर्भवेत् ।

कुलिंगात्धर्मं कुत्सैव ज्ञेया श्रीधनपालवत् ॥ २० ॥

अन्वय—कुदेवे कुत्सिता भक्तिः कुगुरोः कुज्ञानं भवेत् कुलिंगात्
धर्मं कुत्सा एव श्री धनपालवत् ज्ञेया ॥ २० ॥

अर्थ—कुदेवों की भक्ति कुत्सित भक्ति होती है तथा कुगुरुओं से होने वाला ज्ञान कुज्ञान होता है। अशुभ लक्षणों से श्री धनपालसेठ की तरह धर्म के प्रति घृणा ही होगी। अतः धर्म सुदेव सुगुरु एवं शुभ लक्षणों से युक्त होना चाहिए।

उज्ज्वलात्पक्षतः कृष्णेपक्षेऽन्ये यान्ति धार्मिकाः ।

आर्हताः कृष्णतः शुक्ले विशन्ति सुधियः न किं ॥ २१ ॥

अन्वय—अन्ये धार्मिकाः उज्ज्वलात् पक्षतः कृष्णे पक्षे यान्ति ।
आर्हताः कृष्णतः शुक्ले (अतः) सुधियः किं न विशन्ति ॥ २१ ॥

अर्थ—अन्य धर्मावलम्बी जहाँ धर्म के उज्ज्वल पक्ष से तमस् पक्ष की ओर जाते हैं वहीं जैन धर्मावलम्बी अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ते हैं अतः विद्वान् बुद्धिमान् क्यों नहीं इस धर्म का आचरण करेंगे अर्थात् अवश्य करेंगे।

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥

नवमोऽध्यायः

वीतरागभाव की महत्ता

[नवें अध्याय में बताया गया है कि आत्मस्वरूपानुसंधान से आत्म ज्योति प्रकट होती है। इसके लिये अज्ञान और मोहरूपी अन्ध तमस् और जडता का क्षय आवश्यक है। जिस प्रकार प्रकाशमयी होने के कारण अग्नी की स्वभावतः एक ऊर्ध्व गति है उसी प्रकार आत्मा भी प्रकाशमयी होने से उसकी ऊर्ध्वगति निश्चित है। पुद्गल के संयोग से आत्मा की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति में रुकावट आती है। बोझिल होने से अधोगति होती है। कर्मक्षय से पुद्गलका बोझ हलका होता है। जो जैसा ध्यान करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। शुभ ध्यान से शुभ की प्राप्ति अवश्य है। पुद्गल के स्वभावसे मायामयी सृष्टि उत्पन्न होती है। माया स्त्रीरूप है अतः वामांगी है। जो दासवत् उसकी सेवा करता है और वह उसे छोड़ कर दूसरे भोक्ता पुरुष का सेवन करती है क्योंकि स्त्री संसार का मूल है एव प्रकृति से ही उसे भोग प्यारे होते हैं अतः ज्ञानी पुरुष को पौरुषरूप ज्ञान धर्म की आराधना करनी चाहिये। ज्ञानी वैरागी संसार में पुरुषोत्तम होता है एवं उसकी वल्लभा लक्ष्मी होती है अतः ज्ञान एवं धन का वैर कदापि नहीं है क्योंकि जैसे सरस्वती चैतन्य ज्ञान से प्रेम करती है वैसे ही लक्ष्मी भी अनासक्त चैतन्यपुरुष की प्रियतमा होती है। जो ज्ञानी मोहमय होता है लक्ष्मी उसकी वैरिणी होती है एवं जो पुरुष अज्ञानी है या मोह मुढ़ मिथ्या ज्ञानी है सरस्वती उसका त्याग करती है।

संसार में समत्व युक्त धर्म सर्व कामनाएँ पूर्ण करने में समर्थ है। वह सर्वार्थ सिद्धि है। वह परमेश्वर की साधु पुरुष में अवतारणा है। राग संसार का कारण है पर उससे द्वेष करना भी संसार-मोड़ का हेतु नहीं है अतः दोनों से परे वीतराग भाव ही संसार में धर्म सम्मत है। इसी से संसार को जीता जा सकता है। वीतराग की आराधना तत्त्वज्ञान का सार है, यही धर्म है।]

नवमोऽध्यायः

ऐन्द्रज्योतिः स्फुटं धर्मात्स्वरूपध्यानतो भवेत् ।

नित्यक्षयात्पुद्गलानां जातेऽन्धतमसां क्षये ॥ १ ॥

अन्वय—ऐन्द्रज्योतिः पुद्गलानां नित्यक्षयात् अन्धतमसां क्षये जाते स्वरूपध्यानतः धर्मात् स्फुटं भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—(आत्माको आवृत्त करनेवाले) कर्म पुद्गलों के नित्य क्षय करने से और अज्ञानान्धकार के बादल नष्ट होने पर आत्मध्यान रूपी धर्म से ही आत्म-ज्योति प्रत्यक्ष होती है। यह कैसे संभव होता है वह आगे दिखाया है।

नीचैः पुद्गलबाहुल्यां नरकादौ तमोघनम् ।

द्रव्यतो भावतोऽप्युच्चैर्ज्योतिर्बाहुल्यतोऽङ्गिनाम् ॥ २ ॥

अन्वय—अङ्गिनां नीचैः द्रव्यतो भावतो पुद्गलबाहुल्यां नरकादौ तमोघनं (प्राप्यते) ज्योतिर्बाहुल्यतः उच्चैः (गम्यते) ॥ २ ॥

अर्थ—द्रव्य और भावसे संचित पुद्गल बाहुल्य से नरकादि में घन तमसरूप नीच गतियाँ प्राप्त होती हैं। इस तरह (पुद्गल नाशसे) आत्म ज्योति की बहुलता होने से उर्ध्वगति प्राप्त होती है ॥ २ ॥

(मिट्टी से लिपटा तूम्बा पानी में डूबता है पर मिट्टी हटने पर वह पुनः तैरने लगता है)

यथैवोच्चैर्गतिर्वहेः प्रकाशात्मतया स्वतः ।

तथाऽऽत्मनोऽपि तद्धर्मादुच्चैर्गतिरवाप्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—यथा प्रकाशात्मतया वहेः स्वतः उच्चैर्गतिः तथैव आत्मनः अपि तत् धर्मात् उच्चैर्गतिः अवाप्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्वालाएं प्रकाश पूर्ण होने के कारण वेगवान अग्नि की स्वाभाविक उर्ध्वगति का सूचन करती है वैसे ही आत्मा का स्वभाव भी प्रकाशमान होने से उसकी गति भी स्वाभाविक रूप से उर्ध्व ही है ॥ ३ ॥

मोहात् पुद्गलसंयोगे भवेज्जाड्यमयं तमः ।

नीचैऽर्गतिस्ततोऽधर्माद्गौरवे नम्रता ध्रुवम् ॥ ४ ॥

अन्वय—मोहात् पुद्गलसंयोगे जाड्यमयं तमः भवेत् । ततः अधर्मात् नीचैः गतिः गौरवे ध्रुवं नम्रता ॥ ४ ॥

अर्थ—मोह के कारण पुद्गल का आत्मा से संयोग होने पर चित्त में जड़तामय अन्धतमस् का उद्भव होता है । ज्ञान का नाश होता है और उससे जनित अधर्म से नीची अधम गतियाँ प्राप्त होती हैं क्योंकि कर्म रज के संयोग से भारीपन होने के कारण आत्मा को झुकना ही पड़ता है अर्थात् नीचे जाना ही पड़ता है । सामान्य अनुभव है कि अगर कंधे पर बोझ होगा तो झुककर ही चलना होता है ।

यादृशो ध्यायते येन फलमाप्यते तादृशम् ।

शुभयोगः शुभध्यानादशुभध्यानतोऽशुभम् ॥ ५ ॥

अन्वय—येन यादृशः ध्यायते तादृशं फलं आप्यते । शुभध्यानात् शुभयोगः अशुभध्यानतः अशुभम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसका जैसा ध्यान होगा उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा । शुभ ध्यान से शुभ वस्तुओं की प्राप्ति होगी एवं अशुभ ध्यान से अशुभ वस्तुओं की प्राप्ति होगी । यह कर्म फल का सिद्धांत है ।

वर्णादिः पुद्गलगुणच्छाया मायामयी ततः ।

जनयत्यंगिनां मोहं न मोहः सात्त्विके मनाक् ॥ ६ ॥

अन्वय—वर्णादिः पुद्गलगुणः ततः मायामयी छाया अंगिनां मोहं जनयति । सात्त्विके मनाक् मोहः न ॥ ६ ॥

अर्थ—रंग रूप रस गंध स्पर्श आदि पुद्गल के ही गुण हैं इनसे मायामयी सृष्टि की रचना होती है। ये गुण सामान्यतः जीवों में मोह को उत्पन्न करते हैं पर सात्विक जीवों में लेश मात्र भी मोह नहीं होता है क्योंकि उनमें पुद्गलों के गुणों के प्रति आकर्षण नहीं होता है।

यथा यथा त्यजेन्मायामियं वश्या तथा तथा ।

वणिजो दीक्षणे जाताः संपदोऽपि पदे पदे ॥ ७ ॥

अन्वय—यथा यथा मायां त्यजेत् तथा तथा इयं वश्या । दीक्षणे जाताः वणिजो पदे पदे संपदः अपि (प्राप्नुवन्ति) ॥ ७ ॥

अर्थ—(देखिये ! कैसा अनुठा नियम है कि) जैसे जैसे इस माया को छोड़ा जाता है वैसे वैसे यह छोड़ने वाले के वश में होती जाती है। श्रावक धर्मानुष्ठान के लिए जब इसका त्याग करते हैं तो पद पद पर प्रचुर सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं अर्थात् अनासक्त पुरुष के चरणों में सम्पत्ति निवास करती है।

विवेचन—जैसे अवसर आने पर कुपथ्य आहार विमारी के रूप में अपन प्रभाव दिखाता है वैसे अशुभ कर्मों से प्राप्त सम्पत्ति मायाग्रस्त पुरुष का कालोदय होनेपर अवश्य त्याग करती है। कपट से वश में नहीं आती है इसीलिये लक्ष्मी को चंचल कहा गया है।

स्त्रीत्वान्मायास्ति वामांगी योऽस्यावश्यः सदाशयः ।

त्यक्त्वा तं दासवद्दूरे भोक्तारमपरं भजेत् ॥ ८ ॥

अन्वय—माया स्त्रीत्वात् वामांगी अस्ति यः सदाशयः अस्याः वश्यः । तं दासवद् दूरे त्यक्त्वा अपरं भोक्तारं भजेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—क्योंकि माया स्त्री है अतः विपरीत प्रकृति वाली है। जो सज्जन इसका वशवर्ती यानि गुलाम होता है एवं इसका भोग नहीं करता अर्थात् सद्बुद्धि नहीं करता उसे वह चाकर की तरह छोड़कर अवश्य ही

नवमोऽध्यायाः

८५

दूसरे किसी स्वामिकी तरह उसे उपभोग करने वाले (सद्व्यय करनेवाले) के पास चली जाती है।

ज्ञाने प्रधानता पुंसः भोगे नायास्ततः सुते ।

पाठः प्रियः कुमार्यास्तु भ्रमिक्रीडा मनः प्रियाः ॥ ९ ॥

अन्वय—पुंसः ज्ञाने नार्याः भोगे प्रधानता सुते पाठः प्रियः
कुमार्याः तु भ्रमिक्रीडा मनः प्रियाः ॥ ९ ॥

अर्थ—(यहाँ मानव सृष्टि की भिन्न भिन्न रूचि का वर्णन कर रहे हैं कि) पुरुष में ज्ञान की एवं स्त्री में भोग की प्रधानता है। पुत्र को पाठ प्यारा होता है तो कुमारी का गोल घूमने (गरबा) के खेलों में मन रमता है अर्थात् ज्ञानी को पुरुष स्वभावी और भोगी को स्त्री स्वभावी कहकर विरोध का रहस्य प्रकट किया है। वस्तुतः विरोध श्री और सरस्वती में नहीं है।

ज्ञानधर्मः पौरुषांकं त्यजेद्यस्तु कदापि न ।

लक्ष्मीर्भोगप्रिया नैतं चेतसो नाम मुञ्चति ॥ १० ॥

अन्वय—यः तु पौरुषाङ्कं ज्ञानधर्मः कदापि न त्यजेत् । एतं भोगप्रिया लक्ष्मीः चेतसो नाम न मुञ्चति ॥ १० ॥

अर्थ—जो साधक पौरुष लक्षण ज्ञान धर्म को कभी भी नहीं छोड़ता है उसको भोग प्रिया लक्ष्मी कभी भी अपने हृदय से नहीं निकालती है।

पौरुषं भोगलुब्धेन त्यक्तं धर्मात्मकं धिया ।

स्त्रीमयान्मूर्खतस्तस्माल्लक्ष्मीर्दूराऽभिसर्पति ॥ ११ ॥

अन्वय—भोगलुब्धेन धिया धर्मात्मकं पौरुषं त्यक्तं स्त्रीमयात् तस्मात् मूर्खतः लक्ष्मीः दूराऽभिसर्पति ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस पुरुष ने भोग में लुब्ध बुद्धि से धर्म रूपी पौरुष को त्याग दिया है स्त्रीत्व से युक्त उस मूर्ख से लक्ष्मी सदैव दूर रहती है अर्थात् स्त्री पौरुष प्रिय होती है और लक्ष्मी भी धर्मनिष्ठ व्यक्ति के पास ही जाती है।

संसारमूलं स्त्री तस्याः प्रकृति भोगभावनम् ।

तन्मयो यस्तु तस्याधःपातो-न्याय्यः स्त्रिया इव ॥ १२ ॥

अन्वय—स्त्री संसारमूलं तस्याः भोगभावनं प्रकृतिः । यः तु स्त्रिया इव तन्मयो तस्य अधः पातः न्याय्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—स्त्री संसार का मूल है एवं उसका स्वभाव भोगप्रिय है, जो मनुष्य स्त्री की तरह भोगप्रिय होता है उसकी अवनति हो यह नीति-सम्मत है ।

वैरं लक्ष्म्याः सरस्वत्या नैतत्प्रामाणिकं वचः ।

✓ ज्ञानधर्मभृतो वश्या लक्ष्मीर्न जडरागिणी ॥ १३ ॥

अन्वय—लक्ष्म्याः सरस्वत्या वैरं एतत् न प्रामाणिकं वचः लक्ष्मीः जडरागिणी न (सा तु) ज्ञानधर्मभृतः वश्या ॥ १३ ॥

अर्थ—लोक में यह प्रचलित है कि लक्ष्मी का सरस्वती के साथ वैर है यह प्रामाणिक उक्ति नहीं है । लक्ष्मी जड़ अज्ञानी को नहीं चाहती है वह तो ज्ञान धर्म युक्त पुरुष के वश में रहती है ।

ज्ञानी पापाद् विरतिभाग् यः स वै पुरुषोत्तमः ।

तस्यैव वल्लभा लक्ष्मीः सरस्वत्येव देहभाक् ॥ १४ ॥

अन्वय—यः ज्ञानी पापात् विरतिभाक् सः वै पुरुषोत्तमः देहभाक् सरस्वत्या इव लक्ष्मी तस्यैव वल्लभा ॥ १४ ॥

अर्थ—जो ज्ञानी पाप से विरक्त रहता है वही पुरुषों में उत्तम है जैसे सरस्वती ज्ञान में रमण करती है वैसे ही उन पुरुष रत्न की प्यारी लक्ष्मी भी उनमें ही रमण करती है ।

ज्ञानी न विरमेन्मोहाल्लक्ष्मीस्तस्यैव वैरिणी ।

अज्ञानव्रतकष्टस्थे सरस्वत्या हि शात्रवम् ॥ १५ ॥

अन्वय—मोहात् ज्ञानी न विरमेत् लक्ष्मीः तस्य (ज्ञानिनः) एव वैरिणी । अज्ञानव्रतकष्टस्थे सरस्वत्या हि शात्रवम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जो ज्ञानी मोह से विरक्त नहीं होता है लक्ष्मी उसी से वैर करती है अर्थात् मोह मूढ़ ज्ञानी के पास वह नहीं जाती । अज्ञान रूप व्रत का कष्ट करते हुए ज्ञानी से सरस्वती की शत्रुता है अर्थात् मिथ्याज्ञान से सरस्वती का विरोध है ।

भोगासक्तो न सदज्ञानी ज्ञानी तच्चाद् विरागवान् ।

विरुद्धताऽनयोः स्थानात्स्याच्छायातपयोरिव ॥ १६ ॥

अन्वय—सदज्ञानी भोगासक्तः न, तच्चाद् ज्ञानी विरागवान् अनयोः छाया तपयोः इव स्थानात् विरुद्धता ॥ १६ ॥

अर्थ—सम्यक् ज्ञानी भोग प्रिय नहीं होता क्योंकि वह तात्त्विक रूप से वैरागी होता है । जिस प्रकार छाया एवं धूप का एक स्थान से विरोध होता है अर्थात् जहाँ धूप होगी वहाँ छाया नहीं होगी वैसे ही भोग एवं सम्यक् ज्ञान की स्थिति है अर्थात् जहाँ भोग होगा वहाँ ज्ञान नहीं होगा एवं जहाँ ज्ञान होगा वहाँ भोग नहीं होगा ।

धर्मो यथेप्सितं दातुं कर्तुं वा परमेश्वरः ।

यत्रावतीर्णो निर्दम्भं स साधुः पूज्यते सुरैः ॥ १७ ॥

अन्वय—धर्मो यथेप्सितं दातुं कर्तुं वा परमेश्वरः । निर्दम्भं यत्रावतीर्णो स साधुः सुरैः पूज्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—(लक्ष्मी और सरस्वतीका धर्मवान में वास होता है क्योंकि) धर्म परमेश्वर के समान मन वांछित वस्तु को देने अथवा उसका सृजन करने में समर्थ है । निष्कपट भाव से जो साधु उसमें अवतरित होता है अर्थात् उसका आचरण करता है वह देवताओं से पूजा जाता है ।

पात्रेऽवतीर्णो देवादिस्तन्मुखेन प्रजल्पति ।

तद्भक्तिः पात्रभक्त्यैव साधोधर्मस्थितिस्तथा ॥ १८ ॥

अन्वय—पात्रे अवतीर्णः देवादिः तन्मुखेन प्रजल्पति पात्रभक्त्या
एव तद्भक्तिः तथा साधोः धर्मस्थितिः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी पिण्ड में अवतरित देवता आदि उसी
मुख से बोलते हैं एवं उस पात्र (पिण्ड) की भक्ति से ही उस देवता की
भक्ति की जाती है वैसे ही साधु में अवतरित धर्म उनके मुख से ही
बोलता है वैसे ही उनकी भक्ति से भी धर्म की आराधना होगी अर्थात् धर्म
और धर्मवान में भेद नहीं है। यह धर्म का स्वरूप आगे दिखाया है।

तुलान्यायेन समता धर्मः सर्वार्थसिद्धिदः ।

रागो द्वेषोऽप्यधर्माङ्गं सारमेतत्सतां गिरः ॥ १९ ॥

अन्वय—तुलान्यायेन समता धर्मः सर्वार्थसिद्धिदः । रागः द्वेषः
अपि अधर्माङ्गं एतत् सारं सतां गिरः ॥ १९ ॥

अर्थ—(तुलान्यायेन दोनो पलड़े सम होते हैं उस तरह) तुलान्याय से
समता परिणाम को धारण करना चाहिए यही समत्व धर्म सभी प्रयोजनों
की सिद्धि देने वाला है। राग और द्वेष के भाव तुलान्याय नहीं कर
सकते अतः वे धर्म के अंग नहीं हैं यह सज्जनों की वाणी का सार है
अर्थात् राग और द्वेष का अभाव ही समता धर्म है ॥ १९ ॥

द्वेषादपि च दुर्जेयो रागः संसारकारणम् ।

तज्जयाद्वीतरागोऽयं देवानामधिदैवतम् ॥ २० ॥

अन्वय—द्वेषादपि च दुर्जेयः रागः संसार कारणम् । तज्जयात्
अयं वीतरागः देवानां अधिदैवतम् (प्राप्नोति) ॥ २० ॥

अर्थ—(राग और द्वेषका भेद दिखाते कहा है कि) राग संसार का
मूल है एवं यह द्वेष से भी ज्यादा खतरनाक होता है क्योंकि द्वेष को तो
जीता जा सकता है पर राग को जीता नहीं जा सकता है। उसी राग को

जीतने के कारण यह आत्मा वीतराग बनती है एवं देवों में श्रेष्ठता प्राप्त करती है ॥ २० ॥

यो वीतरागोऽसौ देव-स्तद्वाक्यानुगतो गुरुः ।

तदाज्ञाराधनं धर्म-स्तोऽयं तत्त्वसमुच्चयः ॥ २१ ॥

अन्वय—यः वीतरागः असौ देवः । तद्वाक्यानुगतः गुरुः ।

तदाज्ञाराधनं सः धर्मः अयं तत्त्वसमुच्चयः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो वीतराग है वे ही देव है, जो उनकी आज्ञा के वशवर्ती है वे गुरु हैं, उन वीतराग की आज्ञा की आराधना ही धर्म है यह तत्त्वज्ञान का सार है ।



॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

दशमोऽध्यायः

सप्तनय से धर्मप्रकाश

[एकत्व की भावना से नाना नाना प्रकार से संसार को देखना चाहिए किन्तु विषमता में समता को कैसे देखेंगे ? समता धर्म का मूल त्याज्य (हेय) ग्राह्य (उपादेय) का विवेक है । चित्त से राग-द्वेष दूर होने से विवेकज्ञान का उदय होता है ; वह क्रमशः केवलज्ञान में पूर्ण होता है । केवली ही पूर्णतया जानते हैं जैसे अनंत-धर्मी तत्त्व को हम कैसे समझे ? मनुष्य का विचार व्यवस्थित अथवा सम्यक् हो तो ज्ञान सही होता है । इसीलिए विचारों का नयवाद में व्यवस्थित करके सप्त नयोंका निरूपण किया गया है । वस्तु में विरोधाभासी स्वभाव को दिखा कर अंत में धर्म को केवलीगम्य या गीतार्थमुनि गम्य कहा गया है । जो बुद्धि के परे है, वह श्रद्धा का विषय है । वीतराग प्रभु में भ्रद्धा से ही हम सही मार्ग पर चल सकते हैं ; यही आचरणीय कल्याण मार्ग है ।]

दशमोऽध्यायः

ऐन्द्रज्योतिः प्रकाशाय रागद्वेषजिगीषया ।

एकत्वभावना विश्वेऽप्यादिष्टा विश्ववेदिभिः ॥ १ ॥

अन्वय—विश्वे विश्ववेदिभिः रागद्वेषजिगीषया ऐन्द्रज्योतिः

प्रकाशाय एकत्वभावना अपि आदिष्टा ॥ १ ॥

अर्थ—संसार में सर्वज्ञों ने राग द्वेष को जीतने की इच्छा के द्वारा आत्म ज्योति के प्रकाश के लिए एकत्व भावना (समदर्शिता) रखने का भी आदेश दिया है ।

शुभाशुभाद्यनेकत्वं विशेषविषयं पुनः ।

हेयोपादेयबोधेन प्राकाशीच्छा विमुक्तये ॥ २ ॥

अन्वय—शुभाशुभादि अनेकत्वं पुनः विशेषविषयं हेयोपादेय।

बोधेन विमुक्तये इच्छा प्राकाशी ॥ २ ॥

अर्थ—विशेष विशेष विषयों की अपेक्षा से शुभ एवं अशुभ आदि की अनेकता दृष्टिगोचर होती है । त्याज्य एवं ग्राह्य तत्त्व के बोध से भेद ज्ञान से मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं ।

विवेचन—विषयों की अपेक्षा अनुसार शुभ और अशुभ दिखायी देता है । संसार के विषयों की अपेक्षा से देखें तो लक्ष्मी शुभ है । सर्व प्रकार के उपभोग के सुख की दाता है किंतु शाश्वत मोक्ष सुख का उत्सुक मुमुक्षु के लिये लक्ष्मी बाधारूप और त्याज्य ही दिखायी देगी । त्याज्य और ग्राह्य के विवेक से आध्यात्मका उदय होता है और उसका विकास केवलज्ञान में पूर्ण होता है । आध्यात्मिकता के प्रथम चरण को स्पर्श कर के आगे अंतिम चरण को महर्षिने दिखाया है ।

पूर्वे पृथक्त्ववीचारं शुक्लध्यानांहिमाशुश्रुत् ।

ततोऽप्येकत्ववीचारात् केवलज्ञानमुल्लसेत् ॥ ३ ॥

अन्वय—पूर्वे पृथक्त्वविचारं शुक्लध्यानहिं आमृशुश्रुत् ततः अपि

एकत्वविचारात् केवलज्ञानं उल्लसेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—सर्वप्रथम पृथक्त्व वितर्क सविचार रूप शुक्लध्यान रूपी प्रथम पाद का स्पर्श करना चाहिए फिर एकत्व वितर्क अविचार से केवल-ज्ञान प्रकट होता है ।

विवेचन—धर्मध्यानी महात्मा मनोयोग के निरोधसे शुक्लध्यान में ; क्रमशः निर्विचार अवस्थामें संक्रमण करता है । ध्यान के विषय में धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान को समझने के लिये परिशिष्ट को देखिये । ध्यानातीत अवस्था में जो ज्ञान प्रत्यक्ष होता है उसे आशिकरूपमें बौद्धिक स्तर पर प्रकाश करने के लिये अनेकांत भावसे नयवादका निरूपण आगे दिखाया गया है ।

स्यात्सामान्यविशेषात्म-भवः प्रामाण्यगोचरः ।

ज्ञेयोऽनेकान्तवादेन नयमार्गादनेकधा ॥ ४ ॥

अन्वय—सामान्यविशेषात्मभवः प्रामाण्यगोचरः ज्ञेयः अनेका-
न्तवादेन नयमार्गात् अनेकधा स्यात् ॥ ४ ॥

अर्थ—सामान्य एवं विशेषात्मक यह संसार प्रमाणों से दृश्यमान है । इस संसार को अनेकान्तवाद के द्वारा नय मार्ग से अनेक रूप में जानना चाहिए । जैसे संसार नित्य भी है एवं अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है । (नय ज्ञान के लिए परिशिष्ट देखिए)

विवेचन—हरेक धर्म में एक निश्चित विचारधारा विकसित होती है जैसे कि वेदांतने आत्माको नित्य माना और बौद्ध दर्शन ने अनित्य । यह विरोधाभास उलझन पैदा करता है । सत्यको कैसे जाने ? अलग अलग द्रष्टि से तत्त्व के शास्त्रिय स्वरूप को देखना यह नयवाद है । सप्तनयो में सर्व दर्शनोकी मान्यताओं का समावेश किया गया है । अपेक्षा या द्रष्टि के भेद से नयवाद तत्त्व के अनेक दर्शन भेद दिखाता है और अनेकांत भावसे समन्वय करनेका रहस्य भी प्रकट करता है ।

सामान्यं संग्रहो वक्ति ऋजुसूत्रो विशेषवाक् ।

स्वतंत्रौ नैगमादेतौ लोकोक्त्या व्यवहारधीः ॥ ५ ॥

अन्वय—संग्रहो सामान्यं वक्ति विशेषवाक् ऋजुसूत्रो । एतौ
नैगमात् स्वतंत्रौ लोकोक्त्या व्यवहारधीः ॥ ५ ॥

अर्थ—संग्रह द्रव्यास्तिक नय वस्तुके सामान्य स्वरूप को कहता है और ऋजुसूत्र वस्तु के विशेष रूप को कहनेवाला है। ये दोनों नय नैगम नय से अलग हैं जो अनेक दृष्टिसे भेद करते हुए देखता है। व्यवहार नय लोकोक्ति से चलता है।

मृतसुवर्णायसां कुंभा एक एवाम्बुधारणे ।

परिमाणाकृतिस्थान-मूल्यैः सर्वे पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

अन्वय—मृत सुवर्णायसां कुंभा एक एव अम्बुधारणे (प्रयुक्ताः) सर्वे परिमाणाकृतिस्थानमूल्यैः पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

अर्थ—जल को धारण करने वाले मिट्टी सोने व लोहे के घड़े सामान्य संग्रह नय से तो एक ही हैं पर वे सभी विशेष की अपेक्षा से परिमाण, आकार, स्थान एवं मूल्य की अपेक्षा से अलग अलग हैं।

विवेचन—तत्त्वचिंतन के मुख्य तीन प्रकार हैं। एक है एकीकरण का और दूसरा है पृथक्करण का। एकीकरण में पदार्थों के विशिष्ट रूपों में छिपी हुई समानता का, घटत्व का दर्शन होता है। पृथक्करण में घटत्व के विशेषों को अनेक प्रकार से अलग कर के देखा जाता है जैसा कि छोटा घड़ा, बड़ा घड़ा, (परिमाण), सूराही जैसा घड़ा (आकार), या तो मेज पर रखा हुआ घड़ा (स्थान), सोने का घड़ा, मिट्टी का घड़ा (मूल्य) इत्यादि। इन दोनों से भिन्न नैगम नय में लोक मान्यताएँ पायी जाती हैं जहाँ एकीकरण और पृथक्करण दोनों के प्रयोग पाये जाते हैं।

अपक्वे न जलाहारः पक्वेऽसौ तौ ततः पृथक् ।

कुंभत्वं काणकुम्भेऽपि व्यवहारेण मन्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—अपक्वे जलाहारः न, पक्वे असौ (भवति) ततः (नैगमात्) तौ पृथक्। व्यवहारेण (तु) काणकुम्भेऽपि कुम्भत्वं मन्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—कच्चे घड़े से जलाहरण का काम नहीं होता पर (सामान्य की अपेक्षा से) संग्रह नय से वह भी घड़ा है। उस घड़े से पकने पर

जलाहरण का कार्य होता है अतः (वर्तमान सत्यको मानने वाले, -ऋजुसूत्र) विशेष नय से उसे घड़ा कहा जाता है पर लोकोक्ति को मान्य करने वाले नैगम नय से ये दोनों नय पृथक् हैं। व्यवहार नय से तो फूटा घड़ा भी घड़ा ही कहा जाता है क्योंकि वह प्रयोजन को देखता है।

चत्वारोऽर्थनया एते परं शब्दे नयत्रयम् ।

वाच्यवाचकयोर्योगाद् शाब्दिका वार्थिकाः समे ॥ ८ ॥

अन्वय—एते चत्वारः अर्थनयाः शब्दे नयत्रयम् । परं वाच्य-वाचकयोः योगाद् शाब्दिका वाअर्थिकाः नयाः समे ॥ ८ ॥

अर्थ—नैगम, संग्रह, व्यवहार तथा ऋजुसूत्र यह चारों (प्रधान हेतु अर्थ प्रकट करना हैं इसलिये) अर्थ नय माने गये हैं। शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत यह तीनों (शब्द का विचार प्रधानतया होने से) शब्दनय माने गये हैं। (एवंभूत नय को छोड़कर) बाकी दो शब्द और समभिरुद्ध नय को वाच्य वाचक संबंध होने से चार अर्थनय समान माने गये हैं अर्थात् शब्द नय और समभिरुद्ध नय को उपरोक्त चार नयों के वाचक यानि अर्थ प्रकाशक माने गये हैं।

आर्यदेशे धर्म इति श्रुत्या शब्देन धर्मवान् ।

देशोऽव्रती व्रती धर्मी श्राद्धः समभिरुद्धतः ॥ ९ ॥

अन्वय—आर्यदेशे धर्म इति श्रुत्या देशः अव्रती शब्देन धर्मवान् श्राद्धः व्रती समभिरुद्धतः धर्मी ॥ ९ ॥

अर्थ—धर्म शब्द का नयवाद में विचार करते कहा है कि आर्य देश में धर्म शब्द कहने से सर्वविरति साधु और देशविरति या सम्यग् दृष्टि भाव के आदि सभी शब्द नय से धर्मी कहे जाते हैं किन्तु वास्तव में धर्मी तो समभिरुद्ध नय से सिद्ध होता है अर्थात् जो धर्म कार्य कर रहा है वही

व्यक्ति धर्मी कहा जाता है। समान अर्थ सूचक शब्दों का भेद दिखाना समभिरुद्ध नयका कार्य है।

मुनिर्मुनिक्रियाविष्टस्तन्मुक्तो न मुनिः पुनः ।

एवम्भूतनयादेवं धर्मी सिद्धोऽस्ति केवली ॥ १० ॥

अन्वय—मुनिक्रियाविष्टः मुनिः तन्मुक्तः पुनः न मुनिः । एवं एवम्भूतनयात् केवली सिद्धः धर्मी अस्ति ॥ १० ॥

अर्थ—(अर्थ को स्पष्ट करते हुए) समभिरुद्ध नय से मुनि के आचरण में लगा हुआ मुनि ही वास्तव में मुनि है उन क्रियाओं से मुक्त सर्वविरति साधु मुनि नहीं है, पर तत्त्व के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करनेवाले एवंभूत नय से तो केवली और सिद्ध ही धर्मी हैं क्योंकि पूर्णधर्म का स्वरूप उनमें ही प्रतिष्ठित होता है।

धर्मी जीव समग्रोऽपि ज्ञानवान् चेतनारतः ।

एकेन्द्रियाणामज्ञानमृजुसूत्रनयार्पणात् ॥ ११ ॥

अन्वय—चेतनारतः ज्ञानवान् समग्रः जीवः अपि धर्मी ऋजुसूत्र-नयार्पणात् एकेन्द्रियाणां अज्ञानम् ॥ ११ ॥

अर्थ—सामान्य द्रव्यास्तिक नय से तो चेतनाशील एवं ज्ञानवान् जीव मात्र धर्मी है पर ऋजुसूत्र नय से एकेन्द्रिय जीवों को अज्ञानी माना जाता है अतः सामान्य नय से तो वे भी ज्ञानी है पर विशेष नय से वे ज्ञानरहित (संज्ञारहित) हैं।

विवेचन—धर्मी और ज्ञानी के अलग उदाहरणों से चर्चा करने का हेतु नयवाद का स्वरूप प्रकट करना है।

वस्तुस्मृत्या भवेद्ज्ञानी सोऽज्ञानी विस्मृतेर्मतः ।

नैगमात् शिशुरज्ञानी व्यवहारदृशोरसात् ॥ १२ ॥

अन्वय—नैगमात् वस्तुस्मृत्या ज्ञानी भवेत् सः विस्मृतेः अज्ञानी मतः । शिशुः व्यवहारदृशः रसात् अज्ञानी ॥ १२ ॥

अर्थ—नैगम सामान्य और विशेष दोनो अपेक्षा से वस्तुको देखता है। वस्तुस्मृति से युक्त होने पर शिशु ज्ञानी माना जाता है पर यदि वह वस्तु तत्त्व को भूल जाता है तो अज्ञानी भी कहा जाता है, यह लोक विचार को ग्रहण करने वाले नैगम नय से है पर व्यवहार नय से तो शिशु अज्ञानी ही है। नैगम नय का भेद उन्हें मान्य नहीं है।

प्रसुप्ते मूर्छिते मत्ते न ज्ञानं शाब्दिके नये ।

तद्दर्शनोपयोगश्च न ज्ञानीत्यागमे वचः ॥ १३ ॥

अन्वय—शाब्दिके नये प्रसुप्ते मूर्छिते मत्ते न ज्ञानं तद् दर्शनोपयोगश्च न ज्ञानी इति आगमे वचः ॥ १३ ॥

अर्थ—(तीन शब्द नयो का स्वरूप वर्णन शुरू होता है।) आगम में ऐसा कथन है कि शब्द नय की अपेक्षा से सोये हुए, बेहोश व पागल में ज्ञान नहीं होता है। वैसे ही मात्र दर्शनोपयोग वाला भी ज्ञानी नहीं कहा जाता है अर्थात् ज्ञान की संज्ञा होने पर ज्ञानीका लक्षण प्रकट न हो तो शब्द नय ऐसे व्यक्ति को ज्ञानी मान्य नहीं करेगा।

घटं ज्ञात्वा पटज्ञो न घटज्ञोऽप्यभिरूढितः ।

एवम्भूतेन घटज्ञ एवं सर्वत्र भावना ॥ १४ ॥

अन्वय—अभिरूढितः घटज्ञः अपि घटं ज्ञात्वा पटज्ञो न (स तु) एवम्भूतेन घटज्ञः एवं सर्वत्र भावना ॥ १४ ॥

अर्थ—(समान अर्थ सूचक पर्यायोंका अर्थ भेद दिखाते हुए) समभिरूढ नय से तो विशेषज्ञ होते हुए भी घड़े का जानकार बख का जानकार नहीं होता है और एवम्भूत नय से जो घड़े के बारे में वर्तमान में ज्ञान रखता है वही घटज्ञ है। इसी प्रकार वस्तु की अथवा तत्त्व की वास्तविक स्थिति को भेदज्ञान से पहचानने की सर्वत्र भावना रखनी चाहिए।

दशमोऽध्यायः

अ, गी.-७

मिथ्यादृष्टिरतोऽज्ञानी ज्ञानी विमलदर्शनी ।

यो यत्रानुपयुक्तोऽयं द्रव्यजीवस्तदा तथा ॥ १५ ॥

अन्वय—मिथ्यादृष्टिः अतः अज्ञानी । विमलदर्शनी ज्ञानी तथा यः यत्र अनुपयुक्तः तदा अयं द्रव्यजीवः ॥ १५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि होने से अज्ञानी है । सम्यग्दृष्टि होने से ज्ञानी है । और जब वह आत्मा उपयोग रहित होता है तब वह द्रव्य जीव कहा जाता है ।

विवेचन—उपयोग का अर्थ है चित्तका अवधान । ज्ञान, दर्शनयुक्त परिणमन । एवंभूत नयसे, उपयोग के लक्षण से, अज्ञानी, सम्यक्ज्ञानी और जड़ ऐसे जीवके तीन भेद दिखाये गये हैं ।

अमुक्ते मुक्ततापीष्टा जिने राजर्षिता मुनौ ।

असाधोरतिमुक्तस्य साधुसेवागमोदिता ॥ १६ ॥

अन्वय—अमुक्ते जिने अपि मुक्तता इष्टा मुनौ राजर्षिता अतिमुक्तस्य असाधोः साधुसेवा आगमोदिता ॥ १६ ॥

अर्थ—अमुक्त जिनेश्वर में भी मुक्ति इष्ट रहती है मुनि त्यागशील होते हैं फिर भी उनमें राजर्षिपन—ऐश्वर्य भाव इष्ट रहता है जैसे कहते हैं मुनिराज पधार रहे हैं । अतः साधु धर्म की विराधना करते हुए भी अतिमुक्त साधु की भी सेवा शास्त्रोक्त है । (अतिमुक्त का अर्थ है अपूर्ण आचरण वाला साधु) ।

सूर्यबिम्बेऽपि सूर्यत्वं जिनबिम्बे जिनागमः ।

युक्ताहारविहारादौ साधुर्हन्ताप्यर्हिसकः ॥ १७ ॥

अन्वय—सूर्य बिम्बे अपि सूर्यत्वं जिनबिम्बे जिनागमः । युक्ताहारविहारादौ हन्ता साधुः अपि अर्हिसकः ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब में भी सूर्यत्व विद्यमान है वैसे ही जिनबिम्ब में भी जिनेश्वर भगवान का गुण विद्यमान है। देखिए उचित आहार विहार करते हुए साधु भी हिंसा करता है फिर भी अहिंसाका भाव होने से वह अहिंसक ही होता है।

अनास्रवः केवलीति सत्यप्यास्रवसप्तके ।

बद्धदेवायुषो देवो वाच्यः सति नृजन्मनि ॥ १८ ॥

अन्वय—आस्रवसप्तके सति अपि केवली अनास्रवः, नृजन्मनि सति बद्धदेवायुषः देवः वाच्यः ॥ १८ ॥

अर्थ—केवलियों को (औदारिक, औदारिक मिश्र, कार्मणकाययोग २ वचन के व २ मन के) सात कर्म पुद्गल के आस्रव होने पर भी वे अनास्रवी होते हैं क्योंकि उनका कर्म बन्धन नहीं होता है। वैसे ही मनुष्य जन्म में होते हुए भी जिसने देवता का आयुष्य बंधन कर लिया है उसे देवता ही कहा जाता है।

अल्पेऽभावविवक्षातः क्वचिद्बाहुल्यचिन्तया ।

पक्षे सिताऽसितत्वादि व्यवहारदिशा क्वचित् ॥ १९ ॥

अन्वय—पक्षे सित असितत्वादि । व्यवहारदिशा क्वचित् बाहुल्यचिन्तया क्वचित् अल्पे अभाव विवक्षातः ॥ १९ ॥

अर्थ—पक्षी के पंख में सफेदी व कालापन भी होता है पर व्यवहार दृष्टि से कहीं किसी रंग की अल्पता होती है तो उसका अभाव ही माना जाता है जैसे काले पंख में सफेदी का थोड़ा हिस्सा होता है तो भी उसे काला ही कहा जाता है। स्थूल द्रष्टि से देखकर यहाँ बाहुल्य को महत्त्व दिया जाता है।

विवेचन—तत्त्व स्वरूप का विशद प्रकाश होते हुए भी इष्ट और अनिष्ट को पूर्णतया समझना कितना मुश्किल है यह दिखा के अपवाद धर्म का स्वरूप आगे दिखाया है।

विधेयेऽपि निषिद्धत्वं निषिद्धेषु विधेयताम् ।

आगमेऽपि समादेशि वीरेण जगदीशिना ॥ २० ॥

अन्वय—विधेयेऽपि निषिद्धत्वं निषिद्धेषु विधेयतां जगदीशिना वीरेण आगमेऽपि समादेशि ॥ २० ॥

अर्थ—जगत के स्वामी वीर भगवान ने आगम में भी करणीय कार्य का निषेध तथा निषिद्ध कार्य को करने का आदेश दिया है ।

धर्म में उत्सर्ग और अपवाद दो मार्ग होते हैं । गीतार्थ मुनियों ने अपवाद धर्म के रूपमें विशिष्ट परिस्थिति में करणीय कार्यका निषेध तथा निषिद्ध कार्य को करने का आदेश दिया है । जैसे कि महामुनि स्थूलभद्र का कोशा गणिका के भवन में चातुर्मास ठहरना आदेश या निषेध का हेतु धर्म का पालन ही होता है । इसलिये असामान्य परिस्थिति में अकार्य करणीय होता है और करणीय का निषेध होता है वैसे अपवाद धर्म का गुरुके शरण बिना सही ज्ञान नहीं होता है ।

तस्माद्बहुश्रुतैः पूर्वैराचीर्णाश्चरणोद्यतैः ।

धर्मः शर्मकरः कार्यः श्रद्धेयस्तत्त्वकांक्षिभिः ॥ २१ ॥

अन्वय—तस्मात् चरणोद्यतैः पूर्वैः बहुश्रुतैः आचीर्णः शर्मकरः धर्मः तत्त्वकांक्षिभिः श्रद्धेयः कार्यः ॥ २१ ॥

अर्थ—(धर्म की गति गहन है) इसीलिए चारित्रमार्ग पर तत्पर बहुश्रुत पूर्वाचार्यों द्वारा आचरित सुखकारी धर्म पर मोक्षाभिलाषियों को श्रद्धा करनी चाहिए । अर्थात् स्वतंत्र बुद्धि से नहीं किंतु गुरुसे ही ज्ञान प्राप्त होता है । अतः गुरु के शरण में ज्ञानधर्म की उपासना करनी चाहिये ।

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

आत्म गुणों का विकास ही वीतराग मार्ग

[ग्यारहवें अध्याय में गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा है चैतन्यके ज्ञानरूपी लक्षण से सभी जन्तुओं में धर्म समाविष्ट है तो फिर कोई भी प्राणी अधर्मवान नहीं हो सकता है। तब भगवान ने उत्तर दिया कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान होने से वह शुद्ध है पर पुद्गल की उपाधि से वह अशुद्ध और आसक्त होती है। शुद्ध स्वभावी ज्ञान धर्म्य है पर पुद्गलोपाधि से दूषित मिथ्या ज्ञान त्याज्य है।

बन्ध रंगीन हो तो श्वेत प्रकाश की किरणें तदनुसार रंगीन होगी। शुद्ध या शुभ, अशुभ जैसे भाव की धारणा होती है वैसा ज्ञानदृष्टि में परिवर्तन होकर जो कार्य होते हैं उनसे तदनुसार कार्यफल प्राप्त होते हैं। वासना से प्रभावित बुद्धि ज्ञान से आत्मा को अन्ततः कर्मबन्ध से दुखी होना पड़ता है अतः वह नेष्ट है। जिस वैराग्यमयी बुद्धि के ज्ञान से आत्मा को सुख होता है वह श्रेष्ठ होता है।

विष्र मिला हुआ दुध जैसे पहले तो भोगसुख ठीक लगता है पर बाद में वह अनर्थ का कारण होता है। दूध होते हुए भी गाय का दूध पीने योग्य होता है किंतु आक या थूहर का दूध त्याज्य होता है। भोग्य और त्याज्य का विवेक होना चाहिये वही सम्यग् बुद्धिका ज्ञान है।

पांडित्य और बुद्धिवैभव का विकास भी मूढमति के लिये दुःखका हेतु होनेसे वह अज्ञान है किंतु श्रेय मार्ग पर चलनेवाले को काया क्लेश होते हुए भी आनंद के अनुभव का हेतु होने से वह शुद्धज्ञान है।

संसार में सत्य, शौच, दया, शान्ति, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा एवं वैराग्यादि गुण मंगल विधायक हैं; गुणी के चिंतन से इन महागुणों की सदैव उपासना करना वीतराग मार्ग है। आत्मगुणों के विकास से और निर्मल चित्त से स्वयं को स्वयं में जानना अर्थात् सत् चित्त आनंदरूप स्थिति प्राप्त करना यह साधना का हेतु है।]

* * *

एकादशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच—

ऐन्द्रो धर्मः स्मृतं ज्ञानमात्मधर्मस्य निश्चयात् ।
तदा नाऽधर्मवान् कोऽपि चैतन्यात् सर्वजन्तुषु ॥ १ ॥

अन्वय—आत्मधर्मस्य निश्चयात् ज्ञानं ऐन्द्रो धर्मः स्मृतम् । तदा सर्वजन्तुषु चैतन्यात् न कोऽपि अधर्मवान् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने पूछा हे भगवान् ! जब आत्म धर्म के निश्चय से ज्ञान ही आत्मा का धर्म है तब सभी जीवों में चैतन्य होने के कारण वे सभी धर्मवान् हैं उनमें कोई भी अधर्मी नहीं है ।

श्री भगवानुवाच—

ज्ञानं द्विधा मया म्नातं स्वभावात् शुद्धमात्मनः ।
अशुद्धं पुद्गलोपाधेराद्यं धर्मोऽन्यथा परम् ॥ २ ॥

अन्वय—मया आत्मनः द्विधा ज्ञानं आम्नातं स्वभावात् शुद्धं पुद्गलोपाधेः अशुद्धं आद्यं धर्मः परं अन्यथा ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान् ने (धर्म अधर्म का भेद स्पष्ट करते हुए) कहा कि आत्मा के दो प्रकार के ज्ञान मैंने विहित किए हैं; एक तो शुद्ध स्वभावी एवं दूसरा पुद्गल के संसर्ग से अशुद्ध । प्रथम प्रकारका ज्ञान धर्म है एवं दूसरे प्रकार का ज्ञान धर्म नहीं है ।

विवेचन—ज्ञान ही आत्मा का धर्म है । इस तत्त्व को सापेक्षद्रष्टि से देखना होगा । जीवन व्यवहार में इस बोध का मिथ्या द्रष्टि से ग्रहण अनर्थकारी हो सकता है । जगत के प्रति वैराग्यभाव से उत्पन्न आत्मबोध और मोहभाव से उत्पन्न अन्य प्रकार का बोध जैसे दो प्रकार के ज्ञान कहे गये हैं । दूसरे प्रकार का बोध मिथ्या ज्ञान या अज्ञान ही है क्योंकि वह कर्मबंधन का हेतु है और पुद्गल में सुख पाने की आसक्ति से उत्पन्न होता है ।

✓ यस्माद्देहे सुखं स्वल्पं महद्दुःखं तथात्मनः ।

तद्ज्ञानं तत्त्वतो नेष्टं श्रेष्ठं येनात्मनः सुखम् ॥ ३ ॥

अन्वय—यस्मात् देहे स्वल्पं सुखं तथा आत्मनः महद् दुःखं तद्ज्ञानं तत्त्वतः न इष्टं, श्रेष्ठं येन आत्मनः सुखम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस ज्ञान से इस शरीर को थोड़ा सुख पर आत्मा को महत् कष्ट हो वह ज्ञान तात्त्विक रूप से ज्ञान नहीं है। श्रेष्ठ ज्ञान तो वही है जिस से आत्मा को सुख हो।

विवेचन—शराबी या कामी में बुद्धिज्ञान का अभाव नहीं है किंतु वर्तमान में क्षणिक भोगसुख पाने के लिये उन्मत्त होकर जो भावि में होनेवाले महान दुःख से अज्ञान रहता है वैसे मूढ़ को ज्ञानी कैसे माना जाय ? और आत्मकल्याण के लिये द्रढ़ निश्चयी महात्मा अगर काया का कष्ट भोगता हुआ दिखायी दे तो क्या उसे हम स्वयं का सुख खोजने में अज्ञानी समझेंगे ?

विषमिश्रपयः पान-समानं स्याद्भवे सुखम् ।

पुद्गलानामुपादानात् प्रत्युतानर्थकारणम् ॥ ४ ॥

अन्वय—भवे सुखं विषमिश्रपयःपानसमानं स्यात् पुद्गलानां उपादानात् प्रत्युत अनर्थकारणम् ॥ ४ ॥

अर्थ—संसार में प्राप्त शरीर के स्वरूप सुख भोग विषमिश्रित दुग्धपान के समान हैं क्योंकि वह सुख कर्म बन्धन का कारण होने के कारण उल्टा अनर्थ करने वाला होता है। अर्थात् क्षणिक सुख के भोग से होने वाला कर्म बन्धन बड़े भारी दुःख का कारण होता है।

विवेचन—विष मिश्रीत दुग्धपान से किंचित् सुखका आभास तो होता है किंतु अंतमें जहाँ अनर्थकारी परिणाम हो वहाँ वास्तविक सुख कैसे माना जाय ? इस भाँति इन्द्रियजन्य सर्व सुख अंत में दुःखदायी होने से विष समान और त्याज्य है।

अर्थोऽप्यनर्थहेतुः किं नाज्ञानादुद्यमस्पृशाम् ।

चतुर्णां वणिजामत्र दृष्टान्तात् कुमर्तिं त्यज ॥ ५ ॥

**अन्वय—अज्ञानात् अर्थः अपि अनर्थहेतुः किं न अत्र उद्यमस्त्वृषाम्
चतुर्णां वणिजां दृष्टान्तात् कुमतिं त्यज ॥ ५ ॥**

अर्थ—अज्ञान के कारण धन भी अनर्थ करने वाला क्यों नहीं होगा ? यहाँ हमें उद्यमशील चार वणिक् पुत्रों के दृष्टान्त से अज्ञान की मूल कुमति को छोड़ देना चाहिए ।

विवेचन—धन यानि अर्थ भी अज्ञान से अनर्थकारी बनता है । जो ज्ञानियों के लिए सुख का कारण बनता है वही धन अज्ञानी के लिए उपाधिकारक सिद्ध होता है । अर्थात् विवेकी के लिये जो सुख का हेतु है वह उसके अभाव में दुःखदायी ही होता है ।

गव्यं दुग्धमुपादेयं हेयमर्कस्नुहीभवम् ।

तथा ज्ञानमुपादेयमेकं हेयं विवेकिना ॥ ६ ॥

अन्वय—विवेकिना गव्यं दुग्धं उपादेयं अर्कस्नुहीभवं हेयं तथा ज्ञानं उपादेयं एकं हेयम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे विवेकी पुरुष गाय का दूध ग्रहण करता है तथा आक थूहर आदि का दूध त्याज्य होता है वैसे ही विवेकी पुरुष को सम्यग् ज्ञान ग्रहण करना चाहिए तथा दूसरे अज्ञान को त्याग देना चाहिए ।

येनात्मनः स्यादानन्दः केवलो मायया विना ।

तदावाच्यं सुखं मोक्षं तत्र भिल्लनिदर्शनम् ॥ ७ ॥

अन्वय—येन आत्मनः आनन्दः स्यात् केवलः मायया विना । तत् मोक्षं सुखं अवाच्यं तत्र भिल्लनिदर्शनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस ज्ञान से आत्मा को केवल आनन्द प्राप्त हो वह शुद्ध ज्ञान माया के अभाव में ही सम्भव है । वह मोक्ष सुख अनिर्वचनीय होता है जिस प्रकार भील को राज सुख मिलने पर वह उसका वर्णन नहीं कर सकता है । अर्थात् निर्मोही महा ज्ञानी के आंतरीक सुखको अनुभवसे ही जाना जा सकता है ।

हेयमेवमुपादेयमादेयमपि हीयते ।

द्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्याद्वादस्यादरस्ततः ॥ ८ ॥

अन्वय—द्रव्यक्षेत्रकालभावैः हेयं एवं उपादेयं उपादेयं अपि हीयते ततः स्याद्वादस्य आदरः ॥ ८ ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से कभी हेय भी उपादेय हो जाता है एवं कभी उपादेय को भी छोड़ना पड़ता है इसी से वस्तु के वास्तविक तत्त्व को जानने के लिए स्याद्वाद शैली का महत्व है ।

विवेचन—अलग अलग अपेक्षा से, स्याद्वाद की शैली से हम तत्त्व को जानने की कोशीष क्यों करते हैं ? कारण है विवेक बुद्धि को विकसित करने का, जिससे हम त्याज्य को ग्रहण न करें और ग्राह्य को छोड़ न दें। वस्तु स्वभाव के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से पर्यायोंका भेद कर के भी तत्त्व विचार होता है। एक ही आम्रफल पहले कच्चा और बादमें पक्व होता है। द्रव्यका गुण बदलता है। क्षेत्र से हापूस, पायरी, केशर आदि अनेक प्रकार के आम्रफल होते हैं। काल से, ग्रीष्म काल के और अन्य कालके आम्रफल अलग होते हैं। भावद्रष्टि से यह आम्रफल के गंध, स्वाद, रूप और रंग के भेद होते हैं। इस तरह जो अनेक प्रकार के आम्रफल धर्म विधान अनुसार ग्राह्य होते हैं, जैसे कि गोवा में ग्रीष्म काल में पकती हुई पीत वर्णकी स्वादिष्ट हापूस। स्वस्थ व्यक्ति के लिये जो ग्राह्य हैं वह उत्तम फल रुग्ण व्यक्ति को त्याज्य होंगे। विष त्याज्य होते हुए भी औषधि के रूप में ग्राह्य है। किंतु उपवासी के लिये तो सर्व खाद्य पदार्थ और औषधि भी वर्ज्य होंगे। अलग अलग अपेक्षा से संयोग अनुसार उचित और अनुचित का विवेक होता है। स्याद्वाद की भाषामें ही अलग अलग अपेक्षा के अनुसार विवेकज्ञान का निरूपण हो सकता है।

ज्ञानं विशिष्टमादेयं हेयोपादेयगोचरम् ।

अज्ञानी तद्विना जन्तुर्लालापानान्नचाम्बुपः ॥ ९ ॥

अन्वय—हेयोपादेयगोचरम् विशिष्टं ज्ञानं आदेयं तद् विना जन्तुः अज्ञानी। लालापानात् न च अम्बुपः ॥ ९ ॥

एकादशोऽध्यायः

१०५

अर्थ—हेय और उपादेय रूप विवेक को बताने वाले शुद्ध ज्ञान को ही ग्रहण करना चाहिए इस शुद्ध ज्ञान के अभाव में जीव अज्ञानी ही है। क्योंकि अज्ञान से उसका कोई काम सफल नहीं होता है जिस प्रकार लार चाटने से प्यास नहीं मिटती है। अर्थात् जीवन के व्यवहारमें भी उचित और अनुचित का ज्ञान न हो तो कोई कार्य सफल नहीं होता है तो आत्मार्थी को तो सदाकाल आत्मा और अनात्मा या स्व और पर के जाग्रत विवेकज्ञान बिना सिद्धि संभव नहीं है।

यथैवानुदराकन्याप्यलोमा एडका पुनः ।

लोमाहारेऽप्यनशनी युक्त चेलोऽप्यकिञ्चनः ॥ १० ॥

अन्वय—यथा कन्या अनुदरा एडका अलोमा पुनः लोमाहारे अपि अनशनी युक्त चेलः अपि अकिञ्चनः ॥ १० ॥

अर्थ—व्यवहार में जिस प्रकार कन्या उदर से जन्मी होती है फिर भी उसे अनुदरा कहा जाता है। भेड़ लोम से युक्त होती है पर उसे अलोमा कहा जाता है, उपवास आदि में लोमों का आहार करते हुए भी साधु को अनशनी कहा जाता है एवं वस्त्र सहित होने पर साधु को अकिञ्चन कहा जाता है।

कन्या से वंश परम्परा नहीं चलती है अतः उसे अनुदरा कहा जाता है।

भेड़ के बाल निरन्तर कटते रहते हैं अतः उसे अलोमा कहा जाता है।

लोम जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वायवीय पदार्थ के रूपमें जो सर्वत्र तैरते रहते हैं वह श्वासोच्छ्वास से मानव शरीर का आहार बनते रहते हैं। किंतु उससे उपवासी का व्रतभंग नहीं माना जा सकता है।

कान्ताऽबलानगारोऽपि शय्यादिषु वसन्नपि ।

वस्त्रपात्रादि धरणेऽप्यपरिग्रहवान् मुनिः ॥ ११ ॥

अन्वय—कान्ता अबलानगारोऽपि शय्यादिषु वसन् वस्त्रपात्रादि-
धरणे अपि मुनि अपरिग्रहवान् ॥ ११ ॥

अर्थ—स्त्री कितनी ही समर्थ हो फिर भी वह अबला कही जाती है जैसे ही साधु भी शय्या आदि रखते हुए एवं वस्त्र पात्र धारण करते हुए भी अपरिग्रही होता है ।

माया विहीनं ब्रह्मैव कैवल्याय एव विचिन्त्यते ।

साक्षरो वा सकर्णः स्याच्छास्त्रज्ञोऽनक्षरः परः ॥ १२ ॥

अन्वय—माया विहीनं ब्रह्म कैवल्याय एव विचिन्त्यते परः साक्षरः
सकर्णः वा शास्त्रज्ञः अनक्षरः स्यात् ॥ १२ ॥

अर्थ—माया से रहित आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप परमात्मा मानी जाती है । दूसरा अज्ञानी आत्मा भले ही वह साक्षर हो अथवा बहुश्रुत हो, वह निरक्षर ही मानी जाती है ।

विवेचन—बौद्धिक विकास कितना ही क्यों न हो स्वयं को जानने के लक्ष्य को चुकनेवाले को ज्ञानी कैसे कहेंगे ?

आखुकुर्कुरमार्जारैः सद्भिः कोऽपि न गोधनी ।

धनी वा रेणुभस्मोधैस्तथा ज्ञानी भवोन्मुखः ॥ १३ ॥

अन्वय—आखुकुर्कुरमार्जारैः सद्भिः कोऽपि न गोधनी वा रेणु-
भस्मोधैः न धनी तथा भवोन्मुखः न ज्ञानी ॥ १३ ॥

अर्थ—(क्योंकि) चूहे, कुत्ते व बिल्लियों के घर में रहते हुए भी कोई गोधनी नहीं माना जाता एवं धूल तथा भस्म के ढेर होते हुए भी कोई धनी नहीं कहा जाता जैसे ही संसार की वृत्ति वाला कोई भी व्यक्ति ज्ञानी नहीं माना जा सकता है । अर्थात् आत्मा से पराङ्मुख व्यक्ति के लिये तो

शास्त्रका हो या अन्य प्रकारका, सर्व प्रकार का ज्ञान संचय धूल के ढेर समान निकम्मा है।

योयं संश्रयते मार्गं स तं शुद्धं प्रपद्यते ।

तत्शुद्धज्ञानलाभाय परीक्षैषा विधीयताम् ॥ १४ ॥

अन्वय—यः यं मार्गं संश्रयते स तं शुद्धं प्रपद्यते तत् शुद्धज्ञान लाभाय एषा परीक्षा विधीयताम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(कुमार्ग को छोड़कर) जो इस मार्ग को पकड़ता है वह उसे विशुद्ध रूप से प्राप्त करता है अतः शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए मेरे बताए मार्ग की परीक्षा करो। अर्थात् भगवान कहते हैं कि तुम भी अनुभव से गुजर कर इस मार्ग को पहचानो।

बलिना छलिनाप्युच्चैः कलिना मलिनात्मना ।

नाशयं शुद्धमशुद्धं च प्रकाशयं तन्मयो ह्यम् ॥ १५ ॥

अन्वय—छलिना कलिना बलिना मलिनात्मना उच्चैः अशुद्धं नाशयं शुद्धं प्रकाशयं अयं हि तन्मयः ॥ १५ ॥

अर्थ—छलमयी (प्रकृति) एवं कलियुग के प्रभाव से बलात् दूषित आत्मवान् को (मैत्री करूणा प्रमोद और मध्यस्थ आदि) उच्च भावना से अशुद्ध ज्ञान को नष्ट करना चाहिए एवं शुद्ध ज्ञान को प्रकाशित करना चाहिए क्योंकि आत्मा स्वयं शुद्ध ज्ञानमय है।

विवेचन—अघट घटियसी अर्थात् असंभव को संभव करनेवाली यह माया विचित्र छलरूप पटल में अपने को झूपा के जीवको संमोहित करती है इससे मुक्ति कैसे होती है? उपाय है मलिन भावनाओंका मैत्री आदि उच्च भावनाओं में सतत् चिंतन से परिवर्तन करना, सद्भावनाओं के सेवन से आंतर मलका नाश होकर चित्त में प्रज्ञाका प्रकाश होता है। स्थितप्रज्ञ आत्मार्थी तर्क ओर वितर्कका त्याग करके इन्द्रिय निरोध से, प्रकृतिरूपी माया से स्वयंकी ओर प्रतिक्रमण करता है। आत्मा को, आत्मा के बल से, आत्मा के लिये आत्मा में देखने से शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्म सूर्य के प्रकाश में मायारूपी तमस् के आवरण का क्षय होता है।

संगतः सर्वशास्त्रेषु सुधिया च परीक्षितः ।

सोऽयं भागवतः पन्था विभिन्नस्तु तदन्यथा ॥ १६ ॥

अन्वय—सर्वशास्त्रेषु संगतः सुधिया च परीक्षितः सः अयं भागवतः पन्था तदन्यथा तु विभिन्नः ॥ १६ ॥

अर्थ—सभी शास्त्रों से सम्मत एवं बुद्धिमानो से सुपरीक्षित यह बीत-राग प्रभु का निर्दिष्ट मार्ग है जो शुद्ध ज्ञानमय है इससे विपरीत अशुद्ध और दुःखदायी मार्ग है ।

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम् ।

शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥ १७ ॥

अन्वय—सत्यं शौचं दया क्षान्तिः त्यागः संतोषः आर्जवम्, शमः दमः तपः साम्यं तितिक्षा उपरतिः श्रुतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—सत्य भाषण, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, सहिष्णुता एवं उदासीनता मार्ग प्रकाशन हेतु गुण कहे गये हैं ।

ज्ञानं विरक्तिरास्तिक्यं प्रागल्भ्यमनहंकृतिः ।

मार्दवं प्रश्रयः शीलं स्थैर्यं च कौशलं स्मृतिः ॥ १८ ॥

अन्वय—विरक्तिरास्तिक्यं ज्ञानं प्रागल्भ्यं अनहंकृतिः मार्दवं प्रश्रयः शीलं कौशलं च स्थैर्यं स्मृतिः ॥ १८ ॥

अर्थ—ज्ञान, वैराग्य, आस्थिकता, प्रगल्भता (गांभीर्य), निरामि-मान, मृदुता, नम्रता, सदाचार, स्थिरता, कुशलता, स्मृति ।

इमे चान्येऽपि धैर्याद्याः नित्या यस्मिन् महागुणाः ।

प्राथ्यो महत्त्वमिच्छद्भिर्हीयते स न कर्हिचित् ॥ १९ ॥

अन्वय—यस्मिन् धैर्याद्याः अन्ये अपि महागुणाः नित्याः महत्त्वं इच्छद्भिः इमे (गुणाः) च प्राथ्या (स) कर्हिचित् न हीयते स्म ॥ १९ ॥

एकादशोऽध्यायः

१०९

अर्थ—अपना अभ्युदय चाहने वाले जीवों को इन गुणों तथा धैर्यादि अन्य गुणों से युक्त व्यक्ति से महागुणों को प्राप्त करने के लिये इच्छा करनी चाहिए। भाविक हृदय से महान गुणी का स्मरण करना चाहिये। गुणों को स्मरण करने वाले व्यक्ति का नाश नहीं होता है अर्थात् कल्याण ही होता है।

प्रायशो गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ।

दृश्यते रहितो लोकः पाप्मना कलिनेक्षितः ॥ २० ॥

अन्वय—साम्प्रतं पाप्मना कलिना इक्षितः लोकः श्री निवासेन गुणपात्रेण प्रायशः रहितः दृश्यते ॥ २० ॥

अर्थ—(किंतु) इस युग में पापयुक्त कलियुग के प्रभाव से संसार श्रीसम्पन्न गुणी लोगों से प्रायः हीन दिखाई देता है।

क्षान्त्यादि दशधा धर्मेऽन्तर्भवन्ति गुणाः समे ।

शुद्धैर्यत्तैर्गुणैर्योगात्तत्र ब्रह्म समुपास्यताम् ॥ २१ ॥

अन्वय—क्षान्त्यादियतेः दशधा धर्मे समे गुणाः अन्तर्भवन्ति । शुद्धैः तैः गुणैः योगात् तत् ब्रह्म समुपास्यताम् ॥ २१ ॥

अर्थ—(इसलिये) क्षमा आदि साधु के दस प्रकार के धर्मों में उपरोक्त समस्त गुण समाहित होते हैं और उन शुद्ध गुणों के योग से उस (अरिहंत स्वरूप) आत्म ब्रह्म की उपासना करो।

विवेचन—जिनवचन ज्ञान को प्रकट करता है। ज्ञान का सार है चारित्र जो फलित होता है श्रद्धा और सद्गुणों की प्राप्ति से और चारित्र का सार है मोक्ष जो वीतराग मार्ग का लक्ष्य है।

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

द्वादशोऽध्यायः

चन्द्रगति से मनोगति का समन्वय

[गौतम स्वामी ने पूछा है कि भगवान् चन्द्रगति से ज्योतिष शास्त्री भविष्य की कल्पना करते हैं तो उस भावी को मन से कैसे जाना जा सकता है ?

भगवान् रूपक के माध्यम से समझाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्यादय से कमल खिलता है वैसे ही ज्ञान सूर्य के प्रकाशित होने पर मन की बुद्धि रूपी कला प्रस्फुटित होती है। मन की कलाएँ साठ होती हैं एवं वर्ष भी साठ प्रकार के। अपने में ही सूर्य सम्बन्धी समाचारण उत्तरायण वा दक्षिणायण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। जब हम प्रवृत्तिमय होते हैं तो यह हमारे चित्त का उत्तरायण है एवं जब हम निद्रावश होते हैं तो चित्तकी दक्षिणायन अवस्था होती है। मन की विभिन्न अवस्थाएँ ही शरीर में ऋतुचक्र का विधान करती हैं। अधर्म भावना से मन की रात एवं शुद्ध भावना से मन का दिन होता है। इसी प्रकार ग्रह राशियों का भी सम्बन्ध शरीर की तथा मानसिक क्रियाओं से बताया गया है। शुभाशुभ भावनाओं के प्रतीक रूप में शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष की कल्पना की गई है इसलिये मनकी स्थितियों एवं ग्रह योगों से तात्कालिक कार्य के फलाफल का कालानुसार निर्णय करना चाहिए।]

* * *

द्वादशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्दवाच्चारतो ज्योतिः शास्त्रेण भावि मन्यते ।
मनसा तत्कथं वेद्यं तन्मार्गं कथय प्रभो ॥ १ ॥

अन्वय—श्री गौतम उवाच—ऐन्दवाश्चारतः ज्योतिः शास्त्रेण
भाविमन्यते प्रभो मनसा तत् कथं वेद्यं तन्मार्गं कथय ॥ १ ॥

अर्थ—गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा कि हे प्रभो! ज्योतिष
शास्त्र में चन्द्र की गति से भावि की सूचना दी जाती है तो उसको मन से
कैसे जाना जा सकता है हे प्रभो! आप उस मार्ग को बताइए ।

जिस शास्त्र के द्वारा ग्रहादि की गति एवं प्रभाव आदि के विषय में
जाना जाता है उसे ज्योतिष शास्त्र कहते हैं । भारतीय मनीषियों ने यह
स्पष्ट रूप से कहा है कि 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' अर्थात् जो पिण्ड
(मनुष्य शरीर) में है कही ब्रह्माण्ड में है । इस नियम के आधार पर ही
उन्होंने अपने योगबल तथा सूक्ष्म प्रज्ञा द्वारा शरीररूप और मण्डल का
भलीभांति पर्यवेक्षण कर के तदनुरूप आकाशीय सौरमण्डल जनित प्रभावों
को मानव शरीर में देखा है ।

श्री भगवानुवाच

मानसान्येव वर्षाणि अयनं वार्तवस्तथा ।
मासा पक्षो दिनं वेला वारा भं तिथयः पुनः ॥ २ ॥

अन्वय—मानसानि एव वर्षाणि अयनं वा ऋतवः तथा, मासा
पक्षः दिनं वेला वाराः भं तिथयः पुनः ॥ २ ॥

अर्थ—मन के १२ भाव ही वर्ष हैं क्योंकि वर्ष के मास भी १२ होते हैं ये ही उत्तरायण एवं दक्षिणायण दो अयन हैं मन की उर्ध्वगति को उत्तरायण एवं अधोगति को दक्षिणायन कहते हैं। ये ही छः ऋतुएं हैं जो मन के छः विकार हैं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य) मन के द्वादश भाव ही मास हैं ये ही मन के शुक्ल एवं कृष्ण अर्थात् धर्म और कर्म दो पक्ष हैं। इनसे ही दिन, वेला, वार, नक्षत्र तिथियाँ आदि होती हैं।

[चन्द्रमा की एक कला को तिथि कहा जाता है]

सूर्योदयान्मनोऽम्भोजे कला बोधस्य वर्धते ।

तमारभ्यैव वर्षाणां षष्टिः प्रतिकलं स्मृताः ॥ ३ ॥

अन्वय—सूर्योदयात् मनोऽम्भोजे बोधस्य कला वर्धते। तं आरभ्य एव प्रतिकलं वर्षाणां षष्टिः स्मृताः ॥ ३ ॥

अर्थ—सूर्योदय होने पर मन रूपी कमल में कलाओं का बोध विवर्द्धित होता है। मन की साठ कलाएं होती हैं; प्रत्येक कला के अनुसार वर्ष भी साठ प्रकार के होते हैं जिनकी गणना सूर्योदय से होती है। वर्ष के प्रभव, विभव आदि साठ नाम हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति सूर्योदय से मानी जाती है अतः वार का प्रारम्भ भी सूर्यवार से माना जाता है। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा रविवार के दिन सूर्योदय के समय अश्विनी नक्षत्र तथा मेष राशि के आदि में सभी ग्रहों की उपस्थिति में ब्रह्माजी ने सृष्टि की उत्पत्ति की। विश्व के कार्यारम्भ के साथ ही इसी समय से दिन, वार, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग तथा मन्वन्तर की गिनती की जाती है।

“ज्योतिर्विदाभरण” तथा “ब्रह्मपुराण”

द्वादशोऽध्यायः

अ. गी. - ८

११३

वर्षों (संवत्सरों के) साठ नाम :-

प्रभव	प्रमाथी	खन्	शोभाकृत	राक्षस
विभव	विक्रम	नन्दन	क्रोधी	नल
शुक्ल	वृष	विजय	विश्वावसु	पिंगल
प्रमोद	चित्रभानु	जय	पराभव	कालयुक्त
प्रजापति	सुभानु	मन्यथ	प्लवंग	सिद्धार्थी
अंगिरा	तारण	दुर्मुख	कीलक	रौद्र
श्रीमुख	पार्थिव	हेमलम्बी	सौम्य	दुर्मति
भाव	व्यय	विलम्बी	साधारण	दुन्दुभि
युवा	सर्वजित्	विकारी	विरोधकृत	रुधिरदगारी
धाता	सर्वधारी	शार्वरी	परिधानी	रक्ताक्षी
ईश्वर	विरोधी	प्लव	प्रमावी	क्रोधन
बहुधान्य	विक्रति	शुभकृत्	आनन्द	क्षय

वर्षाणां प्रभवादीनां भावो मनसि जायते ।

सूक्ष्मत्वात्स तु दुर्ज्ञानः संज्ञेयः सुधिया स्वयम् ॥ ४ ॥

अन्वय—प्रभवादीनां वर्षाणां भावो मनसि जायते स तु सूक्ष्म-
त्वात् दुर्ज्ञानः सुधिया स्वयं संज्ञेयः ॥ ४ ॥

अर्थ—संवत्सरों के प्रभव विभव ६० नाम हैं, प्रभव विभव आदि वर्षों के भाव मन में ही उत्पन्न होते हैं। मन के भाव सूक्ष्म होने के कारण दुर्ज्ञेय हैं। जिसमें सुधी (श्रेष्ठ बुद्धि है) है वही स्वयं उसको जान सकता है।

उग्रे दीप्ते तपोरक्ते तेजस्विन्युत्तरायणम् ।

चित्ते शान्तिः जाड्यभाजि निद्राणे दक्षिणायनम् ॥ ५ ॥

अन्वय—उग्रे दीप्ते तपोरक्ते तेजस्विनि उत्तरायणम्। जाड्य
भाजि चित्ते शान्तिः निद्राणे दक्षिणायनम् ॥ ५ ॥

अर्थ—उग्र, दीप्त एवं तप में लीन तेजस्वी भाव होने पर मन का उत्तरायण माना जाता है जब निद्रावस्था या जड़ता में मन की शांत स्थिति हो तो उसे मन का दक्षिणायन कहते हैं ।

दिनं प्रमाणं कथितं मानसं ह्युत्तरायणम् ।

देव एव सतां चेतो रात्रिस्तदक्षिणायनम् ॥ ६ ॥

अन्वय—मानसं उत्तरायणं दिनं प्रमाणं हि कथितम् देव एव सतां चेतः रात्रि तद् दक्षिणायनम् ॥ ६ ॥

अर्थ—दिन पर्यन्त मन का उत्तरायण माना जाता है । इसमें सज्जनों का चित्त देव रूपी ही होता है । रात्रि मन का दक्षिणायन है ।

साहंकारे च सौत्कर्षे स्वस्य वृत्तौ वसन्तकः ।

क्रुद्धे सत्पुष्णे लोकानां तापने ग्रीष्मवानृतुः ॥ ७ ॥

अन्वय—स्वस्य वृत्तौ साहंकारे सौत्कर्षे च वसन्तकः क्रुद्धे सत्पुष्णे लोकानां तापने ग्रीष्मवान् ऋतुः ॥ ७ ॥

अर्थ—जब मन अहंकारावस्था, उत्कर्षावस्था में होता है तो वह अपनी वृत्ति में वसन्त ऋतु माना जाता है । क्रोधावस्था और तृष्णावस्था एवं लोक पीड़ाकारिता में जब मन लगता है तब ग्रीष्म ऋतु मानी जाती है ।

दाने रसे प्रकाशादौ वर्षा मनसि निश्चिते ।

शौचे देशान्तरभ्रान्तौ शरदेव धनार्जने ॥ ८ ॥

अन्वय—मनसि दाने रसे प्रकाशादौ निश्चिते वर्षा । शौचे, देशान्तरभ्रान्तौ धनार्जने शरद् एव ॥ ८ ॥

अर्थ—दान, आनन्द, प्रसन्नता आदि का भाव जब मन में उत्पन्न होता है तो मन में वर्षा ऋतु का निश्चय किया जाता है । पवित्रता, देशाटन एवं धन प्राप्ति के उत्साहमान में शरद ऋतु की कल्पना की जा सकती है ।

जाड्ये प्रदीपने वह्नेः परिधाने च भोजने ।

हेमन्तः शिशिरः क्रीडा व्रीडा पीडारतादिषु ॥ ९ ॥

अन्वय—जाड्ये वह्नेः प्रदीपने परिधाने भोजने च हेमन्तः क्रीडा व्रीडा पीडारतादिषु शिशिरः ॥ ९ ॥

अर्थ—शीतलता में, जठराग्नि के प्रदीप्त होने पर हेमन्त ऋतु मानी जाती है। कौतुक लज्जा, पीडा और रति अवस्था में शिशिर ऋतु की कल्पना की जाती है।

सूर्योदयादहोरात्रे मानेन नाडिकाः ।

वसन्ताद्या हि ऋतवः प्रोक्ता मंत्रागमे ततः ॥ १० ॥

अन्वय—सूर्योदयात् अहोरात्रे मानेन दश नाडिकाः (भवन्ति) (तेन) वसन्ताद्या हि ऋतवः प्रोक्ता ततः मंत्रागमे ॥ १० ॥

अर्थ—सूर्योदय से ही दिन रात बनते हैं और इसी मान से दश-नाडियों के रूप में काल गणना की गई है और वसन्त आदि ऋतुएं भी संवत्सर की कालगणना के प्रकार हैं और मनसे भी मनुष्य के कालानुसारी स्वभाव का परिगणन किया जाता है ऐसा मंत्र शास्त्र में कहा गया है।

“ दिनं दिनेशस्य यतोत्र दर्शने तमी तमो हन्तुरदर्शने सती ”

— सिद्धान्त शिरोमणि

अर्थात् सूर्य का दर्शन ही दिन और अपदर्शन ही रात्रि है।

वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते ।

शिशिरे चामलकरसं घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥ ११ ॥

अन्वय—वर्षासु लवणं अमृतं शरदि जलं गोपयः च हेमन्ते । शिशिरे च आमलकरसं वसन्ते घृतं अन्ते च गुडः ॥ ११ ॥

अर्थ—वर्षा ऋतु में लवण, शरद ऋतु में जल एवं हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर ऋतु में आँवले का रस, वसन्त में घी एवं अन्तिम व्रीष्म

ऋतु में गुड़ अमृत के समान माना जाता है। अथोत् इन ऋतुओं में इन वस्तुओं का सेवन हितावह है।

दृश्यते चिंत्यते यद्वा कथ्यते यादृशो रसः ।

तादृगृतुः प्रश्रफले मनोज्ञेन विमृश्यताम् ॥ १२ ॥

अन्वय—यादृशः रसः दृश्यते चिन्त्यते यद्वा प्रश्रफले तादृग्
ऋतुः मनोज्ञेन विमृश्यताम् ॥ १२ ॥

अर्थ—मन की रुचि एवं भाव देखकर उसी के अनुसार प्रश्रकर्ता की भाव ऋतु का विचार मनोज्ञ करते हैं।

विवेचन—कालपरिवर्तन से यदि स्थूल देह की प्रकृति में परिवर्तन होता है तो मनमें भी भावों का परिवर्तन न हो यह संभव नहीं है। ऋतुचक्र सदृश भाव-चक्र के रूपमें चित्त में परिणमन होते हैं।

मेषो दिदृक्षया जल्पे वृषो भोगे तु मिथुनम् ।

जले वांछाबलात् कर्की सिंहः सात्त्विकचित्तया ॥ १३ ॥

अन्वय—दिदृक्षया मेषः जल्पे वृषः भोगे तु मिथुनम्। जले
वांछाबलात् कर्की, सात्त्विकचिन्तया सिंहः ॥ १३ ॥

अर्थ—अब राशियों का वर्णन हो रहा है। मन की प्रकृति को देखने की इच्छा में मेष राशि, बोलने में वृषम, भोगेच्छा में मिथुन, जल की इच्छा बलवती होनेपर कर्क एवं सात्त्विक चिन्तन की अवस्था में सिंह राशि होती है।

विवेचन—सम्पूर्ण आकाश मण्डल निरन्तर घूमता रहता है अतः पूर्वी क्षितिज पर जिस समय जो राशि दिखाई देती है उस समय की वही राशि मानी जाती है। सृष्टि में सर्वप्रथम पूर्वी क्षितिज पर मेषराशि दिखाई दी थी अतः राशियों की गणना मेषसे ही प्रारम्भ होती है जो राशिमंडल अनुसार प्रत्येक जातक के स्वभावका सद्भाव और दुर्भाव का लक्षण माना गया है और ज्योतिषशास्त्र मन की गहराइ को कैसे झू शकता है इसका निर्देश किया गया है। यहाँ राशि और भावका संबंध का संकेत दिया गया है। जिज्ञासु को ज्योतिषशास्त्र का पठन करना होगा।

कन्या जाड्येन चापल्ये क्षमायां सुभगादरे ।

व्यवसाये तुला कीटः पैशुन्यखलतेच्छया ॥ १४ ॥

अन्वय—जाड्येन कन्या, चापल्ये क्षमायां सुभगादरे व्यवसाये तुला पैशुन्यखलतेच्छयाकीटः ॥ १४ ॥

अर्थ—जड़ता में कन्या राशि, चपलता में, क्षमा में (सौभाग्यशाली के) अतिथी आदर सत्कार के भाव में तुला राशि, पिशुनता एवं दुष्टावस्था में वृश्चिक (कीटः) राशि होती है ।

रणे छायावाहनादेः संग्रहे धन्वितान्विता ।

समुद्रवार्तया क्रौर्याच्चापल्ये मकरो हृदि ॥ १५ ॥

अन्वय—रणे, छाया वाहनादेः संग्रहे धन्विता, समुद्रवार्तया क्रौर्यात् हृदि चापल्ये मकरः ॥ १५ ॥

अर्थ—रण में आश्रय (घर) वाहन आदि के संग्रह में अर्थात् वीर रस या संग्रह की वृत्ति में धनुराशि तथा समुद्रयानादि कार्य भावना में मकर राशि का अनुमान किया जाता है । क्रूरता में एवं चपलता युक्त हृदय में मकर राशि मानी जाती है ।

स्थैर्येण कार्ये सारस्येऽमलिनाचरणारूचेः ।

कुम्भोदयोऽथ मांगल्ये मीनो धर्मे शिते शुभे ॥ १६ ॥

अन्वय—कार्ये स्थैर्येण सारस्ये अमलिनाचरणारूचेः कुम्भोदयः धर्मे शिते शुभे मांगल्ये मीनः ॥ १६ ॥

अर्थ—स्थिरता युक्त कार्य में, सद्भावयुक्त शुद्धाचरण में कुम्भ राशि और उसके पश्चात् मांगलिक प्रसंग में, धर्म में शुभ कर्म में मीन राशि मानी जाती है ।

वस्तु यद्राशिसंबद्ध-मुपानेयमचिन्तिम् ।

भक्ष्यं वा मनसा ध्येयं मनोराशिः मनोजवत् ॥ १७ ॥

अन्वय—यद् वस्तु भक्ष्यं वा अचिन्तितम् मनसा राशि संबद्धं
उपानेयम् ध्येयं मनोराशिः मनोजवत् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो वस्तु जिस राशि से सम्बन्धित हो उसी के अनुसार
सहज भावसे फल सोचना चाहिए। जिस प्रकार मन के भाव के अनुसार
मन की राशि जानी जाती है वैसे ही उपभोग वस्तुएं के बारे में अर्थात्
मनोज्ञ पुरुषको विचार करना चाहिये।

जल्पेद्यद्राशिमान् जीवो भवेद्यद्वा मनःप्रियम् ।

मनःशास्त्रविदा मान्य-स्तद्राशिर्मानसस्तदा ॥ १८ ॥

अन्वय—यत् राशिमान् जीवः जल्पेत् वा मनःप्रियम् भवेत् तदा
मनःशास्त्रविदा मानसः तत् राशिः मान्यः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस राशि का भाव धारण करके जीव बोलता है अथवा
उसका जो इच्छित कार्य होता है उसी के अनुसार मनोशास्त्रियों के द्वारा
उस के मन की राशि जानी जाती है।

अधर्मभावनाद्रात्रि दिवसो धर्मनिष्ठया ।

शुभभावनया शुक्लपक्षः कृष्णो विपर्ययात् ॥ १९ ॥

अन्वय—अधर्मभावनात् रात्रिः धर्मनिष्ठया दिवसः शुभभावनया
शुक्लपक्षः विपर्यात् कृष्णः ॥ १९ ॥

अर्थ—अधर्म भावना की स्थिति में रात्रि मानी जाती है, एवं धर्म
स्थिति में दिवस माना जाता है। शुभ भावना के उद्रेक में शुक्ल पक्ष
तथा विपरीतावस्था में कृष्ण पक्ष माना जाता है।

वृद्धौ नन्दा शिवे भद्रा युद्धे राज्ये जयेच्छया ।

योगे रिक्ता मोक्षलाभे पूर्णापूर्णेच्छया हृदि ॥ २० ॥

अन्वय—वृद्धौ नन्दा शिवे भद्रा युद्धे राज्ये इच्छया जया योगे
रिक्ता मोक्षलाभे हृदि पूर्णेच्छया पूर्णा ॥ २० ॥

अर्थ—उत्कर्ष की भावना में नन्दा तिथि, कल्याणकारी कामों में भद्रा, युद्ध, राज्य में विजय की इच्छा में जया, योग में रिक्ता, मोक्ष लाभ में तथा हृदय की इच्छाएँ पूर्ण होने पर पूर्ण तिथि मानी जाती है।

एभिश्चिह्नैर्मनो मत्वा कार्ये तात्कालिके फले ।

प्रश्ने भाविनि वा भावे लाभयेत्सिद्धिनिश्चयम् ॥ २१ ॥

अन्वय—एभिः चिह्नैः मनः मत्वा तात्कालिके फले कार्ये भाविनि प्रश्ने भावे वा सिद्धि निश्चयं लाभयेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—इन्हीं लक्षणों से मन की स्थिति को समझकर शीघ्र (तात्कालिक) कार्य की सफलता एवं भावि प्रश्न के निदान अथवा उसमें सफलता के बारे में निश्चय करना चाहिए।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः ॥



त्रयोदशोऽध्यायः

मन में कालचक्र का निरूपण

[गौतम स्वामी ने पूछा है कि भगवान चन्द्रकलाएं मन में ही प्रकाशित है तो इसका तिथि वारों से सम्बन्ध निदर्शित कीजिए ।

श्री भगवान ने उत्तर दिया कि प्रतिपदा से लेकर पूनम पर्यन्त तिथियाँ मन की ही अवस्थाएँ हैं जैसे मन की एकता में प्रतिपदा और द्वित्व भावना में दूज होती है इसी प्रकार मन की अवस्थाओं में ही वारह मासों का स्वरूप अवस्थित है । श्रुत धर्म की भावना ही श्रावण मास है एवं शास्त्र भावना भाद्रपद मास है । धर्म कर्म एवं कल्याण की प्राप्ति में आश्विन मास माना गया है । सात वारों का भी मन की स्थितियों से अनुसंधान किया गया है । मन में भोजन पान की इच्छा सूर्योदय स्वरूप रविवार है तो शान्त स्वरूपता सोमवार है । इसी प्रकार नक्षत्रों का भी शरीर की मानसिक स्थितियों में समाहार हो जाता है । जैसे अर्थ संग्रह में भरणी एवं व्रत तथा तपस्या में कृतिका नक्षत्र माना जाता है ।]

* * *

त्रयोदशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रं प्रधानतो ज्योतिः मनस्येव विजृम्भते ।
तिथिवारभमेतस्य प्रकाशय जगत्प्रभो ॥ १ ॥

अन्वय—प्रधानतः ऐन्द्रं ज्योतिः मनसि एव विजृम्भते एतस्य
तिथिवारं भं जगत्प्रभो प्रकाशय ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने पूछा हे भगवान् ! मुख्य रूप से चन्द्र-
कलानुसार मन की कलाएं विकसित होती है तो तदनुसार तिथिवार
नक्षत्रादि का निरूपण कीजिए ।

विवेचन—चन्द्रमा की कला को तिथि कहते हैं ।

आकाश मंडल में चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, ब्रह्मपति और शनि इन
सात ग्रहों की स्थिति क्रमशः एक दूसरे के ऊपर मानी जाती है ।

नक्षत्रों को आकाश का दूरिसूचक स्तम्भ कहा जाता है । मनुष्य शरीर
(ब्रह्माण्ड के पिण्ड में) में भी नक्षत्रों की स्थिति ज्योतिषशास्त्र मानता है । दैनिक
गोचर में जब कोई पापग्रह इन नक्षत्रों पर आता है तो वह जातक के सम्बन्धित
अंगों में कष्ट उत्पन्न करता है ।

श्री भगवानुवाच

ऐक्ये तिथिः स्यात्प्रथमा द्वितीया द्वित्ववाञ्छया ।

त्रिधा प्रवृत्तौ तृतीया चतुर्थी त्यागयोगतः ॥ २ ॥

पंचमी पंचकधिया षष्ठी षड्वस्तुभावेनात् ।

सप्तमी सप्तधाभावात् अष्टमी अष्टधार्थतः ॥ ३ ॥

अन्वय—ऐक्ये प्रथमा तिथिः स्यात् द्वित्ववाञ्छया द्वितीया,
त्रिधा प्रवृत्तौ तृतीया, त्यागयोगतः चतुर्थी ॥ २ ॥

अन्वय—पंचकक्षिया पंचमी, षड्वस्तुभावनात् षष्ठी, सप्तधा भावात् सप्तमी अष्टधार्थतः अष्टमी ॥ ३ ॥

अर्थ—मन की एकत्व भावना में प्रथमातिथि, द्वैत की भावना में द्वितीया, त्रित्व (चंचलता) की भावना में तृतीया, त्याग के योग से चतुर्थी, पांच की (समग्र समूह) बुद्धि में पंचमी, छः वस्तुओं की भावना में षष्ठी, सात प्रकार के भावों से सप्तमी, आठ आठ की भावना की इच्छा में अष्टमी। अर्थात् ब्रह्म एक है, मानने पर प्रथमा, द्वि स्वरूप मानने पर द्वितीया, सत्त्व रजः तमः आदि के तीन तीन विभागों की बुद्धि में तृतीया दान शील तप भाव आदि की भावना में चतुर्थी, पंच परमेष्ठि आदि पांच २ वस्तुओं की विचारणा में पंचमी, षड्व्यादि छः छः वस्तुओं की भावना में षष्ठी, सप्तनयादि सात सात वस्तुओं की भावना में सप्तमी अष्ट कर्मादि आठ आठ वस्तुओं की भावना में अष्टमी।

ज्योतिष शास्त्रानुसार तिथियों के स्वामी :-

प्रतिपदा - अग्नि	नवमी - दुर्गा
द्वितीया - ब्रह्मा	दशमी - काल
तृतीया - गौरी	एकादशी - विश्वेदेवा
चतुर्थी - गणेश	द्वादशी - विष्णु
पंचमी - शेषनाग	त्रयोदशी - कामदेव
षष्ठी - कार्तिकेय	चतुर्दशी - शिव
सप्तमी - सूर्य	पूर्णिमा - चन्द्रमा
अष्टमी - शिव	अमावस्या - पितर

एवं यत्संख्यया भावश्चिन्त्यते दृश्यतेऽथवा ।

कथ्यते तिथिरावेद्यः प्रश्ने तत्संख्यया हृदः ॥ ४ ॥

अन्वय—एवं यत् संख्यया भावः चिन्त्यते अथवा दृश्यते प्रश्ने तत्संख्यया हृदः तिथिः आवेद्यः कथ्यते ॥ ४ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

१२३

अर्थ—इस प्रकार जिस संख्या से पदार्थ देखा जाता है अथवा उसके भाव को सोचा जाता है उस संख्या के अनुसार प्रश्नकर्ता की हृदय की तिथि ध्यान कर कही जाती है ।

लिखित्वाङ्कान् पंचदश यद्वा तन्दुलपुञ्जकान् ।

विन्यस्य नाणकं तेषु क्रियते तिथिनिर्णयः ॥ ५ ॥

अन्वय—पंचदश अङ्कान् लिखित्वा यद्वा तन्दुलपुञ्जकान् तेषु नाणकं विन्यस्य तिथि निर्णयः क्रियते ॥ ५ ॥

अर्थ—१५ अंको को लिखकर या चावल की १५ ढेरियों को रख उन पर जिस अंक अथवा ढेरी पर प्रश्नकर्ता धन रखता है उसी के अनुसार तिथि निर्णय किया जाता है ।

श्रावणः स्यात् श्रुतौ धर्म शास्त्रे भाद्रपदः पुनः ।

धर्मकर्मच्छिवप्राप्तेरिच्छया तपसोऽश्विनः ॥ ६ ॥

अन्वय—श्रुतौ श्रावणः पुनः धर्मशास्त्रे भाद्रपदः धर्मकर्मच्छिव-प्राप्तेः इच्छया तपसः अश्विनः ॥ ६ ॥

अर्थ—धर्म श्रावण में श्रावण मास, धर्मशास्त्र चिन्तन में भाद्रपद मास, धर्म कर्म एवं मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से तप करने पर आश्विन मास ।

स्नानभूषणसाम्राज्य-वाञ्छया कार्तिकः स्मृतः ।

जगच्छीर्षे शिवपदं तन्मार्गेच्छापरः परः ॥७॥

अन्वय—स्नान भूषण साम्राज्य वाञ्छया कार्तिकः स्मृतः । जगत् शीर्षे शिवपदं तन्मार्गे इच्छापरः परः ॥७॥

अर्थ—स्नान, आभूषण, साम्राज्य की इच्छा में कार्तिक मास कहा गया है, जगत में सर्वोच्च बनने एवं शिवपद प्राप्ति के लिए उस मार्ग में चलने की इच्छा ही मार्गशीर्ष मास है।

पोषोऽतिपोषात् पुत्रादेर्माघो वैरिविनाशने ।
फाल्गुनो मैथुने पात्रत्यागे विवसनाशया ॥ ८ ॥

अन्वय—पुत्रादेः अतिपोषात् पोषः वैरिविनाशने माघः । मैथुने
पात्रत्यागे विवसनाशया फाल्गुनः ॥ ८ ॥

अर्थ—पुत्रादि के अधिक पोषण की इच्छा में पौष मास, शत्रुनाश में
माघ मास, विवस्त्र होने की इच्छा में, मर्यादा रहित होने में अथवा मैथुन
क्रिया में फाल्गुन मास ।

चेत्रो विचित्रव्यापारे परः शाखासु वर्धनः ।
ज्येष्ठानुसाराज्ज्येष्ठोऽपि शुचौ शौचं शिवस्पृहा ॥ ९ ॥

अन्वय—विचित्र व्यापारे चैत्रः परः शाखासु वर्धनः । ज्येष्ठानु-
सारात् ज्येष्ठः अपि शुचौ शिवस्पृहा शौचं ॥ ९ ॥

अर्थ—विचित्र कार्य करने में चैत्रमास, अपनी परम्परा में वृद्धि
वैशाख, बड़प्पन में ज्येष्ठमास पवित्रता एवं कल्याण की इच्छा आषाढ
मास होता है ।

मनस्यर्कोदयो द्रष्टुं भोक्तुं पातुं तथेच्छया ।
जाड्येन शान्त्या वाक्येन मृष्टेन च विधूदयः ॥ १० ॥

अन्वय—द्रष्टुं भोक्तुं पातुं तथा इच्छया मनसि अर्कोदयः शान्त्या
जाड्येन वाक्येन मृष्टेन च विधूदयः ॥ १० ॥

अर्थ—देखने की, भोगने, पीने आदि की इच्छा जब मन में हो तब
रविवार तथा मन की शान्ति से तथा शान्त वाणी से युक्ति होने पर
सोमवार होता है ।

त्रयोदशोऽध्यायः

१२५

कषाये नोकषाये वा वाञ्छा मंगलवारतः ।

ज्ञाने ध्याने शास्त्रवार्ताविधौ वारस्तु बोधनः ॥ ११ ॥

अन्वय—मंगलवारतः कषाये नोकषाये वा वाञ्छा । ज्ञाने ध्याने शास्त्रवार्ताविधौ तु बोधनः वारः ॥ ११ ॥

अर्थ—कषाय अथवा नोकषाय की इच्छा में मंगलवार जानना चाहिए तथा ज्ञान, ध्यान, शास्त्र श्रवण में मन की इच्छा को बुधवार जानना चाहिए ।

कषाय—कर्म अथवा संसार (भव) में वृद्धि करने वाला । उसे कषाय कहते हैं । कषाय चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

नोकषाय—कषायों को प्रदिप्त करने वाला । इसके नौ प्रकार हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ।

देवार्चने गुरोः सम्यक् सेवने पान्थकादिवत् ।

परोपकारे विद्यादौ हृदि वाञ्छा गुरुदयः ॥ १२ ॥

अन्वय—पान्थकादिवत् गुरोः सम्यक् सेवने देवार्चने परोपकारे हृदि विद्यादौ वाञ्छा गुरुदयः ॥ १२ ॥

अर्थ—देवार्चन में, पांथक आदि की तरह गुरु की सम्यक् सेवामें, परोपकार में, हृदय की विद्या आदि की इच्छा में गुरुवार मानना चाहिए ।

राजन्यायेऽथ यवनाचाराध्ययनचिन्तने ।

स्थापनोत्थापने तीर्थयात्रायां भार्गवो हृदि ॥ १३ ॥

अन्वय—अथ राजन्याये यमनाचाराध्ययनचिन्तने स्थापनोत्थापने तीर्थयात्रायां हृदि भार्गवः ॥ १३ ॥

अर्थ—राज्यनीति, यवनों के आचार (ज्योतिष शास्त्र) के अध्ययन चिन्तन में, स्थापन उत्पादन की क्रिया में एवं तीर्थ यात्रा की इच्छा में मन लगने पर उसमें शुक्रवार मानना चाहिए ।

हिंसायामनृते क्रूरकार्ये चौर्यादिकर्मणि ।

द्यूतादेरिच्छया मान्द्ये ज्ञेयं मंदमयं मनः ॥ १४ ॥

अन्वय—हिंसायां अनृते क्रूरकार्ये चौर्यादिकर्मणि द्यूतादेः इच्छया मान्द्ये मनः मंदमयं ज्ञेयं ॥ १४ ॥

अर्थ—हिंसा की प्रवृत्ति में, झूठ बोलने में, घातक कार्य में, चौर्य कर्म में जुआ एवं मन्दता में मन के रमने पर उसमें शनिवार जानना चाहिए ।

अश्विनीच्छावशाद्गत्यां याम्यं रोगेऽर्थ संग्रहे ।

व्रते तपसि वाग्नेयं ब्राह्म्यं स्यात् पाठशौचयोः ॥ १५ ॥

मृगाच्चापल्यमाद्र्यायां स्नाने पानेऽम्बुवर्षणे ।

पुनर्वसू धनोत्पादे पुष्यः पोषणकर्मणि ॥ १६ ॥

अन्वय—गत्यां इच्छावशात् अश्विनी रोगे अर्थसंग्रहे याम्यं व्रते तपसि वा आग्नेयं ब्राह्म्यं स्यात् पाठशौचयोः ॥ १५ ॥

अन्वय—मृगात् चापल्यं आद्र्यायां स्नाने पाने अम्बुवर्षणे धनोत्पादे पुनर्वसू पोष्यकर्मणि पुष्यः ॥ १६ ॥

अर्थ—गमन की इच्छा अर्थात् यात्रादि में रूचि होने पर अश्विनी नक्षत्र, रोग में तथा अर्थ संग्रह में भरणी (यम देवता), व्रत एवं तप में कृतिका (अग्निदेव), अध्ययन एवं पवित्रता में रोहिणी (ब्रह्मदेव), चपलता में मृगशीर्ष व स्नान, पान व अम्बुवर्षण में आद्र्या, धनार्जन में पुनर्वसु तथा पोषण कर्म में मन की भावना होने पर पुष्य नक्षत्र होता है ।

मनुष्यशरीर में नक्षत्रों की स्थिति एवं देवता :

नक्षत्र	स्थान	देवता
अश्विनी	- पाँवों के उपरी भाग में	- अश्विनी कुमार
भरणी	- पाँवों के तलवों में	- काल
वृत्तिका	- सिर में	- अग्नि
रोहिणी	- भाल में	- ब्रह्मा
मृगशिरा	- बाहों में	- चन्द्रमा
आर्द्रा	- आँखों में	- रुद्र
पुनर्वसु	- नाक में	- अदिति
पुष्य	- चेहरे में	- बृहस्पति
आश्लेषा	- कानों में	- सर्प
मघा	- होठों में	- पितर
पूर्वा फाल्गुनी	- दाएं हाथ में	- भग
उत्तरा फाल्गुनी	- बाएं हाथ में	- अर्यमा
हस्त	- उँगलियों में	- सूर्य
चित्रा	- गर्दन में	- विश्वकर्मा
स्वाति	- सीने में	- पवन
विशाखा	- छाती में	- सुकाग्नि
अनुराधा	- उदर में	- मित्र
ज्येष्ठा	- आमाशय में	- इन्द्र
मूल	- कोख में	- निःश्रुति
पूर्वाषाढा	- पीठ में	- जल
उत्तराषाढा	- रीढ़ में	- विश्वदेव
श्रवण	- कमर में	- विष्णु
धनिष्ठा	- गुदा में	- वसु
शतभिषा	- दाईं जांघ में	- वरुण
पूर्वा भाद्रपद	- बाईं जांघ में	- अजैकपाद
उत्तरा भाद्रपद	- पिण्डली में	- अहिर्बुध्न्य
रेवती	- टखने में	- पूषा
अभिजित्	-	- ब्रह्मा

सार्व्यं विषेऽन्यदोषोक्तौ मघा स्वपितृतर्पणे ।

भोगादौ पूर्वफाल्गुन्या—मुत्तरात्त्वग्निदीपने ॥ १७ ॥

अन्वय—अन्यदोषोक्तौ विषे सार्व्यं स्वपितृ—तर्पणे मघा पूर्व-
फाल्गुन्यां भोगादौ उत्तरा तु अग्निदीपने ॥ १७ ॥

अर्थ—दूसरे के दोषान्वेषण तथा विष प्रयोग में अश्लेषा (सर्प
देवता), अपने पितरों के तर्पण में मघा, भोगों की इच्छा में पूर्वाफाल्गुनी,
और अग्निदीपन अथवा अग्निहोत्रादि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र होता है ।

कलाभ्यासबलं हस्ते विचित्रेच्छा तु चित्रयां ।

स्वातौ वातप्रयत्नाद्यैश्वर्यकाम्यं विशाखया ॥ १८ ॥

अन्वय—हस्ते कलाभ्यासबलं चित्रया तु विचित्रेच्छा स्वातौ वात-
प्रयत्नादि ऐश्वर्य काम्यं विशाखया ॥ १८ ॥

अर्थ—कलाभ्यास की शक्ति में हस्त नक्षत्र, विचित्र इच्छाओं में
चित्रा, कल्पनादि में स्वाति नक्षत्र, प्रभुता की कामना में विशाखा नक्षत्र
होगा ।

राजदेवकलामैत्रे ज्येष्ठायां ज्येष्ठसंगतिः ।

धनं वा भोजनं मूले महान् लाभः परद्वये ॥ १९ ॥

अन्वय—मैत्रे राजदेव कला ज्येष्ठायां ज्येष्ठ संगतिः धनं वा
भोजनं मूले महान् लाभः पर द्वये ॥ १९ ॥

अर्थ—नक्षत्र में राजा व देवता की संगति में अनुराधा नक्षत्र, बड़ों
की संगति में ज्येष्ठा, धन एवं भोजन की इच्छा में मूल नक्षत्र, महान् लाभ
की स्थिति में पूर्वाषाढा व उत्तराषाढा नक्षत्र होगा ।

श्रुतौ धर्म्या श्रुतिसेवा धनिष्ठायां महद्धनम् ।

जलक्रीडादि वारुण्यां शिवमिच्छेत्त्वरद्वये ॥ २० ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

१२९

अ. गी. - ९

अन्वय—श्रुतौ श्रुतिसेवा धर्म्या धनिष्ठायां जलक्रीडादि परद्वये
शिवं इच्छेत् ॥ २० ॥

अर्थ—शास्त्र श्रवण में श्रवण नक्षत्र, महत् धन की प्राप्ति में धनिष्ठा, जल क्रीडा में शतभिषा (वारुणीदेव), शुभ की कामना में पूर्वा-भाद्रपद व उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र होते हैं।

अन्यायवारणे भूयः प्रतापोदयकारणे
राजधर्मात् प्रजापोषे रेवत्यां मानसी रूचिः ॥ २१ ॥

अन्वय—रेवत्यां अन्यायवारणे भूयः प्रतापोदयकारणे राज-धर्मात् प्रजापोषे मानसी रूचिः ॥ २१ ॥

अर्थ—अन्याय को रोकने में, प्रताप के उदय के कारण में, राजधर्म से प्रजा के पोषण की भावना में रेवती नक्षत्र होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मनुष्य शरीररूपी पिण्डाण्ड विशाल ब्रह्माण्ड की ही अनुवृत्ति है तथा विश्व का संचालन करने वाली जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सभी अंगरूप से मनुष्य शरीर में विद्यमान हैं।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥



चतुर्दशोऽध्यायः

मनोजय के उपाय

[गौतम स्वामी ने वीर भगवान् से पूछा है कि आयुर्वेद शास्त्र में इंगला पिंगलादि नाडियों से तथा ज्योतिष शास्त्र में दश नाडियों से भूत भावी को जान लेते हैं तो मन से भी भूत भावी को कैसे जाना जा सकता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया— नाभि मंडल में स्थित नाडियों का समूह मनोचक्र को संचालित करता रहता है। प्राणायाम एवं ध्यान से तथा आत्म भावना से मन को ब्रह्म द्वार में लीन किया जाता है। शरीर में जब वातोद्रेक होता है तो चित्त में मलीनता स्थिरता एवं भय की व्याप्ति होती है। पित्तोदय से शरीर में चंचलता एवं साहसादि भाव उत्पन्न होते हैं। अष्टकर्मावरणों से ही शरीर में वात पित्तादि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः अभ्यासपूर्वक मनो भावों को जान कर तत्तत् उपायों से मन को वश में करना चाहिये। उर्ध्वगति चित्त में परमात्मा साक्षात् होंगे। मन की शुद्धि एवं वशीकरण के समस्त उपाय ज्ञान क्रियान्वित हैं। मन सदज्ञान से सम्बद्ध है जो लोकालोक का प्रकाशक है। ज्ञान ही मोक्ष का प्रधान कारण है। कष्टसाध्य क्रिया करने पर भी ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। यह ज्ञान मन की शुद्धि एवं बुद्धि की वृद्धि के लिये होता है अतः अनित्यादि बारह भावनाओं के द्वारा मन को निर्मल करना चाहिये।]

चतुर्दशोऽध्यायः

श्री गौतमउवाच

ऐन्द्रं स्वरूपं नाडिभि-ज्योतिर्ज्ञो वा मिषग्वरः ।

भूतं भावि भवद्वेत्ति ज्ञेयं तन्मनसा कथम् ॥ १ ॥

अन्वय-ज्योतिर्ज्ञः मिषग्वरः वा नाडीभिः भूतं भावि भवत् वेत्ति तन्मनसा कथं ज्ञेयम् ॥ १ ॥

अर्थ-श्री गौतमस्वामी ने पूछा हे भगवान् ज्योतिषी तथा वैद्य नाडियों से ही भूत भविष्य एवं वर्तमान को जान लेते हैं ऐसा मन से किस प्रकार जाना जा सकता है ?

श्री भगवानुवाच

नाभिस्थं नाडिकोरः श्वं मनश्चक्रं प्रचालयेत् ।

वायुना तेन संकल्पा जायन्ते बाह्यहेतुभिः ॥ २ ॥

अन्वय-नाभिस्थं नाडिकोरः स्वं मनश्चक्रं प्रचालयेत् । तेन वायुना बाह्यहेतुभिः संकल्पा जायन्ते ॥ २ ॥

अर्थ-नाभिकमल में स्थित नाडिमण्डल अपने मन के चक्र को संचालित करता है उसी वायु से बाह्य कारणों द्वारा संकल्प उत्पन्न होते हैं । अर्थात् जिस जिस विषय के सम्पर्क में मन आता है तदनुसार संकल्प उत्पन्न होते हैं ।

प्राणायामबलामन्त्रध्यानाज्जीवस्य भावनात् ।

ब्रह्मद्वारे मनो लीनं भवेद्विश्वप्रकाशकम् ॥ ३ ॥

अन्वय-जीवस्य भावनात् प्राणायाम् बलात् मन्त्रध्यानात् ब्रह्मद्वारे लीनं मनः विश्वप्रकाशकं भवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—जीव की शुद्धचैतन्यस्वरूप भावना से और प्राणायाम के बल से संयम करके तथा मंत्र ध्यान से ब्रह्मरन्ध्र में लीन हुआ मन समस्त विश्व का प्रकाशक होता है। यहाँ तीन प्रकार की साधनाएं निदर्शित की गई हैं।

वातोदयाद्भवेच्चित्ते जडताऽस्थिरताभयम् ।

शून्यत्वं विस्मृतिः श्रान्ति-ररति-श्चितविभ्रमः ॥ ४ ॥

अन्वय—चित्ते वातोदयात् जडता अस्थिरता भयं, शून्यत्वं विस्मृतिः श्रान्तिः अरतिः चित्त विभ्रमः भवेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—आयुर्वेदोक्त वात, पित्त, कफ रोगात्मक स्वरूप का मन पर प्रभाव बताते हैं। वायु के प्रभाव के कारण मन में जडता, अस्थिरता, भय, रिक्तता, विस्मृति, थकान, अरति तथा भटकाव होता है।

पित्तोदयाच्चंचलत्वं साहसं क्रुद्धता स्मरः ।

कफोदयात्स्नेह हास्य-शोका मौढयं रतिः परा ॥ ५ ॥

अन्वय—पित्तोदयात् चंचलत्वं साहसं क्रुद्धता स्मरः। कफोदयात् हास्य शोका मौढयं रतिः परा ॥ ५ ॥

अर्थ—मन में पित्त के उदय से चंचलता, साहस, क्रोध एवं काम की भावना तथा कफ के उदय से हँसी, शोक, मूर्खता, उत्कृष्ट इत्यादि भावनाओं का संचार होता है।

ज्ञानावरणसंज्ञेयो वातः सिद्धान्तवादिनाम् ।

पित्तमायुः स्थितेवाच्यं नामकर्म कफात्मकम् ॥ ६ ॥

अन्वय—वातः सिद्धान्तवादिनां ज्ञानावरणसंज्ञेयः। पित्तं आयुः स्थितेः नामकर्म कफात्मकं वाच्यम् ॥ ६ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

१३३

अर्थ—सिद्धान्तवादियों के मतानुसार ज्ञानावरणीय कर्म वातस्वरूप है, आयुष्य की स्थिति पित्त स्वरूप एवं नामकर्म कफात्मक है ।

रक्ताधिक्येन पित्तेन मोहप्रकृतयोऽखिलाः ।

दर्शनावरणं रक्त-कफसांकर्यसंभवम् ॥ ७ ॥

अन्वय—रक्ताधिक्येन पित्तेन अखिलाः मोह प्रकृतयः रक्तकफ-सांकर्यसम्भवं दर्शनावरणम् ॥ ७ ॥

अर्थ—रक्त की अधिकता से युक्त पित्त से मोहनीय कर्म की समग्र प्रकृतियाँ तथा रक्त और कफ की मिश्रितावस्था से दर्शनावरणीय कर्म का जन्म होता है ।

तत्तद्विकारजं वेद्यं गोत्रं पित्तकफात्मकम् ।

अन्तरायः सन्निपातादेषां विकृतिकारणम् ॥ ८ ॥

अन्वय—पित्तकफात्मकं तत् तत् विकारजं वेद्यं गोत्रं पित्तकफा-त्मकं एषां सन्निपातात् विकृतिकारणं अन्तरायः ॥ ८ ॥

अर्थ—सुख दुख के विकारों से उत्पन्न वेदनीय कर्म को जानना चाहिए, पित्त और कफ के सांकर्य से गोत्र कर्म तथा इन तीनों कफ पित्त वायु के मिलने से विकार का कारण अन्तराय कर्म होता है ।

विवेचन—सत्त्व, रजस् और तमस् युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति से वात, पित्त और कफ उत्पन्न होते हैं । अष्ट कर्म प्रकृतियाँ और चित्तकी अवस्थाएँ और देह में वात, पित्त और कफ का निर्माण एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृति से मानकर इनमें साम्य दिखाया गया है । एक अखंड प्रकृति स्वरूप में स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर अवस्थाओं में अन्योन्य कैसे नियमानुसार क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती हैं और उन से चित्त में और देह में दोष उत्पन्न होते हैं । यह सारी प्रक्रिया समझ में आ जाय तो साधक सारी प्रक्रिया के स्वरूप अपने मनको वश करने के लिये कर सकता है वह दिखाने का यहाँ प्रयास है । जिस कारण मन निर्बल दिखता है वह समझे तो वही मनको सुमन करके वश किया जाता है । योगही साधना का रहस्य संक्षिप्त में दिया

गया है। विज्ञान के अलग दृष्टिकोण से देह की अंतस्त्रावी ग्रंथियों की प्रतिक्रिया से भावमन् और भावमन से यह ग्रंथियों पर होते हुए प्रभाव को मान्य करता है। यह देह और मन की प्रतिक्रियाओं में कर्मप्रकृति मूलकारणरूप हो वह संभव हो सकता है।

ज्ञात्वाभ्यासान्मनोभावान् बाह्यैराध्यात्मिकैस्तथा ।

अमीभिर्हेतुभिर्वश्यं मनोऽवश्यमनिच्छया ॥ ९ ॥

अन्वय—बाह्यैः तथा आध्यात्मिकैः अभ्यासात् मनोभावान् ज्ञात्वा अमीभिः हेतुभिः मनः अनिच्छया अवश्यं वश्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इन बाह्यान्तर लक्षणों के अभ्यास से मन एवं शरीर की स्थिति जानकर सहज ही में दुर्दमनीय मन वश में किया जा सकता है। प्रकृति के तंत्र तथा कर्म प्रकृति का मन तथा देह पर प्रभाव पड़ता है अतः तत् तत् उपायों से अनासक्तिपूर्वक मन को वश में करना चाहिए।

परमात्मा ततः साक्षात् प्राणरूढमनः स्थितिः ।

मनः साध्यो मनोध्येयो मनोऽदृप्तस्समीक्ष्यते ॥ १० ॥

अन्वय—ततः प्राणरूढमनः स्थितिः मनः साध्यः मनोध्येयः मनो-दृप्तः परमात्मा साक्षात्समीक्ष्यते ॥ १० ॥

अर्थ—संयत प्राणवाले मन की स्थिति में जहाँ मन ही साधक एवं मन ही साध्य एवं मन ही ध्याता एवं मन ही ध्येय अर्थात् जब चित्तातीत स्थिति प्राप्त हो जाती है तब परमात्मा साक्षात् दिखाई देते हैं। यहाँ ध्यान की उत्तरोत्तर भावी मनःस्थितियों का निरूपण किया गया है।

मनोवश्याय जायन्ते ह्युपाया बहुधा जने ।

ज्ञाने क्रियान्विते सर्वे-ऽन्तर्भवन्ति भवद् (द्रु) हः ॥ ११ ॥

अन्वय—जने मनोवश्याय हि बहुधा भवद्द्रुहः उपाया जायन्ते । ज्ञाने क्रियान्विते सर्वे (ते) अन्तर्भवन्ति ॥ ११ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

१३५

अर्थ—संसार में मन को वश करने के संसार द्वेषी अनेक उपाय किए जाते हैं पर ज्ञान क्रियान्वित वैराग्य में उन सब उपायों का विलयन (अन्तर्भाव) हो जाता है।

अज्ञानवादिनस्त्याज्या अक्रियावादिनोऽपि च ।

यतो ज्ञानक्रियायुक्तः पिण्डोऽयं दृश्यते न किम् ॥ १२ ॥

अन्वय—अज्ञानवादिनः अक्रियावादिनः अपि च त्याज्याः यतः ज्ञानक्रियायुक्तः अयं पिण्डः किं न दृश्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—हमें कुछ ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं है ऐसे एकान्त अज्ञानवादी एवं हमें कुछ करना ही नहीं है ऐसे एकान्त अक्रियावादी भी त्याज्य होते हैं क्योंकि यह शरीर भी ज्ञान एवं क्रिया से ही संचालित है उसको वे क्यों नहीं देखते हैं ?

संसरेत् सक्रियो जीवो निष्क्रियोऽकर्मवान् शिवः ।

क्रियेन्द्रियाण्यधः पिण्डे ज्ञानेन्द्रियाणि चोपरि ॥ १३ ॥

अन्वय—सक्रिय जीवः संसरेत्, निष्क्रियः अकर्मवान् शिवः; पिण्डे क्रियेन्द्रियाणि अधः ज्ञानेन्द्रियाणि च ऊपरि ॥ १३ ॥

अर्थ—कर्मयुक्त जीव संसार में भटकता है कर्मरहित जीव शिवपद पाता है क्योंकि शरीर की कर्मेन्द्रियाँ उस के अधः भाग में हैं तथा ऊपर के भाग में ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

ज्ञानस्य पुंसः स्थैर्याय क्रिया प्रियास्ति सात्त्विकी ।

शान्तो रसस्तया साध्यः प्रीणनीयोऽमुना मुनिः ॥ १४ ॥

अन्वय—ज्ञानस्य पुंसः स्थैर्याय सात्त्विकी क्रिया प्रिया अस्ति । तथा शान्तः रसः साध्यः अमुना मुनिः प्रीणनीय ॥ १४ ॥

अर्थ—ज्ञानरूपी पुरुष को चित्त की स्थिरता के लिए सात्त्विकी क्रिया प्रिय होती है उसी से शान्त रस साध्य होता है एवं इसी शान्त

रस से मुनि भी प्रेम पात्र बनता है। यहाँ ज्ञान एवं क्रिया का युग्म भाव दिखाया गया है।

काये हि लक्षणं भावि वस्तुनः स्फुरणादिना ।

वाच्योपश्रुतिसूक्ताद्यै—स्तथा चित्तैऽर्थभावनैः ॥ १५ ॥

अन्वय—काये स्फुरणादिना वस्तुनः भावि लक्षणं तथा चित्ते वाच्योपश्रुति सूक्ताद्यैः अर्थभावनैः ॥ १५ ॥

अर्थ—शरीर के फड़कने, धड़कने आदि से वस्तु के भावी लक्षणों का ज्ञान हो जाता है जैसे ही वचन से उक्तियों से तथा उनकी अर्थभावना से मन के बारे में जाना जा सकता है।

लोकानुभावेन जलं यथा शरदि निर्मलम् ।

मनः सदज्ञानसंबद्धं लोकालोकप्रकाशकम् ॥ १६ ॥

अन्वय—यथा लोकानुभावेन शरदि जलं निर्मलं सदज्ञानसंबद्धं मनः लोकालोकप्रकाशकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—लोकानुभव से हम यह जानते हैं कि शरद् ऋतु में जल निर्मल हो जाता है जैसे ही सम्यक् ज्ञान से पवित्रीकृत मन लोकालोक का प्रकाशक हो जाता है। वहाँ आस्रव एवं संवर के द्वारा चित्त की कलुषता एवं निर्मलता का निदर्शन किया गया है। वर्षाजल के निरन्तर आस्रव से जल कलुषित होता है पर शरद में वर्षाजल के संवर से कूप तडागादि का जल निर्मल हो जाता है।

प्रधानं कारणं ज्ञानं मोक्षस्य न तथा क्रिया ।

अन्यलिङ्गेन किं सिद्धि—ज्ञानात्साम्ये समीयुषि ॥ १७ ॥

अन्वय—मोक्षस्य प्रधानं कारणं ज्ञानं तथा न क्रिया, ज्ञानात् साम्ये अन्यलिङ्गेन किं सिद्धि समीयुषि ॥ १७ ॥

चतुर्दशोऽध्ययः

१३७

अर्थ—मोक्ष का प्रधान कारण ज्ञान है क्रिया नहीं। ज्ञान से समता रस की सिद्धि होने पर कौन अन्य प्रकार से सिद्धि चाहेगा ? अर्थात् अन्य प्रपंच में नहीं पड़ेगा।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः स्यात् क्रियाक्लेशे महत्यपि ।
तद्ज्ञानं मनसः शुद्ध्या बुद्ध्या वृद्ध्याभिजायते ॥ १८ ॥

अन्वय—महति अपि क्रियाक्लेशे ज्ञानात् ऋते मुक्तिः न स्यात्
तद्ज्ञानं मनसः शुद्ध्या बुद्ध्या वृद्ध्याभिजायते ॥ १८ ॥

अर्थ—बड़ी से बड़ी बाह्य आनुष्ठानिक क्रिया करने पर भी ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। यह ज्ञान मन की क्रमशः आरोहण करने वाली शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न होता है।

अनित्याशरणत्वादि लोकान्तपरिभावनैः ।
मनोऽति निर्मलं धारं सत्प्रकाशाय जायते ॥ १९ ॥

अन्वय—अनित्याशरणत्वादि लोकान्तपरिभावनैः अति निर्मलं
धारं मनः सत्प्रकाशाय जायते ॥ १९ ॥

अर्थ—अनित्य, अशरण आदि संसार का अन्त करने वाली बारह भावनाओं के द्वारा निर्मल एवं ध्याननिष्ठ मन सत् तत्त्व का प्रकाशन करता है।

तत्त्वचिन्तनया शास्त्रानुगामिन्या मनः शिवे ।
आत्मन्येव निबध्नाति योगी नेन्द्रियगोचरे ॥ २० ॥

अन्वय—योगी शास्त्रानुगामिन्या तत्त्वचिन्तनया मनः शिवे
आत्मनि एव निबध्नाति न इन्द्रिय गोचरे ॥ २० ॥

अर्थ—योगी शास्त्रानुवर्तिनी तत्त्वचिन्ता से मन को कल्याणकारी आत्मा से संयुक्त करता है। वह मन को इन्द्रिय गोचर अर्थात् बाह्य

विषयों से नहीं जोड़ता है। अर्थात् योगी बारह प्रकारकी भावनाओं से मन का अनुसंधान आत्मा के साथ करता है बाह्य पदार्थों से नहीं।

मनसि श्रद्धया धर्मो न कृतोऽपि फलप्रदः ।

बलभद्र इव ब्रह्मलोकभाग् ध्यानवान्मृगः ॥ २१ ॥

अन्वय—मनसि श्रद्धया न कृतोऽपि धर्म फलप्रदः, मृगः ध्यानवान् बलभद्र इव ब्रह्मलोकभाग् ॥ २१ ॥

अर्थ—मन में धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं है किन्तु श्रद्धापूर्वक किया हुआ धर्म तो फलदायी ही होता है जिस प्रकार हिरण भी ध्यानवान् बलभद्र मुनि की तरह पंचम ब्रह्मलोक का भागी बना !

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां ब्रह्मकाण्डे चतुर्दशोऽध्यायः ॥



पञ्चदशोऽध्यायः

अनेकता में एकता

[गौतम स्वामी ने पूछा— हे इन्द्रपूज्य जगन्नाथ ! कृपा कर कहिये कि विद्वानों के लिये कौनसा तत्व जानने योग्य है जो कि शिव सम्पत्ति का साधन है ?

श्री भगवान् ने कहा— सत्स्वरूप महत्तत्त्वं रूप जो अद्वैत ब्रह्म है वही उपासनीय है। वह ब्रह्म अनन्त-परिणामी, अनन्त शक्तिशाली, स्वयंभू सिद्ध-बुद्ध-शिव एवं अव्यय रूप है। वही केवलज्ञान स्वरूप है अतः केवलज्ञानी परमात्म स्वरूप होता है क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय में अभेद होता है इसलिये यह आत्मा स्वयं विष्णु अर्हत् एवं ब्रह्ममय है इस प्रकार विभिन्न न्यायों से आत्मा एवं परमात्मा की एकता प्रतिपादित की गई है।

जैन दर्शन भी द्रव्य की एकता को मानता है। धर्म अधर्म एवं अस्तिकाय आदि एक ब्रह्म (जीव) में ही समाविष्ट हैं। लोकाकाश अथवा अलोकाकाश उपाधि से भिन्न भले ही हो पर उनमें तात्त्विक एकता होती है। ऐसे ही संसार में भिन्नता दिखाई तो देती है पर वह एक ही ब्रह्म का विवर्त है। जो ज्ञान वैराग्य से युक्त जन ही उसे जान सकता है।]

* * *

पञ्चदशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रपूज्य जगन्नाथ प्रसादेन निवेदय ।

किं तत्त्वं विदुषा ज्ञेयं साधनं शिवसम्पदः ॥ १ ॥

अन्वय—ऐन्द्र पूज्य जगन्नाथ शिवसम्पदः साधनं किं तत्त्वं विदुषा ज्ञेयं प्रसादेन निवेदय ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने पूछा आत्मा से पूजित एवं सभी इन्द्रों से पूजित हे जगत्प्रभो, कृपा कर यह बताइए कि शिव सम्पत्ति का साधन रूप ऐसा कौन सा तत्त्व है जिसे विद्वानों को जानना चाहिए ?

श्री भगवानुवाच

सत्त्वरूपं महातत्त्वं यद्ब्रह्मेत्यभिधीयते ।

तदेकं परमं वस्तु द्वैतं तत्र न भासते ॥ २ ॥

अन्वय—सत्त्वरूपं यत् महातत्त्वं ब्रह्म इति अभिधीयते तदेकं परमं वस्तु तत्र द्वैतं न भासते ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा हे गौतम सत्त्वरूप महातत्त्व जो ब्रह्म कहा जाता है वही एक परम वस्तु इस संसार में है, उसकी प्राप्ति होने पर द्वैत नहीं रहता है ।

भावः पदार्थः सद्रूपोऽस्ति क्रियार्थः परो गुणी ।

शुद्धद्रव्यं तथाधारः प्रमेयश्चाभिधान्वयी ॥ ३ ॥

अन्वय—भावः पदार्थः सद्रूपः अस्ति क्रियार्थः परः गुणी (अस्ति) तथा आधारः शुद्धद्रव्यं प्रमेयश्च अभिधान्वयी ॥ ३ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

१४१

अर्थ—यह भाव पद और अर्थ युक्त एवं (पदार्थ) सत् रूप और अर्थ क्रिया युक्त है, सर्वोत्कृष्ट है, गुणातीत है, शुद्ध द्रव्यरूप है, आधार-भूत है, प्रमेय है एवं अन्वर्थ नाम वाला है।

प्रमेय—प्रमाण से जिसे जाना जाता है।

भाव—चैतन्य।

अनन्तः परिणामी चा-नन्तशक्तिधरः स्वभूः।

लोकालोकतया स्यात् सिद्धो बुद्धः शिवोऽव्ययः ॥ ४ ॥

अन्वय—अनन्त परिणामी च अनन्तशक्तिधरः स्वभूः लोका-लोकतया आख्यातः सिद्धः बुद्धः शिवः अव्ययः ॥ ४ ॥

अर्थ—वह पदार्थ अनन्त परिणामी है अनन्तशक्तिमान् स्वयंभू है, लोकालोक में प्रसिद्ध है, सिद्ध है, बुद्ध है, शिव है एवं अव्यय तथा अविनाशी है।

स्यादेकं केवलं ज्ञानं ज्ञेयं तस्यैकमिष्यते।

ज्ञानाद् ज्ञेयं न भिन्नं स्यात्सर्वथा स्वप्रकाशवत् ॥ ५ ॥

अन्वय—एकं केवलं ज्ञानं स्यात् तस्य ज्ञेयं एकं इष्यते। ज्ञानाद् ज्ञेयं न भिन्नं स्यात् सर्वथा स्वप्रकाशवत् ॥ ५ ॥

अर्थ—वह भाव पदार्थ (चैतन्य) केवल ज्ञान रूप है। उसका ज्ञेय भी एक ही है और ज्ञान से ज्ञेय भिन्न नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य एवं सूर्य का प्रकाश भिन्न नहीं हैं वैसे ही आत्मा एवं उसकी चेतना दोनों ही अभिन्न हैं।

ज्ञेयग्रहपरिणामाद् ज्ञानी ज्ञेयाकृतिः स्मृतः।

तेनात्मा भगवान्विष्णु-रर्हन् ब्रह्ममयः स्वयम् ॥ ६ ॥

अन्वय—ज्ञेयग्रहपरिणामाद् ज्ञानि ज्ञेयाकृतिः स्मृतः तेन आत्मा स्वयं भगवान् विष्णुः अर्हन् ब्रह्ममयः ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञेय का ज्ञान करने का परिणाम होने से ज्ञानी ज्ञेयाकार होता है। उसी न्याय से अपनी आत्मा भी भगवान् विष्णु अरिहन्त ब्रह्ममय होती है।

लोकालोकस्वरूपज्ञः स लोकालोक उच्यते ।

अग्निज्ञानादिव ज्ञाता-ऽऽगमेप्यग्निरूदीरितः ॥ ७ ॥

अन्वय—लोकालोकस्वरूपज्ञः स लोकालोक उच्यते । आगमेऽपि अग्निज्ञानात् इव ज्ञाता अग्निः उदीरितः ॥ ७ ॥

अर्थ—लोकालोक के स्वरूप को जानने वाला होने के कारण वह आत्मा स्वयं लोकालोक कहलाता है। शास्त्रों में भी अग्नि ज्ञान से सम्पन्न माणवक की लक्षणा से अग्नि ही कहा जाता है।

यदैकत्वविमर्शः स्यात्तदैव केवलोदयः ।

ध्रौव्यभावनया द्रव्यं विकृतं न कृतं क्वचित् ॥ ८ ॥

अन्वय—यदा एकत्वविमर्शः स्यात् तदा एव केवलोदयः भवति ध्रौव्यभावनया द्रव्यं क्वचित् विकृतं न कृतम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जब एकत्व की विचारणा होती है तभी केवल (विशुद्ध) ज्ञान का उदय होता है। ध्रौव्य भावना से द्रव्य कभी भी विकृत नहीं होता है। अर्थात् द्रव्य मात्र ध्रौव्य भावना से अविकृत है।

विवेचन—द्रव्य में अन्तर्गत ध्रुवत्व एवं एकत्व स्वरूप में प्रतिष्ठित है अविकृत है, आत्मा जब तद्रूप और तन्मय होती है अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नष्ट होता है तब विशुद्ध ज्ञान शेष रहता है।

उत्पादो वा विपत्तिश्च द्रव्येऽवस्थान्तरोदयात् ।

नावस्था तद्वतो भिन्ना सर्वथाश्रयवर्जिता ॥ ९ ॥

अन्वय—अवस्थान्तरोदयात् द्रव्ये उत्पादः वा विपत्तिश्च । नावस्था तद्वतः सर्वथा आश्रयवर्जिता भिन्ना न ॥ ९ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

१४३

अर्थ—द्रव्य में अवस्थान्तर (पर्याय) के उदय के कारण उत्पाद एवं व्यय अवस्थाएं होती हैं क्योंकि ये अवस्थाएं उस पर्यायवान् द्रव्य से भिन्न नहीं हैं क्योंकि अवस्थाएं (विकार) अपने आश्रय से मूल से अलग नहीं रह सकती हैं। जैसे आधार के बिना आधेय नहीं रह सकता है। जैसे मृतिका के बिना घट।

विवेचन—द्रव्य में ध्रुवत्व है उस के आधार से उत्पाद और व्ययरूप अनन्त परिणामन दृष्टिगत होते हैं अर्थात् पर्यायवान् जगत दिखाई देता है।

न संबन्धं विना किञ्चित् प्रकाश्यं स्यात्प्रकाशकैः ।

न सर्वथा स संबन्धिभेदे वाचकवाच्यवत् ॥ १० ॥

अन्वय—सम्बन्धं विना प्रकाशकैः किञ्चित् (वस्तु) प्रकाश्यं न स्यात्। सम्बन्धिभेदे वाचक वाच्यवत् न सर्वथा (भवति) ॥ १० ॥

अर्थ—सम्बन्ध के बिना प्रकाशकों के द्वारा किसी भी वस्तु का प्रकाशन नहीं किया जा सकता। पर वाचक वाच्य (शब्दार्थ) की तरह सम्बन्ध भेद होने पर भी वे दोनों सब प्रकार से एक नहीं हैं। अर्थात् वे कथंचित् एक हैं सर्व प्रकार से नहीं।

विवेचन—सूर्य से रोशनी फैलती है। सूर्य और रोशनी जुड़े हुए भी है और अलग भी है। ये दोनो एक नहीं हैं।

सूर्यः प्रातर्यथा रत्न जलदर्शादि वस्तुषु ।

संक्रामंस्तापवत्सर्वं कुरुते गुरुतेजसा ॥ ११ ॥

अन्वय—यथा प्रातः सूर्यः रत्नजलादर्शादि वस्तुषु संक्रामन् गुरुतेजसा सर्वं (वस्तु) तापवत् कुरुते ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रातःकालीन सूर्यः रत्न, जल, दर्पण आदि वस्तुओं में संक्रमित होकर अपने महत् तेज से सभी वस्तुओं को तापवान् कर देता है।

एकस्तथैव सद्भावः स्वैर्विवर्तैः प्रवर्तते ।

हेयोपादेयताबुद्धिः—स्त्याज्या सांसारिकी ततः ॥ १२ ॥

अन्वय—तथैव एकः सद्भावः स्वैर्विवर्तैः प्रवर्तते । ततः सांसारिकी हेयोपादेयताबुद्धिः त्याज्याः ॥ १२ ॥

अर्थ—वैसे ही सूर्यवत् एक ही सद्भाव अपने नाना रूपों से अनेक वस्तुओं में प्रवर्तित होता है अतः वस्तुओं में हेयोपादेयात्मक सांसारिकी बुद्धि का परित्याग करना चाहिए ।

विवेचन—सर्व पदार्थोंका स्रोत या मूल एक ही है, जब एक अनेक रूप में प्रगट होता है तब वस्तुओं में हम कैसे चुनाव करेंगे और एकका स्वीकार और अन्य का अस्वीकार करेंगे ? अर्थात् सर्व पदार्थों के प्रति अनासक्त यानि समभावसे व्यवहार करेंगे ।

स्वं परं लघु वा स्थूलं न शुभं नाशुभं हृदि ।

त्याज्यं ग्राह्यं न किञ्चित् स्या-द्विधेरैक्ये सुबुद्धिवत् ॥ १३ ॥

अन्वय—विधेः ऐक्ये सति हृदि सुबुद्धिवत् स्वं परं लघु वा स्थूलं न शुभं न अशुभं त्याज्यं वा ग्राह्यं किञ्चित् न स्यात् ॥ १३ ॥

अर्थ—(क्योंकि) संसार में ब्रह्म की एकता होने के कारण सुबुद्धि-वान् पुरुष के हृदय में अपना, पराया, छोटा, बड़ा, शुभ, अशुभ, त्याज्य तथा ग्राह्य कुछ भी नहीं रहता है । अर्थात् वह निरपेक्ष भाव से सर्व देखता है ।

मान्यं यथाऽन्ये सामान्यं स्यादेकं व्यक्तिषु स्फुटम् ।

एको वा समवायोप्य-वयव्यवयवादिषु ॥ १४ ॥

अन्वय—व्यक्तिषु एकं सामान्यं स्फुटं यथा अवयवादिषु अवयवी समवायः अपि एकः वा स्यात् इति अन्ये मान्यं ॥ १४ ॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति में (भिन्न होते हुए भी) सामान्य रूप में एक ही चैतन्य तत्त्व का प्रकाश होता है । जैसे अवयवों में अवयवी अर्थात्

(अवयवको धारण करने वाला) समवाय सम्बन्ध से रहता है। वह समवाय भी एक है ऐसा अन्य मतावलम्बी भी मानते हैं। अर्थात् हाथ और पैर अलग हैं फिर भी एक ही देह के जुड़े अंग होने से समवाय के संबंध से वह एक है और काया के संकेत से जाने जाते हैं।

जैना अपि द्रव्यमेकं प्रपन्ना जगत्तिले ।

धर्मोऽधर्मोऽस्तिकायो वा तथैक्यं ब्रह्मणे मतम् ॥ १५ ॥

अन्वय—जगत्तिले जैना अपि एकं द्रव्यं प्रपन्नाः धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय वा तथा ब्रह्मणे ऐक्यं मतम् ॥ १५ ॥

अर्थ—संसार में जैन भी एक ही द्रव्य की प्रधानता को स्वीकार करते हैं भले ही वह धर्मास्तिकाय हो अथवा अधर्मास्तिकाय। जिस भांति धर्मरूपी द्रव्य की एकता है वैसे ही ब्रह्म की एकता भी मानी गई है।

विवेचन—गति सहायक तत्त्व होने से पदार्थ गतिमान रहते हैं और गति विरोधक तत्त्व से पदार्थ स्थिति को प्राप्त करते हैं। गति सहायक तत्त्व को धर्म और गति विरोधक तत्त्व को अधर्म की संज्ञा दी गई है। गति संबंध से धर्म और अधर्म दोनों में एकता है।

लोकालोकाप्तमाकाशं परिणाम्येकमात्मना ।

तथा कथा न वितथा स्यादेकब्रह्मणः सतः ॥ १६ ॥

अन्वय—लोकालोकाप्तं आकाशं आत्मना एकं परिणामी तथा सतः एक ब्रह्मणः कथा वितथा न स्यात् ॥ १६ ॥

अर्थ—लोकालोक से युक्त आकाश परिणामी होते हुए भी एक ही है वैसे ही सद्रूप एक ब्रह्म की एकता की बात भी असंगत नहीं है। अर्थात् लोकाकाश परिणामी और अलोकाकाश अपरिणामी होते हुए भी आकाश के स्वरूप में वह एक है। वैसे ही ब्रह्म की संज्ञा से सरूपी और अरूपी चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में एकता देखना तर्क-संगत है।

स्याद्भाव एक एवायमस्ति प्रत्ययगोचरः ।

तल्लक्षणो निषेधोऽपि सविधेः सविधे खलु ॥ १७ ॥

अन्वय—सविधेः सविधे खलु प्रत्ययगोचरः सोऽयं भावः एक एव अस्ति । तल्लक्षणः निषेधः अपि ॥ १७ ॥

अर्थ—ब्रह्म एवं सोपाधि आत्मा प्रत्यक्ष रूप से अलग अलग दिखाई देते हैं परन्तु उनमें एक ही चैतन्य प्रतिष्ठित है । स्थिति अगोचर होने से निषेध भी उसका लक्षण हो जाता है ।

सत्तां विना नासत्ता स्या-न्नाजीवो जीववर्जने ।

ज्ञेयत्वादिगुणैरेवं न (ना) भावो भावतोऽपरः ॥ १८ ॥

अन्वय—सत्तां विना असत्तां न स्यात् तथा न अजीवः जीव-वर्जने एवं ज्ञेयत्वादिगुणैः भावः अभावतः परः न ॥ १८ ॥

अर्थ—(निषेध को लक्षण कैसे माना जाय यह समझाते हुए कहते हैं) सत्ता के विना असत्ता का भास नहीं होता तथा जीव के बिना अजीव की स्थिति का ज्ञान नहीं होता वैसे ही ज्ञेयत्वादि गुणों के कारण अभाव भी भाव से भिन्न नहीं है ।

विवेचन—सत् द्वैतस्वरूपी होने से लोक-अलोक, धर्म-अधर्म और जीव-अजीव होते हैं । वह भाव और अभाव अर्थात् विधायक और निषेधक दोनो लक्षण से प्रमाणीत होता है । सूर्य सत् है । उसकी सत्ता प्रकाश है और असत्ता अंधकार । सूर्य गोचर होने से दिन और अगोचर होने से रात्रि होती है ।

विधिर्विधत्ते स्वं रूपं स्वेन विश्वेन संगतम् ।

विधिर्वेद्यो जगत्कर्ता भर्ता हर्ता स्वशक्तितः ॥ १९ ॥

अन्वय—स्वेन विश्वेन संगतं स्वं रूपं विधिः विधत्ते स्वशक्तितः विधिः जगत्कर्ता भर्ता हर्ता च वेद्यः ॥ १९ ॥

अर्थ—अपने ही संसार के अनुरूप विधि (ब्रह्म) अपने स्वरूप का निर्माण करता है । अपनी शक्ति से ही यह ब्रह्म जगत् के कर्ता भर्ता और

संहार कर्ता के रूप में जाना जाता है। अर्थात् यह ब्रह्म रूप भाव उत्पाद (ब्रह्मा) व्यय (शिव) और ध्रौज्य (विष्णु) रूप है।

एकस्य ब्रह्मणः सर्वे विवर्ताः प्रतिभान्त्यमी ।

अनंतशक्तेर्नानार्थाः क्रियाभावेन वास्तवाः ॥ २० ॥

अन्वय—अनन्तशक्तेः एकस्य ब्रह्मणः नानार्थाः क्रिया भावेन वास्तवाः अमी सर्वे विवर्ताः प्रतिभान्ति ॥ २० ॥

अर्थ—अनन्त शक्ति ब्रह्म में जो भिन्न भिन्न पदार्थ या विवर्त दिखाई देते हैं वे अपनी क्रिया का स्वरूप होने के कारण वास्तविक है।

परसंग्रहवागेषा विषयोऽस्या हि तात्त्विकः ।

स तात्त्विकस्तं यो वेत्ति ज्ञानवैराग्यसात्त्विकः ॥ २१ ॥

अन्वय—एषा परसंग्रहवाक् अस्या विषयः हि तात्त्विकः यः ज्ञान-वैराग्यसात्त्विकः सः तं वेत्ति ॥ २१ ॥

अर्थ—अन्य धर्मों की भी यही वाणी है एवं इसका विषय भी तात्त्विक है जो व्यक्ति ज्ञान एवं वैराग्य से सम्पन्न है वही तत्त्वज्ञानी इस तत्त्व को जानता है।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥



षोडशोऽध्यायः

एकत्व भावना

[गौतम स्वामी ने पूछा कि सभी स्थानों में एकता की भावना कैसे सम्भव हो सकती है? वास्तव में संसार में तो प्रत्येक वस्तु में अर्थ क्रियाकारी प्रपञ्च दिखाई देता है।

भगवान ने उत्तर दिया— हे गौतम मूलरूप से भाव सद्भाव अथवा ब्रह्म एक ही है पर प्रकृति की उपाधि से वह द्विविध दिखाई देता है जिस प्रकार एक ही समय के प्रकाश और अन्धकार की उपाधि से दिन और रात दो भेद दिखाई देते हैं। केवलज्ञानी द्रव्य और पर्याय की भावना से संसार को देखता है क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से यह संसार नित्य है पर पर्याय की भावना से संसार अनित्य है। इसी प्रकार चैतन्य की गौणता से पुद्गल की अनन्तता दिखाई देती है परन्तु यदि संसार को गौण माना जाए तो चैतन्य की एकता एवं मुख्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार चैतन्य के भाव और अभाव से बना यह द्वित्व विकल्पात्मक है परन्तु पारमेश्वर्य की सिद्धि के लिये सिद्ध और संसार में एकता देखनी चाहिये।]

* * *

षोडशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐक्यं सर्वत्र सर्वज्ञ ! कथं मनसि भाव्यते ।
प्रपंचोऽर्थक्रियाकारी वस्तुतः वस्तुनः क्षितौ ॥ १ ॥

लोकालोकस्तथाजीवो-ऽजीव(ः)स्याच्चेतनोऽन्यथा ।
रूप्यरूपी तथा सिद्धः साधकः सेव्यसेवकौ ॥ २ ॥

पुण्यपापे बन्धमोक्षौ वेदनानिर्जरेत्वपि ।
आश्रवः संवरश्चेति साक्षाद्वैविध्यमार्थिकम् ॥ ३ ॥

अन्वय-हे सर्वज्ञ ! वस्तुतः क्षितौ वस्तुनः प्रपंच अर्थक्रियाकारी मनसि सर्वत्र ऐक्यं कथं भाव्यते ? (इति चद्) लोकालोकः तथा चेतन जीव अन्यथा अजीव स्यात् । रूपी अरूपी तथा सिद्धः साधकः सेव्यसेवकौ पुण्यपापे बन्धमोक्षौ वेदनानिर्जरे तु अपि आश्रवः संवरः च इति साक्षात् द्वैविध्यं आर्थिकं (स्फुटत्) ॥ १, २, ३ ॥

अर्थ-श्री गौतम ने पूछा ! हे सर्वज्ञ, परमात्मा इस पृथ्वी पर वास्तव में वस्तु का प्रपंच नानार्थ क्रियाएं करने वाला है तो मन में सर्वत्र ऐक्य की भावना कैसे हो सकती है ? क्योंकि लोक एवं अलोक, चेतना से युक्त जीव अन्यथा अजीव, रूपी अरूपी, सिद्ध साधक सेवक स्वामी पुण्य पाप बन्ध मोक्ष, वेदना निर्जरा, आश्रव संवर आदि रूप में संसार में सर्वत्र द्वित्व की भावना स्पष्ट है ।

श्री भगवानुवाच

वैकल्पिकमिदं सर्वं व्यवहारनयाश्रयात् ।
गौणमुख्यविविक्षातः ख्यातः सर्वोऽर्थसंचयः ॥ ४ ॥

अन्वय—व्यवहारनयाश्रयात् इदं सर्वं विश्वं वैकल्पिकम् । गौण-
मुख्यविवक्षातः सर्वं अर्थसंचयः ख्यातः ॥ ४ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा, हे गौतम व्यवहार नय से तो यह सारा
संसार विकल्पात्मक है । गौण और मुख्य की अपेक्षा से सारा संसार नाना
रूपात्मक दिखाई देता है ।

भाव एकस्तस्य शक्तिः द्वैविध्यं मूलतो मतम् ।

समयस्य द्युरात्रं वाध्यक्षं तत्तदुपाधितः ॥ ५ ॥

अन्वय—मूलतः भाव एकः तस्य शक्तिः द्वैविध्यं मतम् । समयस्य
तत् तद् उपाधितः द्यु वा रात्रं अध्यक्षम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(किन्तु) मूल रूप से भाव (सद्भाव अथवा ब्रह्म) एक ही है ।
और उसकी शक्ति दो प्रकार की मानी गई है । प्रकृति की उपाधि से वह
द्विविध दिखाई देता है । समय के भी प्रकाश और अन्धकार की उपाधि से
दिन और रात के दो भेद प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं ।

लोक्यते केवलज्ञात्रा लोकोऽपि द्रव्यपर्ययैः ।

लोकवत् सिद्ध एवायं तन्नैकान्तेन तद्भिदा ॥ ६ ॥

अन्वय—केवलज्ञात्रा द्रव्यपर्ययैः लोकः अपि लोक्यते । सिद्ध एव
अयं तत् एकान्तेन तद्भिदा न ॥ ६ ॥

अर्थ—केवलज्ञानी द्रव्य और पर्याय की भावना से संसार को देखता
है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से यह संसार नित्य है किन्तु पर्याय की भावना से
यह अनित्य भी है । इसी संसार की भांति ही यह भाव (ब्रह्म) भी सिद्ध
ही है । वह एकान्त से न तो द्रव्य रूप है और न पर्याय रूप है अर्थात्
ब्रह्म भी नित्य और अनित्य दोनों है ।

चैतन्ये गुणभावेना—ऽनंत्यात् पुद्गलवस्तुनः ।

धर्माधर्मादियुक्तोऽपि व्योम्ना लोकोऽह्यलोकवत् ॥ ७ ॥

अन्वय—चैतन्ये पुद्गलवस्तुनः गुणभावेन आनंत्यात् धर्माधर्मादि युक्तः अपि लोकः व्योम्ना अलोकवत् हि ॥ ७ ॥

अर्थ—चैतन्य को यदि गौण माना जाए तो पुद्गल वस्तुओं की अनन्तता दिखाई देती है जैसे आकाश तो एक ही है पर धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय की उपाधि से वह लोकाकाश एवं धर्मादि से रहित अलोकाकाश कहा जाता है ।

भावनासु यथा भाव्यः संसारस्योपलक्षणात् ।

सिद्धः स्वभावलोकस्य तथा लोकोऽपि शाश्वतः ॥ ८ ॥

अन्वय—संसारस्य उपलक्षणात् भावनासु यथा भाव्यः तथा स्वभावलोकस्य लोकः अपि शाश्वतः सिद्धः ॥ ८ ॥

अर्थ—संसार (वस्तु अनन्तता) को गौण मानकर जैसी भावना की जाती है वैसा ही लोक का रूप सिद्ध होता है उसी भावना से लोक भी शाश्वत अनादि अनन्त दिखाई देता है ।

उर्ध्वलोकादधोलोको-ऽप्यलोकोऽस्मात्तथैव सः ।

भव्यलोकादभव्योऽपि सिद्धः संसारिलोकतः ॥ ९ ॥

अन्वय—अस्मात् (लोकात्) तथैव स अलोकः उर्ध्वलोकात् अधोलोकः भव्यलोकात् अभव्य संसारिलोकतः अपि सिद्धः ॥ ९ ॥

अर्थ—उर्ध्वलोक की अपेक्षा से अधोलोक वैसे ही लोक की अपेक्षा से अलोक और भव्यलोक की अपेक्षा से अभव्यलोक, संसारी जीव की अपेक्षा से मुक्तजीव सिद्ध का भेद माना जाता है ।

चैतन्यशक्त्याविष्टः सद्भावो जीव इति स्मृतः ।

तदभावादजीवोऽन्यः ख्यातेयं कल्पना भुवि ॥ १० ॥

अन्वय—चैतन्यशक्त्याविष्टः सद्भावः जीव इति स्मृतः । तद-
भावात् अन्यः अजीवः इयं कल्पना भुवि ख्याता ॥ १० ॥

अर्थ—संसार में यह कल्पना प्रसिद्ध है कि चैतन्य शक्ति से युक्त सद्भाव जीव है और उस चैतन्य शक्ति से रहित अन्य अजीव है अर्थात् चैतन्य से युक्त जीव एवं चैतन्य से रहित अजीव ।

जीवोऽप्यजीवोऽजीवज्ञः इति प्रवचने वचः ।

अजीवो जीवसंज्ञेय—स्तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशतः ॥ ११ ॥

अन्वय—जीवः अपि अजीवः इति अजीवज्ञः प्रवचने वचः
तात्स्थ्यात् तत् व्यपदेशतः अजीवः जीव संज्ञेयः ॥ ११ ॥

अर्थ—अजीव को जानने वाला (भौतिकवादी) तो जीव को भी अजीव मानता है ऐसा शास्त्रों में कहा गया है क्योंकि “ तात्स्थ्यात् तत् व्यपदेशतः ” अर्थात् जिसमें जो रहा हो वह उसी स्वरूप का माना जाता है इस न्याय से जीव को आश्रय देनेवाले अजीव शरीर को भी जीव मानते हैं ।

सूरबिम्बेऽपि सूरत्वं लोके लोकोत्तरे स्फुटम् ।

अजीवे स्थापनाजीवः निक्षेपस्तेन संगतः ॥ १२ ॥

अन्वय—सूरबिम्बेऽपि सूरत्वं लोके लोकोत्तरे स्फुटम् तेन अजीवे
स्थापना जीवः निक्षेपः संगतः ॥ १२ ॥

अर्थ—मानवी सृष्टि तथा मानवोत्तर (दैवी सृष्टि) के सूर्य बिम्ब में भी सूर्यत्व स्पष्ट रूप से माना जाता है उसी न्याय से अजीव में भी जीव की स्थापना-निक्षेप युक्तियुक्त दिखाई देती है ।

शिवो जीवोऽभवत्प्राणै—र्जीवोऽजीवोऽपि पुद्गलः ।

दशप्राणैरभावेन स्थावरे जीवता क्वचित् ॥ १३ ॥

अन्वय—प्राणैः शिवः जीवः जीवः अभवत् दशप्राणैः अभावेन जीवः अपि पुद्गलः स्थावरे जीवता क्वचित् ॥ १३ ॥

अर्थ—प्राणों से शिवजीव (ब्रह्म) है और दशप्राणों के अभाव में जीव भी पुद्गल ही होता है, स्थावर में भी कहीं जीवत्व होता है? अर्थात् जड़ में चैतन्य नहीं होता फिर भी प्राणों के अनुसंधान से शिव में जीवत्व तथा पुद्गल में चैतन्य समाविष्ट होता है।

जीवो ज्ञानसदंशस्य प्राधान्यात्सत्त्वनामभृत् ।

अजीवः सत्त्वयोगेऽपि तन्निषेधादचेतनः ॥ १४ ॥

अन्वय—ज्ञानसदंशस्य प्राधान्यात् जीवः सत्त्वनामभृत् । सत्त्वयोगेऽपि तत् निषेधात् अजीवः अचेतनः ॥ १४ ॥

अर्थ—ज्ञान रूपी सत् तत्त्व की प्रधानता से जीव सत्त्व नाम धारण करता है। सत्त्व होने पर भी उसी ज्ञान चैतन्य के अभाव में वह अजीव अचेतन कहलाता है।

उपादानं चेतनायाः जीवोऽजीवो निमित्तकम् ।

तेनाऽशुद्धाशनात्साधु-श्रौर्यचर्यापरोऽभवत् ॥ १५ ॥

अन्वय—चेतनायाः उपादानं जीवः अजीवः निमित्तकम् तेन अशुद्धाशनात् साधुः चौर्यचर्या परः अभवत् ॥ १५ ॥

अर्थ—जीव और अजीव में ज्ञानलक्षणयुक्त चेतना उपादान कारण है और जीव और अजीव निमित्त कारण हैं अर्थात् प्राण आने पर जीव व प्राण जाने पर अजीव। उसी ज्ञान चेतना के अभाव में अशुद्ध (अभक्ष्य) भोजन करने के कारण साधु भी चोरी करने के काम में लग गया। अर्थात् चेतना के अभाव में साधु भी असाधु बन गया।

रूपं स्यान्नीलपीतादि तद्योगे रूपवानणु ।

अणुसंबन्धतो जीवोऽप्ययं रूपी कथंचन ॥ १६ ॥

अन्वय—नीलपीतादि रूपं स्यात् तत् योगे अणुः रूपवान् । अणु सम्बन्धतः अयं जीवः अपि कथंचन रूपी ॥ १६ ॥

अर्थ—नीला, पीला, लाल आदि वर्ण रूप हैं । इन नीले, पीले आदि रूपों के योग से अणु भी रूपवान् होता है और अणु के सम्बन्ध से यह जीव भी किसी प्रकार से रूपी दिखाई देता है ।

**रूपी सिद्धोऽपि तद्ज्ञानात् खं रूपि स्यात्तदाश्रयात् ।
अलोकेऽपि वियद्रूपि लोकखात् सर्वथाऽभिदः ॥ १७ ॥**

अन्वय—तद्ज्ञानात् सिद्धः अपि रूपी । तदाश्रयात् खंरूपी स्यात् । अलोकेऽपि वियद्रूपि लोकखात् सर्वथा अभिदः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस ज्ञान की अपेक्षा से सिद्ध भी रूपी है क्योंकि अणु के आश्रय से वह सिद्ध स्वयंरूपी होते हैं । (यह कैसे संभव है वह समझा कर कहते हैं) देखिए—अलोक में भी आकाश रूपी है क्योंकि वह लोकाकाश से सर्वथा भिन्न नहीं है । दोनों में व्यापकता का गुण समान है । उस अपेक्षा से देखें तो पुद्गल अणु के आश्रय से द्रव्यरूप से सिद्ध यह जीव रूपी बनता है । लोक संज्ञा से लोकाकाश से सर्वथा अभिन्न अलोकाकाश भी रूपी (नीला आकाश) कहा जाता है । इसी न्याय से सिद्धत्व के गुण की अपेक्षा से अगर सर्व आत्माओं को देखा जाय तो सिद्ध परमात्मा भी रूपी की संज्ञा में समाविष्ट होते हैं । ब्रह्मदर्शन भेदके भितर छूपी हुई एकता ही दर्शन है । इस कारण अपेक्षा भेद से वस्तु सामान्यका निरूपण किया गया है ।

**यथाक्षिदेशे भावेशी चक्षुष्मान् जीव उच्यते ।
लोकाकाशे जीवसत्त्वात् तथाऽलोकः सचेतनः ॥ १८ ॥**

अन्वय—यथा अक्षिदेशे भावेशी जीवः चक्षुष्मान् उच्यते तथा लोकाकाशे जीवसत्त्वात् अलोकः सचेतनः (उच्यते) ॥ १८ ॥

षोडशोऽध्यायः

१५५

अर्थ—जिस प्रकार आँखों के सन्दर्भ में सचमुच द्रष्टि विहीन एवं भावदृष्टि वाला जीव आँखों वाला (प्रज्ञाचक्षु) कहा जाता है वैसे ही लोकाकाश में भी जीव की उपस्थिति के कारण अखंड आकाश में स्थित अलोक भी चैतन्य युक्त कहा जाता है।

यथाक्रमेण सिद्धं स्याद्धान्यं वा साधकं जने ।

तथात्मनः सिद्धताऽपि क्रमात् साधकताभृतः ॥ १९ ॥

अन्वय—यथाक्रमेण जने साधकं वा अन्यं सिद्धं स्यात् तथा साधकताभृतः आत्मनः अपि क्रमात् सिद्धता (स्यात्) ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य में साधक की अथवा अन्य प्रकार की सांसारिक उपलब्धि अपने आप क्रमशः सिद्ध होती है वैसे ही साधक आत्मा को भी क्रम से सिद्धता प्राप्त होगी ही।

शिवेऽपरपरिणामापेक्षया सिद्धताऽक्षया ।

स्वपर्यायागुरुलघुवृत्त्या साधकता पुनः ॥ २० ॥

अन्वय—शिवे अपरपरिणामापेक्षया अक्षया सिद्धता पुनः स्वपर्यायागुरुलघुवृत्त्या साधकता ॥ २० ॥

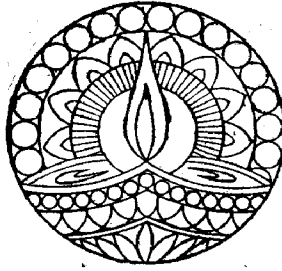
अर्थ—शिव में अपर परिणाम की अपेक्षा से (अपरिणामी होने से) सिद्धता अक्षय होती है और पुनः अपने पुनः चेतन पर्याय की अगुरुलघुवृत्ति से उसकी साधकता भी सिद्ध होती है। यह सचमुच नय वाद का चमत्कार है कि जीव में एक अपेक्षा से सिद्धरूप तथा दूसरी अपेक्षा से साधकरूप प्रदर्शित किया है। संकोच या विस्तार के रूप में परिणमन करना यह पर्याय का गुण है। इस परिणमन का सतत् निरोध करना यह सिद्ध आत्मा की साधना है।

एवं भावाभावरूपं द्वैविध्यं तद्विकल्पजं ।
मुक्ताभाववैक्यमालोक्यं पारमैश्वर्यसिद्धये ॥ २१ ॥

अन्वय—एवं भावाभावरूपं तद्विकल्पजं द्वैविध्यं । पारमैश्वर्य-
सिद्धये मुक्ताभाववैक्यमालोक्यं ॥ २१ ॥

अर्थ—इस प्रकार चैतन्य के भाव और अभाव से दिखाई देने वाला संसार विकल्पात्मक है परन्तु पारमैश्वर्य की सिद्धि के लिए सिद्ध और संसार में एकता देखनी चाहिए । एकतादर्शन का प्रयोजन है वीतरागता या पारमैश्वर्य सिद्धि ।

॥ इति श्रीअर्हद्वीतायां षोडशोऽध्यायः ॥



सप्तदशोऽध्यायः

वासनाएं उर्ध्वगति में बाधक

[श्री गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा है कि भगवान यदि संसार में तत्त्व से ऐक्य देखा जाय तो फिर संसार में विधेय एवं अविधेय क्या है क्योंकि संसार की उभय गति दिखाई देती है।

श्री भगवान ने उत्तर दिया संसार में सभी साधक बाधा रहित साधन के लिए प्रयत्न करते हैं अतः परब्रह्म की प्राप्ति में बाधक इच्छाओं का नाश कर लेना चाहिए। माया भी ब्रह्म का विवर्त है और उसी का प्रपंच आत्मा में इच्छाओं को बढ़ाता है अतः उसकी निवृत्ति के लिए उत्पाद एवं व्यय की भावना करनी चाहिए। निश्चय नय से तो तत्त्व सत् रूप एक ही है पर व्यवहार से वह दो प्रकार का हो जाता है जैसे लोक-अलोक, जीव-अजीव, पर-अपर, रूपी-अरूपी, जड-चेतन, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि। अतः सात्त्विक वृत्ति के लोगों को पृथक्त्व विचार से इच्छा के नाश के लिए श्रुतज्ञान के आलम्बन पूर्वक चेतन और अचेतन पदार्थों के भिन्नभिन्न पर्यायों का चिन्तन करना चाहिए। बाह्य व्यवहार में भक्ष्याभक्ष्य की पालना और आभ्यन्तर जीवन में बारह भावनाओं के भावन से पुण्यशाली जीव केवल ब्रह्म का आस्वादन करता है।]

* * *

सप्तदशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐक्यं प्रपश्यतस्तत्त्वात् स्यामिस्तनुभृतो ननु ।
विधेयमविधेयं वा किञ्चिन्नैव प्रभासते ॥ १ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! ननु तत्त्वात् ऐक्यं प्रपश्यतः तनुभृतः विधेयं
अविधेयं वा किञ्चित् नैव प्रभासते ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा, हे स्वामी यदि तत्त्व से
संसार में ऐक्य देखा जाय तो जीव के लिए संसार में क्या विधेय है और
क्या अविधेय इसका कुछ भी मात्स्य नहीं पड़ेगा ।

एवं सति न देवः स्यात् सेव्यः कश्चिन्न वा गुरुः ।
न धर्मः शर्मणे कार्यस्त्याज्योऽधर्मश्च कश्चन ॥ २ ॥

अन्वय—एवं सति न देवः सेव्यः स्यात् न कश्चित् वा गुरुः सेव्य
स्यात् । न शर्मणे धर्मः कार्यः अधर्मश्च न कश्चन त्याज्यः ॥ २ ॥

अर्थ—ऐसा होने पर फिर न तो देव सेव्य होंगे और न कोई गुरु
सेव्य होंगे । सुख के लिए धर्म कार्य करने तथा अधर्म के त्याग की फिर
बात ही नहीं होगी ।

श्री भगवानुवाच

साध्यार्थी यतते सर्वः साधने निर्विबाधने ।
साध्ये ब्रह्मणि तत्कार्यः कामनाशोऽस्य बाधनः ॥ ३ ॥

अन्वय—सर्व साध्यार्थी निर्विबाधने साधने यतते । अस्य बाधनः
कामनाशः तत् ब्रह्मणि साध्ये कार्यः ॥ ३ ॥

षोडशोऽध्यायः

१५९

अर्थ—श्री भगवान ने उत्तर दिया संसार में सभी साधक निर्विघ्न साधन के लिए प्रयत्न करते हैं अतः उस पर ब्रह्म की प्राप्ति के लिए भी उसकी प्राप्ति में बाधा रूप वासनाओं का नाश कर लेना चाहिए। अर्थात् आपत्ती का कारण एतत्त्व की भावना में नहीं किंतु वासनाओं के उद्गम में है वह आगे स्पष्ट किया है।

मायापि ब्रह्मरूपैव तद्विवर्तमयी स्वयम् ।

सत्त्वात्तथार्थकारित्वात् प्रपंचोऽस्याः विजृम्भते ॥ ४ ॥

अन्वय—माया अपि ब्रह्मरूपा एव स्वयं तद्विवर्तमयी सत्त्वात् तथार्थकारित्वात् अस्याः प्रपंचः विजृम्भते ॥ ४ ॥

अर्थ—मायारूपी प्रकृति भी ब्रह्म का ही रूप है एवं स्वयं विवर्त स्वरूपा है। उस ब्रह्म के सत्त्व से एवं विवर्त से इस माया का प्रपंच संसाररूप में प्रतिफलित होता है।

भास्वन्मणिप्रदीपादेः प्रभानैकान्ततोऽपरा ।

न धर्मिणः परा सत्ता धर्माणां सर्वथा क्वचित् ॥ ५ ॥

अन्वय—भास्वन् मणिप्रदीपादेः प्रभा एकान्ततः अपरा न धर्मिणः परा धर्माणां सत्ता न क्वचित् सर्वथा परा ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रकाशित मणि दीपों आदि की ज्योति एकान्त से उनसे भिन्न नहीं होती है वैसे ही धर्मा से भिन्न धर्मों की सत्ता सर्वथा भिन्न नहीं होती है। दीप और ज्योति प्रकाश की अपेक्षा से एक व पर्याय की अपेक्षा से भिन्न दिखाई देते हैं।

प्रपंचजननान्माया—पीच्छामात्मनि वर्धयेत् ।

तस्या निवृत्तये भाव्या व्युत्पादविगमावपि ॥ ६ ॥

अन्वय—प्रपंचजननात् माया अपि आत्मनि इच्छां वर्धयेत् । तस्या निवृत्तये व्युत्पाद विगमौ अपि भाव्यौ ॥ ६ ॥

अर्थ— प्रपंच पैदा करने के हेतु से माया भी इच्छा को बढ़ाती है अतः उसकी निवृत्ति के लिए उत्पाद एवं व्यय की भावना भी करनी चाहिए अर्थात् यह सोचना चाहिए कि जिस इच्छा की उत्पत्ति हुई है उनका नाश भी अवश्यंभावी है। अर्थात् नाशवंत् इच्छा शाश्वत् सुखकी हेतु कैसे हो सकती है ?

एकं मौलनयात्तत्त्वं स्यात्सत् गौणनया(त्) द्विधा ।

एकस्मिन् भूरूहे नाना मुक्तं पुष्पं फलं दलम् ॥ ७ ॥

अन्वय—मौलनयात् तत्त्वं एकं गौणनयात् सत् द्विधा स्यात् एकस्मिन् भूरूहे पुष्पं फलं दलं मुक्तं ॥ ७ ॥

अर्थ—प्रधान निश्चय नय से तो (सत् रूप) तत्त्व एक ही है पर गौण व्यवहार नय की अपेक्षा से वही दो प्रकार का हो जाता है जैसे एक ही पेड़ पर अंकुर फूल फल एवं पत्ते अलग अलग दिखाई देते हैं।

विवेचन—वस्तु स्वभाव में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद का दर्शन होता है। अपने अपने स्थान पर दोनो सत्य है।

एकं यत्तदनेकं स्यात्सदसद्भिन्नमन्यथा ।

अनित्यं नित्यमाख्येय-मनाख्येयं जगद्द्विधा ॥ ८ ॥

अन्वय—यत् एकं तत् अनेकं स्यात् सत् असत् भिन्नम् अन्यथा अनित्यं नित्यं आख्येयं जगत् अनाख्येयं ॥ ८ ॥

अर्थ—जो सत् तत्त्व एक रूप है वह अनेक रूप भी है। सत् और असत् दोनों ही भिन्न हैं। जो सत् भिन्न है वह अन्यथा अभिन्न भी है जो अनित्य है वह (अन्यथा) नित्य भी है जो वाच्य है वह (अन्यथा) अवाच्य भी है।

विवेचन—विरोधी द्विगुणात्मक स्वरूप में ही सत् का दर्शन होता है क्योंकि यह वस्तु स्वभाव है।

सप्तदशोऽध्यायः

अ. गी. - ११

१६१

लोकोऽलोकस्तथा जीवो-ऽजीवः परोऽपरः पुनः ।
रूप्यरूपी जडोदक्षः प्रत्यक्षो वा परोक्षकः ॥ ९ ॥

स्त्रीपुंसौ द्रव्यपर्यायौ शब्दोऽर्थोऽप्यशुभं शुभम् ।
रात्रिर्दिनं क्रियाज्ञानमेवंभावोभयी गतिः ॥ १० ॥

अन्वय—लोकः अलोकः तथा जीवः अजीवः पुनः परः अपरः
रूपी अरूपी जडः दक्षः प्रत्यक्ष वा परोक्षकः ॥ ९ ॥

अन्वय—स्त्रीपुंसौ द्रव्यपर्यायौ शब्दो अर्थो अपि अशुभं शुभम् ।
रात्रिः दिनं क्रिया ज्ञानं एवं भावोभयी गतिः ॥ १० ॥

अर्थ—लोक, अलोक, जीव, अजीव, पर, अपर, रूपी, अरूपी, जड,
चेतन, प्रत्यक्ष, परोक्ष, स्त्री, पुरुष, द्रव्य, पर्याय, शब्द, अर्थ, अशुभ शुभ,
रात, दिन, क्रिया, ज्ञान आदि में भाव की उभयात्मक गति दिखाई पड़ती है ।

सक्रियश्चाक्रियो भावः सक्रियोऽपि च पुद्गलः ।
अक्रियोऽनन्तनिस्संख्य-प्रदेशात्मा द्विधा मतः ॥ ११ ॥

अन्वय—सक्रियः च अक्रियो भावः सक्रियः पुद्गलः । अनन्त-
निस्संख्यप्रदेशात्मा अपि च द्विधा मतः ॥ ११ ॥

अर्थ—यह सद्भाव अक्रिय भी है और सक्रिय भी । सक्रिय अवस्था
में सद्भाव पुद्गल रूप भी होता है और अनन्त व असंख्य प्रदेशी होने से
उसका अन्य प्रकार भी माना गया है (जिसे अक्रियकी संज्ञा दी गई है ।)

अनन्तोऽपि वियत्काल-भेदात्संख्यातिगस्तथा ।
धर्माधर्मभिदा द्वेधा वियल्लोकादलोकता ॥ १२ ॥

अन्वय—अनन्तः अपि वियत् कालभेदात् संख्यातिगः तथा
वियत्लोकात् अलोकता धर्माधर्मभिदा द्वेधा ॥ १२ ॥

अर्थ—अनन्त होते हुए भी काल के भेद से संख्य और धर्म-अधर्म
के कारण लोकाकाश और अलोकाकाश जैसे दो प्रकार का (आकाश)

होता है। अर्थात् असंख्य और अखंड आकाश काल के भेद से गत वर्तमान और अनागत के रूप में संख्य होता है तथा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय व्याप्त लोकाकाश और अन्य अलोकाकाश जैसे दो प्रकार में विभाजित भी होता है।

विवेचन—एकतादर्शी ब्रह्मदर्शन से नित्य का बोध करे या पृथक्त्वदर्शी सद्भाव को देखकर अनित्य का बोध करके हेतु एक है। वह है मोह नाश।

निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वेधाऽनेहा अपि स्मृतः ।

लोको जीवाद्जीवाच्चा-लोकोऽसंख्योऽप्यनन्तकः ॥ १३ ॥

अन्वय—निश्चय व्यवहाराभ्यां अनेहा अपि द्वेधा स्मृतः। लोकः जीवात् अजीवात् च असंख्य अनन्तकः अलोकः अपि (असंख्य) ॥ १३ ॥

अर्थ—व्यवहार एवं निश्चय नय से अलोक भी दो प्रकार का कहा जाता है। जीव और अजीव की उपस्थिति के कारण लोक असंख्य है। अतः वस्तुतः अनन्त अलोक भी लोक के एक भाग होनेसे असंख्य हो जाता है। (किञ्चित् अभिन्न होने से) अनन्तअलोक भी असंख्य कहा गया है।

षोढा हानिविवृद्धिभ्याम लोकास्थं वियद् द्विधा ।

धर्मोऽधर्मश्च पूर्णोऽन्यः सूक्ष्मोऽनणुश्च पुद्गलः ॥ १४ ॥

अन्वय—षोढा हानिविवृद्धिभ्यां अलोकास्थं वियद् द्विधा धर्म अधर्मः च पूर्णः अन्य सूक्ष्मः अनणु पुद्गलः च ॥ १४ ॥

अर्थ—छः प्रकार की हानि और वृद्धि से संपूर्ण लोकाकाश दो प्रकार का है। धर्म और अधर्म, पूर्ण और सूक्ष्म अनणु और पुद्गल रूप।

जीवोऽपि सिद्धः संसारी सिद्धो ज्ञानी च दर्शनी ।

षोढा हीनोऽथवा वृद्धः सान्तरो वाप्यनन्तरः ॥ १५ ॥

अन्वय—जीवः अपि सिद्धः संसारी। सिद्धः षोढा ज्ञानी च दर्शनी हीनः अथवा वृद्धः सान्तरः वा अनन्तरः अपि ॥ १५ ॥

अर्थ—जीव दो प्रकार का है सिद्ध और संसारी। सिद्ध जीव भी ज्ञानी और दर्शनी है संख्या की अपेक्षा से अथवा वृद्धि से युक्त और आत्म प्रदेश की अपेक्षा से सान्तर और हीनत्व ज्ञान और दर्शनशक्ति की अपेक्षा से अनन्तर जैसे षट् प्रकार के हैं।

विवेचन—अक्षय और असंख्य होते हुए भी कालभेद से वर्तमान सिद्ध जीवों में भविष्य की अपेक्षा से हानी और भूतकाल की अपेक्षा से वृद्धि दिखायी गई है। प्रति समय कोई जीव को सिद्धत्व की प्राप्ति होती है इसलिये काल की अपेक्षा से उनकी संख्या वृद्धिमान या हीन दिखायी देती है। जीव के आत्मप्रदेश असंख्य होते हुए भी व्याप्ति की अपेक्षा से सान्तर और समुचे लोक को अपनी दर्शन शक्ति में समन्वित करता हुआ सिद्ध जीव अन्तर भी है।

त्रसः स्थिरो वा संसारी-त्यादिर्वस्तु द्विरूपताम् ।

भाव्या पृथक्त्व विचारादिच्छानाशायसात्त्विकैः ॥ १६ ॥

अन्वय—त्रसः स्थिरो वा संसारी इत्यादि वस्तु द्विरूपताम् ।
इच्छानाशाय सात्त्विकैः पृथक्त्व विचारात् भाव्या ॥ १६ ॥

अर्थ—संसारी जीव त्रस व स्थावर दो प्रकार का होता है। इस प्रकार सभी वस्तुएं दो प्रकार की हैं। सात्त्विक वृत्ति के लोगों को पृथक्त्व विचार से इच्छा के नाश के लिए इस प्रकार द्विरूपता की भावना करनी चाहिए। अर्थात् पृथक्त्व विचार से श्रुतज्ञान के आलंबनपूर्वक चेतन और अचेतन पदार्थों के भिन्न भिन्न पर्यायों का चिन्तन करना ही द्विरूपता की भावना है और इस भावना का हेतु है विषयों से विरक्त होना।

कषायकलुषश्चात्मा यावन्न विषयांस्यजेत् ।

तावन्नेच्छाविनाशः स्यात् प्रकाशोऽपि च वास्तवः ॥ १७ ॥

अन्वय—कषायकलुषः च आत्मा यावत् विषयान् न त्यजेत्
तावत् इच्छाविनाशः न स्यात् वास्तवः प्रकाशः अपि च ॥ १७ ॥

अर्थ—वास्तव में कषायों से कलुषित आत्मा जब तक विषयों को नहीं

छोड़ती है तब तक न तो इच्छा का विनाश होता है और न आत्मा में सच्चा प्रकाश उत्पन्न होता है ।

भावनैस्तदनित्याद्यै—भावस्यापचयं चयम् ।

पश्यतः करकण्डूवन्नश्येदिच्छा विरागिणः ॥ १८ ॥

अन्वय—तत् अनित्याद्यैः भावनैः भावस्य अपचयं चयं पश्यतः विरागिणः करकण्डूवत् इच्छा नश्येत् ॥ १८ ॥

अर्थ—सभी बाह्य आभ्यन्तर संयोग अनित्य है इस प्रकार अनित्यादि बारह* भावनाओं से भाव का नाश और संचय देखते हुए वैराग्य-शाली की इच्छाएं उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं जिस प्रकार करकण्डू मुनि की इच्छाएं नष्ट हो गई ।

कामास्थानानि कामिन्य-स्तास्त्याज्यास्तज्जिगीषया ।

सर्वास्यक्तुमशक्तो यः स स्वीयामेव कामयेत् ॥ १९ ॥

अन्वय—कामास्थानानि कामिन्यः तत् जिगीषया ताः त्याज्याः । यः सर्वाः त्यक्तुं अशक्तः स स्वीयां एव कामयेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—कामिनियां इच्छाओं की घर हैं अतः इच्छाओं को जीतने की इच्छावाले को उन्हें छोड़ देना चाहिए । जो व्यक्ति उन सबको नहीं छोड़ सकता है उसे अपनी स्त्री की ही कामना करनी चाहिए । अर्थात् वासना जय के लिये कामभोगकी वृत्ति के संक्षेप से प्रारंभ करना चाहिये ।

मद्यं मांसं नवनीतं मधु नानारसात्मकम् ।

अभक्ष्यं वर्जयेत्सर्वं कामं संतर्जयेत् सुधीः ॥ २० ॥

अन्वय—सुधीः मद्यं मांसं नवनीतं नानारसात्मकं मधु सर्वं अभक्ष्यं वर्जयेत् कामं संतर्जयेत् ॥ २० ॥

* अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म स्वाख्यात, लोकस्वरूप, बोधिदुर्लभ ये १२ भावनाएं हैं ।

अर्थ—(धर्माभिमुख) बुद्धिमान को चाहिए कि वह शराव, मांस, मक्खन नाना रसात्मक शहद आदि सभी अभक्ष्य को त्याग दे एवं इच्छा का नाश करे।

बाह्यानाध्यात्मिकान्हेतूस्त्यजन्नेवमधार्मिकान् ।

केवलब्रह्मणः स्वादं लभते सुकृती कृती ॥ २१ ॥

अन्वय—एवं बाह्यान् अनाध्यात्मिकान् अधार्मिकान् हेतून् त्यजन् सुकृती कृती केवलब्रह्मणः स्वादं लभते ॥ २१ ॥

अर्थ—इस प्रकार आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता से रहित बाहरी सर्व हेतुओं को त्यागता हुआ सुकृती जीव केवल ब्रह्म के स्वाद का आस्वादन करता है।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः ॥



अष्टादशोऽध्यायः

उत्कृष्ट आचरण का स्वरूप

[अट्टारहवें अध्याय में सत्रहवें अध्याय का ही विवेचन चल रहा है। यह विवेचन भी क्रिया-विषयक ही है। मुक्ति के लिए केवल क्रिया अथवा केवल ज्ञान समर्थ नहीं है। विचक्षण पुरुषों ने ज्ञान एवं क्रिया के समन्वित आचार से क्षण मात्र में मोक्ष प्राप्त किया है आर्त एवं रौद्र ध्यानों का निवारण कर धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के अभ्यास के लिए यम-नियमादि पाँच प्रकार के योगाचरण को करना चाहिए। धर्म क्रियाओं का महात्म्य समझना आवश्यक है क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से आचारों में विभिन्नता दिखाई देती है और शंका होती है कि करणीय क्या है और क्या नहीं? परन्तु जिस आचार से राग-द्वेष का क्षय हो एवं शुद्ध केवलज्ञान प्रकट हो वही आचार प्रमाण-भूत है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की साधना के लिए संवर में स्थित होना चाहिए। जिसका अन्तःकरण पवित्र है वह व्यक्ति स्वयं शिव रूप होता है। और उसका आचार अनुकरणीय ही होता है। आचार शुद्धि के लिये साधक को मिथ्यात्व और अविरती का त्याग और कषायों पर विजय प्राप्त करना होता है। आचरण के प्रभाव से भोगी का अधःपतन और उर्ध्वरेतस् महात्मा की उर्ध्वगति होती है। मन वचन और काया से विषयानन्द का त्याग करनेवाला ही मोक्षपद का अधिकारी होता है। अतः सम्यग्ज्ञानी धर्म आचरण से उर्ध्वगति करता है।]

* * *

अष्टादशोऽध्यायः

ऐक्येऽपि तात्त्विकेनैक्यं भाव्यते ब्रह्मशुद्धये ।

अभ्यस्यते क्रिया किं न लोकैस्तस्याः फलैषिभिः ॥ १ ॥

अन्वय—तात्त्विके ऐक्ये अपि ब्रह्मशुद्धये अनैक्यं भाव्यते फलै-
षिभिः लोकैः तस्याः क्रिया किं न अभ्यस्यते ॥ १ ॥

अर्थ—(प्रश्न उठता है कि) मूल पदार्थ तत्त्वद्रष्टि से एक होने पर भी आत्मशुद्धि के लिए अनेकता की भावना की जाती है तो फिर (ब्रह्म-
स्वरूप के) फल कामना करने वाले लोगों के द्वारा तद्रूप उचित क्रिया
का अभ्यास क्यों नहीं किया जाता है ?

यथा षण्यमणेः शाणोल्लेखघर्षादिसंस्कृतिः ।

स्वरूपलब्धयै तस्यैव ब्रह्मशुद्धौ तथा क्रिया ॥ २ ॥

अन्वय—यथा षण्यमणेः तस्यैव स्वरूपलब्धयै शाणोल्लेखघर्षादि
संस्कृतिः तथा ब्रह्मशुद्धौ क्रिया ॥ २ ॥

अर्थ—(क्योंकि) जिस प्रकार बहुमूल्य मणि की अपनी सुन्दरता की
उपलब्धि के लिए सान पर कसना घिसना आदि संस्कार क्रियाएं की जाती
हैं वैसे ही आत्मशुद्धि के लिए भी क्रियाएं की जाती हैं ।

न केवला क्रिया मुक्त्यै न पुनर्ब्रह्म केवलम् ।

जीवन्मुक्तोऽपि शैलेश्या केवली स्याच्छिवंगमी ॥ ३ ॥

अन्वय—मुक्त्यै न केवला क्रिया न पुनः केवलं ब्रह्म । जीवन्मुक्तः
अपि केवली शैलेश्या शिवंगमी ॥ ३ ॥

अर्थ—मुक्ति के लिए न तो केवल क्रिया की ही आवश्यकता है

और न मात्र आत्म ज्ञान की ही। मोक्ष जाने वाले जीवन्मुक्त केवली को भी (अंत समय) शैलेशी* क्रियाएं करनी पड़ती हैं।

जगुर्ज्ञानक्रियायोगे क्षणान्मोक्षं विचक्षणाः ।

योगाज्ज्योतिर्विदो वैद्या ऋषयः सिद्धिमूचिरे ॥ ४ ॥

**अन्वय—विचक्षणाः ज्ञानक्रियायोगे क्षणात् मोक्षं जगुः ज्योति-
र्विदः वैद्या ऋषयः योगात् सिद्धिं ऊचिरे ॥ ४ ॥**

अर्थ—ज्ञान और क्रिया के योग से क्षणभर में ही मोक्ष होता है ऐसा ज्ञानी ने कहा है। ज्योतिषियों ने सुयोग की प्राप्ति से (कार्य) सिद्धि होने की बात कही है, वैद्यो ने औषधी योग से रसायनादि योग बनाकर (स्वास्थ्य) सिद्धि की बात कही है और ऋषियों ने भी (मन वचन और काया के) योगाभ्यास से सिद्धि प्राप्ति बतायी है। अर्थात् सभी स्थानों में ज्ञान से प्रेरित क्रिया योग का महत्व है।

असत्याक्रिययाप्यंगी नेयो दर्शनभूमिकाम् ।

सदर्शनात् क्रिया शुद्धा ध्यानादिः केवलाप्तये ॥ ५ ॥

अन्वय—असती अंगी आक्रियया अपि दर्शन-भूमिकां नेयः
सदर्शनात् क्रिया शुद्धा ध्यानादिः केवलाप्तये ॥ ५ ॥

अर्थ—असत् भाव में स्थित जीव को सब प्रकार की शुद्धिपुरक क्रियाओं से सम्यग् दर्शन की ओर जाना चाहिए। इस सम्यग् दर्शन से शुद्ध क्रियाओं से ध्यानादि जीव को केवल्य प्राप्ति में सहायता होती है।

वार्ये ध्याने आर्तरौद्रे धार्ये धर्मोज्वलैः(ले)खलु ।

एतदर्थं जिनैः प्रोक्ताः पंचधा नियमा यमाः ॥ ६ ॥

* मोक्ष में जाने के लिए ५ ह्रस्वाक्षर (अ इ उ ऋ लृ) काल की एक शैलेशी क्रिया करनी पड़ती है उसमें समस्त काय योग का रोध करने के बाद आत्मा की मुक्ति होती है। अर्थात् अन्त दशा में भी क्रिया की आवश्यकता रहती है।

अन्वय—एतदर्थं आर्तरौद्रे ध्याने वार्ये धर्मोज्ज्वले खलु धार्ये जिनैः
पंचधा यमाः नियमाः प्रोक्ताः ॥ ६ ॥

अर्थ—इसीलिए आर्त रौद्र आदि वर्जित ध्यान नहीं करने हेतु तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के धारण करने हेतु जिनेश्वर भगवन्तों ने पांच प्रकार के यम नियमादि आचरण बताए हैं। क्योंकि यम नियम धारण करने से शुभ ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया बहुधा स्थितिः ।

आचाराणां दृश्यतेऽसौ न वादस्तत्र सादरः ॥ ७ ॥

अन्वय—द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया आचाराणां असौ बहुधा स्थितिः दृश्यते तत्र सादरः वादः न ॥ ७ ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से आचारों के जो ये विभिन्न प्रकार दिखाई देते हैं उनका आदर करना चाहिए उनके विषय में विवाद नहीं।

विवेचन—व्यक्ति के कल्याण के लिये अनेक अपेक्षाओं से चिंतन करके धर्म आचारोंका स्वरूप दिखाया है। इसलिये आचारभेद को विवाद का कारण न होने दे। सापेक्षदृष्टि से वह आदरणीय है क्योंकि विवाद से धर्मचिन्तन में बाधा पहुंचती है एवं लाभ नहीं होता है।

रागद्वेषक्षये यस्माद्भवेत्कैवल्यमुज्ज्वलम् ।

सैष प्रमाणमाचार-स्तारकत्वाद्भवाम्बुधौ ॥ ८ ॥

अन्वय—यस्मात् रागद्वेष क्षये उज्ज्वलं कैवल्यं भवेत् भवाम्बुधौ तारकत्वात् सैष आचारः प्रमाणः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिससे रागद्वेष के नष्ट होने पर उज्ज्वल कैवल्य की प्राप्ति होती है। संसार सागर में तारणहार होने से वही आचार प्रमाणभूत है अर्थात् आचरणीय है।

ज्ञानदर्शनचारित्र-साधनाय विधीयते ।

आरंभः स ह्यनारंभ आश्रवेऽपि परिश्रवात् ॥ ९ ॥

अन्वय—ज्ञानदर्शनचारित्रसाधनाय (यः) आरम्भः विधीयते
आश्रवेऽपि परिश्रवात् स हि अनारम्भः ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन चारित्र की साधना के लिए जो आरम्भ समारम्भ
किया जाता है वह आस्रव होने पर भी संवर रूप होने से आरम्भ माना
नहीं जाता है ।

विवेचन—जिस प्रवृत्ति से दोष होता है उसे आरम्भ कहते हैं। धार्मिक
क्रिया में प्रवृत्ति तो है, एवं उस में स्थूल हिंसा भी होती है। चैत्य का निर्माण, और
गृह का निर्माण आश्रव का हेतु है क्योंकि जीव हिंसा बिना वह संभव नहीं है।
किंतु चैत्य निर्माण स्थूल द्रष्टि से दोषमुक्त न होने पर भी बहु लोकोपकारी होने के
कारण उसे संवर रूप में ही माना गया है और गृह निर्माण द्रव्य और भाव से जीव
हिंसा का कारण होने से आश्रव का हेतु है। भाव की अपेक्षा से एक संवरयुक्त और
दूसरा आश्रवयुक्त है।

यः पुनर्दम्भसंभसंभवः संवरोऽप्ययम् ।

तपः स्तेनव्रतः स्तेनादीनामिव महाश्रवः ॥ १० ॥

अन्वय—पुनः यः दम्भसरम्भसंभवः तपः संवरः अपि अयं
स्तेनादीनां स्तेन व्रत इव महाश्रवः ॥ १० ॥

अर्थ—पुनः दम्भ घमण्ड आदि से जो तप किया जाता है एवं व्रत
धारण किया जाता है वह संवर होते हुए भी चोरों को चोरी के व्रत के
समान महान् आस्रवकारी होता है ।

विवेचन—आस्रव युक्त क्रियाएं शुभ भाव से संवर हेतु एवं संवर युक्त
क्रियाओं को अशुभ भाव से आस्रव हेतु कैसे होती है यह दिखाया है। चोरी करने
का अशुभ व्रत जो लेता है वैसे व्रती संकरयुक्त कैसे हो सकता है? वैसे ही अशुभ
भाव से किया हुआ तप आश्रवकारी होता है ।

अष्टादशोऽध्यायः

१७१

यस्य संस्कार संस्कारः कलंकविकलं बलम् ।

च्छलाच्चलचलं नान्तःकरणं स शिवः स्वयम् ॥ ११ ॥

अन्वय—यस्य अन्तःकरणं संस्कार संस्कारः कलंक विकलं बलं छलात् चल चलं न सः स्वयं शिवः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिसका अन्तःकरण पावनकारी संस्कारों से संस्कारित है, बल निष्कलंक है और अन्तःकरण छल छद्म से विचलित नहीं है वह आत्मा स्वयं शिव है ब्रह्म है। रागद्वेष रहित महात्मा के जीवन व्यवहार में दोष कैसे हो सकता है ?

शिवे स्थिरश्रियः सोमप्रकृतेर्जगतीश्वरे ।

महाव्रतानि सार्वज्ञं तस्मिन्न श्रद्धधीत कः ॥ १२ ॥

अन्वय—सोमप्रकृतेः स्थिरश्रियः सार्वज्ञं महाव्रतानि (च) जगति तस्मिन् शिवे ईश्वरे कः न श्रद्धधीत ॥ १२ ॥

अर्थ—सौम्य स्वभाव वाले एवं स्थितप्रज्ञ अरिहन्त देव में सर्वज्ञता एवं पंच महाव्रतों का स्वतः समावेश होता है। उस शिव ब्रह्मस्वरूप आत्मा पर संसार में कौन श्रद्धा नहीं रखेगा अर्थात् समग्र संसार उसके प्रति श्रद्धावान होगा।

सद्भावेष्वापि चैतन्ये प्राधान्यं वस्तुभासनात् ।

सत्त्वं जीवस्ततोऽजीव-स्तदभावः प्रतीतिभाक् ॥ १३ ॥

अन्वय—सद्भावेषु अपि वस्तुभासनात् चैतन्यं प्राधान्ये, सत्त्वं जीव ततः तदभावः अजीवः प्रतीतिभाक् ॥ १३ ॥

अर्थ—सद्भावों में भी वस्तु के प्रकाश का कारण होने से चैतन्य की ही प्रधानता है। अतः जो सत्त्व है वह जीव है एवं उसका अभाव जहां हो वह अजीव है ऐसा विश्वास हो जाता है।

सत्त्वं गोधूमराज्ञादौ यथावश्यं प्रशस्यते ।

सत्त्वं गुणेष्वपि तथा प्रशस्तं विक्रमार्कवत् ॥ १४ ॥

अन्वय—यथा गोधूमराज्ञादौ सत्त्वं अवश्यं प्रशस्यते तथा गुणेषु अपि विक्रमार्कवत् सत्त्वं प्रशस्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गेहूँ आदि पदार्थों में तथा राजा आदि में सत्त्व (शक्ति) की ही चाहना की जाती है वैसे ही (राजाओं में भी) विक्रमादित्य की तरह गुणों में भी सत्त्व गुण को महत्त्व दिया जाता है। अर्थात् पुरुष का सत्त्व उनके पुरुषार्थ में या आचरण में प्रगट होता है जैसे मणि अपनी सुंदरता में। सत्त्व हो और उसका प्रभाव जीवन व्यवहार में प्रत्यक्ष न हो ऐसा संभव नहीं है।

पाषाणघोलनन्याया-द्भवभ्रममुखाः क्रियाः ।

कुर्वन्लाघवमेत्यङ्गी सम्यक्त्वधनमश्नुते ॥ १५ ॥

अन्वय—पाषाणघोलनन्यायात् भवभ्रममुखाः क्रियाः कुर्वन् अंगी लाघवं सम्यक्त्वधनं अश्नुते ॥ १५ ॥

अर्थ—पाषाण घोलन न्याय से संसार भ्रमण की क्रिया करता हुआ जीव कर्म लघुता को प्राप्त कर सम्यक्त्व रूप महान् धन को प्राप्त करता है।

विवेचन—नदी की धारा में शिला खंड खिसक खिसक कर घर्षण होने से टूटकर अपना लघुत्व प्राप्त करता है, वैसे ही भव भ्रमण में भारी दुख भोगता हूभा जीव अपनी भवितव्यता से लघुकर्मी होकर धर्म क्रियाओं से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

मिथ्यात्वाविरतित्यागात् कषायविजयात् क्रमात् ।

सयोगी योगरोधेन जीवः शिवपदोचितः ॥ १६ ॥

अन्वय—मिथ्यात्वअविरतित्यागात् क्रमात् कषाय-विजयात् जीवः योगरोधेन शिवपदोचितः ॥ १६ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

१७३

अर्थ—(और यह समकित्ती जीव) मिथ्यात्व अविरति प्रमाद आदि के त्याग से तथा क्रमशः मन के कषायों पर विजय प्राप्त करता हुआ (मन-वचन काययोग का) रोध करता हुआ (अंतिम समय पर) शिवपद का अधिकारी बन जाता है। प्रारब्धसे जीव गुणस्थानक में प्रवेश करता है किंतु सम्यक्त्व प्राप्त जीव की आध्यात्मिक उन्नति स्वपुरुषार्थ से होती है।

भोगासक्ते ह्यधःपातो-ऽभ्युदग्रस्तूर्ध्वरेतसः ।

पुद्गलानामधोगत्या जीवस्योच्चैरयं तथा ॥ १७ ॥

अन्वय—पुद्गलानां अधोगत्या भोगासक्ते हि अधः पातः तथ-उर्ध्वरेतसः जीवस्य तु अयं उच्चैः अभ्युदयः ॥ १७ ॥

अर्थ—(कर्म) पुद्गल अधोगामी होने से भोगों में आसक्त जीव अधोगति का अधिकारी होता है जैसे ही उर्ध्व रेतस् तथा ब्रह्मचर्याचरण तत्पर (लघुकर्मी) जीव की उर्ध्वगति या अभ्युदय होता है। अर्थात् जीव की आंतरिक योग्यता अनुसार उनका जीवन व्यवहार और अधोगति या उर्ध्वगति होती है।

भरताद्या महारंभे-ऽप्यापुः केवलमुज्ज्वलम् ।

माहात्म्यं तदपि स्पष्टं वैराग्यस्य विमृश्यताम् ॥ १८ ॥

अन्वय—महारंभे अपि भरताद्या उज्ज्वलं केवलं आपुः । तदपि वैराग्यस्य स्पष्टं माहात्म्यं विमृश्यताम् ॥ १८ ॥

अर्थ—भरत आदि राजाओं ने महान् आरम्भ समारंभ करते हुए भी उज्ज्वल केवल ज्ञान को प्राप्त किया अतः वैराग्य का कितना स्पष्ट महत्त्व है इस पर विचार करो।

विवेचन—आरंभ समारंभ से दोषयुक्त जीवन व्यवहार होते हुए भी महा पुरुष स्वयं का कल्याण करने में सफल हुए क्योंकि हृदय में भोग के प्रति रुचि नहीं थी।

भावशून्यापि जीवानां सुखाय धार्मिकी क्रिया ।
तद् ग्रैवेयकसंभूति-भव्येऽप्यर्हतां मता ॥ १९ ॥

अन्वय—भावशून्या अपि धार्मिकी क्रिया जीवानां सुखाय तद्
ग्रैवेयकसंभूतिः अभव्ये अपि अर्हतां मता ॥ १९ ॥

अर्थ—सम्यक् किन्तु भाव शून्य धार्मिक क्रिया भी यदि की जाय
तो जीवों को सुखदायक होती है । अभव्य जीवों की भी नव ग्रैवेयक तक
के देवलोकों की प्राप्ति हो जाती है यह जिनेश्वरों का मत है ।

विवेचन—ज्ञान के महात्म्य की चर्चा यथास्थान करके यहां क्रिया को अर्थ-
शून्य न मानकर उसका महात्म्य दिखाया गया है ।

मनोवाक्काय संयोगा-चरणाचरणे ततः ।

साक्षान्मोक्षमुपेत्यङ्गी किं चित्रं तत्र मन्यते ॥ २० ॥

अन्वय—ततः मनोवाक्कायसंयोगात् चरणाचरणे अंगी साक्षात्
मोक्षं उपेति तत्र किं चित्रं मन्यते ॥ २० ॥

अर्थ—इसीलिए सद्भाव पूर्वक मनवचन काया के योग से चारित्र का
आचरण करने पर जीव साक्षात् मोक्षपद का अधिकारी होता है इसमें क्या
आश्चर्य है? अर्थात् भावशून्य क्रिया नव ग्रैवेयक प्राप्ति का सामर्थ्य रखता
है वह अगर भावपूर्ण हो जाय, ज्ञानयुक्त हो जाय तो मोक्षपद की प्राप्ति
अवश्य होती है ।

फलं विरतिरेवासौ ज्ञानस्य मुनिनोदिता ।

अवकेशि विना तां तत् मत्वा तच्चादृतो भवेत् ॥ २१ ॥

अन्वय—असौ ज्ञानस्य मुनिनोदिता विरति एव फलं तां विना
तत् मत्वा अवकेशि तच्चात् ऋतः भवेत् ॥ २१ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

१७५

अर्थ—मुनियों ने इस सम्यक् ज्ञान का फल वैराग्य बताया है इस विरति के बिना केवल सम्यक् ज्ञान को ही मानने वाला अवकेशी तत्त्वज्ञान से हीन ही माना गया । अर्थात् ज्ञान का प्रभाव विरती के रूप में आचरण में प्रत्यक्ष हो तब ही वह सम्यक् ज्ञान माना गया है वरना यह मिथ्या-ज्ञान है ।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां अष्टादशोऽध्यायः ॥



एकोनविंशोऽध्यायः

तपोबल से आत्मा परमात्मा पद

[गौतम स्वामी फिर पूछते हैं कि हे ऐश्वर्यशाली परमात्मा मुझे वह उपाय बताइए जिससे परम तत्त्व का प्रकाशन हो जाय।

श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि चिदानन्दमय ज्योति ही तत्त्व रूप है एवं वह तपोबल से प्रकट होती है। वही ज्योति संसार में मिथ्या-मोहन्धकार का नाश करने वाली जगत् को प्रकाशित करने वाली शक्ति है। तप के प्रभाव से जीवों को आत्मसिद्धि एवं शुद्ध स्वरूपतो प्राप्त होती है। बाह्य तप से काया की शुद्धि, विनित व्यवहार से वचन शुद्धि एवं स्वाध्याय से मन की शुद्धि होती है। इन तीन शुद्धियों से आत्मा की शुद्धि होती है। इस आत्म-तत्त्व के ज्ञान के लिए ही नव तत्त्वों की प्ररूपणा की गई है। इन तत्त्वों के ज्ञान से आत्म तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसी आत्मा का श्रवण, मनन एवं ध्यान से साक्षात्कार करना चाहिए। माया निर्मुक्त यह आत्मा ही परमात्मा है। इस तद्रूपता को पाने के लिए क्रमशः भावसे से तन्मय जीव परमेश्वर का ध्यान करता है तब परमेश्वरमय हो जाता है। ध्यानमार्ग में पिण्डस्थ पदस्थादि चार प्रकार के ध्यान कहे गये हैं। ध्यान का प्रारंभ होता है चित्त की एकाग्रता होने की शक्ति से और क्रमशः रूपातीत ध्यान में आरोहण से ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं।]

* * *

एकोनविंशोऽध्यायः

अ. गी. - १२

१७७

एकोनविंशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐश्वर्यशाली परम-स्त्वं तुभ्यं सततं नमः ।

भगवन् वद मे येन भवेत्तत्त्वप्रकाशनम् ॥ १ ॥

अन्वय—भगवन् त्वं ऐश्वर्यशाली परमः तुभ्यं सततं नमः । मे वद येन तत्त्वप्रकाशनं भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी ने भगवान से कहा कि हे भगवान आप परमेश्वर हैं मैं आपको नमस्कार करता हूँ मुझे वह बात बताइए जिससे तत्त्व का प्रकाशन हो ।

श्री भगवानुवाच

चिदानन्दमयं ज्योति-स्तत्त्वं स्पष्टं तपोबलात् ।

जगत्प्रकाशकं मिथ्यामोहध्वान्तविनाशकम् ॥ २ ॥

अन्वय—चिदानन्दमयं ज्योतिः तत्त्वं तपोबलात् स्पष्टं जगत्प्रकाशकं मिथ्यामोहध्वान्त विनाशकम् ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा कि शाश्वत आनन्दमय जो आत्म प्रकाश है वही संसार में तत्त्व है इस आत्म प्रकाश को तपोबल से प्रत्यक्ष किया जा सकता है । यह आत्म प्रकाश संसार को प्रकाशित करने वाला है, मिथ्यात्व एवं मोह के अन्धकार को नष्ट करने वाला है ।

यथाग्नितापात् पूपादौ सिद्धिः कर्णेऽर्कतो यतः ।

तथाङ्गिनस्तपोयोगात् सिद्धिः शुद्धिः स्वरूपभाक् ॥ ३ ॥

अन्वय—यथा अग्नि तापात् पूपादौ सिद्धिः कर्णे अर्कतः यतः तथा तपोयोगात् अंगिनः स्वरूपभाक् सिद्धिः शुद्धिः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि के ताप से मालपुए आदि विभिन्न खाद्य पदार्थों को बनाया जाता है जैसे कर्ण को सूर्य से सिद्धि प्राप्त हुई वैसे ही जीव को भी तपोबल से शुद्धि होकर स्वरूप रमणता की प्राप्ति होती है ।

कायशुद्धिर्बाह्य तपो योगाद्विनयसाधनात् ।

वाक्शुद्धिर्मनसः शुद्धिः स्वाध्यायादेव केवलात् ॥ ४ ॥

अन्वय—बाह्यतपोयोगात् काय शुद्धिः विनयसाधनात् वाक्शुद्धिः मनसः शुद्धि केवलात् स्वाध्यायात् एव ॥ ४ ॥

अर्थ—बाह्य तप के बल से शरीर की शुद्धि होती है, विनय व्यवहार से वाणी की शुद्धि होती है पर मन की शुद्धि तो केवल स्वाध्याय (आन्तर तप) से ही होती है ।

त्रेधा शुद्ध्यात्मनः शुद्धिरात्मतत्त्वं तदुत्तमम् ।

आत्मतत्त्वावबोधाय शेषतत्त्वप्ररूपणा ॥ ५ ॥

अन्वय—त्रेधा शुद्ध्या आत्मनः शुद्धिः तत् उत्तमं आत्मतत्त्वं आत्मतत्त्वावबोधाय शेषतत्त्वप्ररूपणा ॥ ५ ॥

अर्थ—इन तीनों प्रकार की कायिक वाचिक एवं मानसिक शुद्धियों से आत्मा की शुद्धि होती है । (बाह्य तप और आन्तर तप) स्वतः उत्तम आत्म तत्त्व है । शेष तत्त्वों का विवेचन—कथन तो आत्म तत्त्व के ज्ञान के लिए ही किया गया है । अर्थात् अनेक तत्त्वों का जो निरूपण किया गया है वह सर्वका सार है आत्म शुद्धि और तप आत्म शुद्धि का साधन है ।

प्रसिद्धिर्नवतत्त्वानां बहुधा जैनशासने ।

अन्यथा तत्त्वदशकं प्रतिपक्षपरीक्षया ॥ ६ ॥

अन्वय—जैनशासने बहुधा नवतत्त्वानां प्रसिद्धिः अन्यथा प्रतिपक्षपरीक्षया तत्त्वदशकं ॥ ६ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

१७९

अर्थ—श्री जैन शासन में बहुधा नव तत्त्व (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष) की मान्यता प्रसिद्ध है, किंतु जीव अजीव, पुण्य पाप, आदि युगल से प्रतिपक्ष के रूप में निर्जरा के साथ वेदना तत्त्व ग्रहण करने से दस तत्त्व हो सकते हैं।

**तेन तृतीयतुर्याङ्गे वेदनायाः पृथक् ग्रहः ।
बन्धे मोक्षः प्रतिपक्षो वेदनायां हि निर्जराः (रा) ॥ ७ ॥**

अन्वय—तेन तृतीयतुर्याङ्गे वेदनायाः पृथक् ग्रहः बन्धे प्रतिपक्षः मोक्षः वेदनायां हि निर्जरा ॥ ७ ॥

अर्थ—इसीलिए तृतीय एवं चौथे अंग में वेदना का अलग से ग्रहण होता है। बन्ध का प्रतिपक्ष मोक्ष है तो निर्जरा का प्रतिपक्ष वेदना मान्य हो सकता है।

**प्रदेशैर्वेदनावश्यं विभाषात्वनुभागतः ।
तत्त्वानि नव वा सप्त तेन ख्यातानि लाघवात् ॥ ८ ॥**

अन्वय—प्रदेशैः अनुभागतः वेदना अवश्यम् । विभाषा तेन लाघवात् तत्त्वानि सप्त वा नव ख्यातानि ॥ ८ ॥

अर्थ—तत्त्व की परिभाषा अनुभाग अर्थात् रसबंध से करे तो आत्मा के असंख्य प्रदेशों में वेदना तो अवश्य होती है* किंतु संक्षेप करने के कारण तत्त्वों की संख्या सात अथवा नौ प्रसिद्ध है। वस्तुतः कोई भेद नहीं है किंतु वर्गीकरण की अलग अलग पद्धतियों से तत्त्वसंख्या में भेद हो सकते हैं।

* चार प्रकार के बन्ध हैं— प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध (अनुभाग), प्रदेशबन्ध ।

एकमेवात्मनस्तत्त्वं ज्ञेयं सिद्धान्तचिन्तनैः ।

निवार्य भवकार्याणि मदनोन्मादनिग्रहात् ॥ ९ ॥

अन्वय—मदनोन्मादनिग्रहात् भवकार्याणि निवार्य सिद्धान्त-
चिन्तनैः एकं आत्मनः तत्त्वं एव ज्ञेयं ॥ ९ ॥

अर्थ—(इसीलिये इस निरूपण के भेद को गौण करते हुए कहते ह) काम उन्माद आदि अवस्थाओंका दमन और भवबन्धनकारी कार्यों के निवारण हेतु एक मात्र आत्म तत्त्व को सिद्धान्त चिन्तन से जानना चाहिये ।

विवेचन—आत्मशुद्धि के त्रिविध मार्ग को जानना यही तत्त्व चिन्तन का प्रधान हेतु है । मन, वचन और काया में, वचन और काया की शुद्धि मन की शुद्धि के हेतु है और मनोशुद्धि का प्रधान साधन है एकाग्र चित्त से ध्यान । इसीलिये ध्यानमार्ग की चर्चा आगे की गई है ।

शास्त्राद्विदित तत्त्वस्य विरक्तस्यापि कामिनः ।

ध्यानेनात्मा भवेत्साक्षादित्याहुर्योगपाक्षिकाः ॥ १० ॥

अन्वय—शास्त्रात् विदिततत्त्वस्य विरक्तस्य अपि कामिनः ध्यानेन
आत्मा साक्षात् भवेत् इति योग पाक्षिकाः आहुः ॥ १० ॥

अर्थ—(संवर) योग के पक्ष धर कहते हैं कि शास्त्रों में विदित तत्त्वज्ञान से विरक्त किंतु आत्मतत्त्व के अर्थी पुरुष को भी ध्यान से आत्म-साक्षात्कार हो जाता है । अर्थात् समग्र तत्त्वदर्शन का हेतु आत्म दर्शन ही है जो ध्यान से होता है ।

श्रोतव्यश्चापि मंतव्यः साक्षात्कार्यश्चभावनैः ।

जीवो मायाविनिर्मुक्तः स एष जीवः परमेश्वरः ॥ ११ ॥

अन्वय—श्रोतव्यः च अपि मंतव्यः भावनैः साक्षात्कार्यः माया-
विनिर्मुक्तः स एष जीवः परमेश्वरः ॥ ११ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

१८१

अर्थ—आत्मतत्त्व के विषय में भाव से श्रवण एवं मनन (दोनों) करनेसे ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। माया से यही जीव विमुक्त परमेश्वर हो जाता है।

श्रोतव्योऽध्ययनैरेष मंतव्यो भावनादिना ।

निदिध्यासनमस्यैव साक्षात्काराय जायते ॥ १२ ॥

अन्वय—अध्ययनैः एष श्रोतव्यः भावनादिना मन्तव्यः निदिध्यासनं अस्यैव साक्षात्काराय जायते ॥ १२ ॥

अर्थ—(ध्यानरूपी आंतर तप की महिमा समझाते हुए कहते हैं) गुरु मुख से शास्त्र श्रवण, अध्ययन बारह भावनाओंका मनन तथा निरन्तर ध्यान से इस आत्मा का साक्षात्कार संभव होता है।

साक्षाच्चक्रुः पूर्वमतः ये ध्यानात् परमर्षयः ।

तेऽपि ध्येया सदाभीषां शुद्धाचरणचिन्तया ॥ १३ ॥

अन्वय—अतः ये परमर्षयः ध्यानात् पूर्वं साक्षाच्चक्रुः अमीषां शुद्धाचरणचिन्तया ते अपि सदा ध्येया ॥ १३ ॥

अर्थ—अतः जिन महान् ऋषियों ने पूर्वकाल में ध्यान से आत्म साक्षात्कार कर लिया है उनके शुद्ध आचरण के बारे में चिन्तन तथा सदा उनका ध्यान भी करना चाहिए।

यो ध्यायति यथाभावं तादात्म्यं लभते हि सः ।

संसर्गयोगाद् ध्यानेन भ्रमरी स्यादिहेलिका ॥ १४ ॥

अन्वय—यो यथाभावं ध्यायति स हि तादात्म्यं लभते। संसर्गयोगात् ध्यानेन इह इलिका भ्रमरी स्यात् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो जिस भाव से ध्यान करता है वह वैसे ही उसके साथ एकता प्राप्त करता है। भ्रमरी के संसर्गयोग से उसके ध्यान से इस लोक में इलिका भी भ्रमरी हो जाती है। तन्मय ध्यान से साधक कैसे ध्येयाकार हो जाता है यह स्पष्ट करना द्रष्टांत का हेतु है।

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्धा ध्यानमाप्नातं तादात्म्यप्रतिपत्तये ॥ १५ ॥

अन्वय—तादात्म्यप्रतिपत्तये पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितं ध्यानं चतुर्धा आप्नातम् ॥ १५ ॥

अर्थ—(ध्येय के साथ) तादात्म्य की प्राप्ति के लिए अर्थात् ध्येयाकार होनेके लिये पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ये चार प्रकार के ध्यान बताए गए हैं।

ये दिव्यरूपा मुनयः सिद्धास्तन्नामजापतः ।

पदस्थं खलु रूपस्थं स्यात्तेषां स्थापनादिषु ॥ १६ ॥

अन्वय—ये दिव्यरूपा सिद्धाः मुनयः तन्नामजापतः पदस्थं खलु तेषां स्थापनादिषु रूपस्थं स्यात् ॥ १६ ॥

अर्थ—पदस्थ एवं रूपस्थ ध्यान की व्याख्या कर रहे हैं कि जो दिव्य रूप वाले सिद्ध मुनि हैं उनके नाम का जाप पदस्थ ध्यान है और उनकी स्थापनादि निक्षेप द्वारा जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान की कोटि में आता है।

स्वस्मिन्नेव च तद्रूप्ये पिण्डस्थं भाविते सति ।

आत्मन्येव यदात्मा थाः स्थितिस्तद्रूपवर्जितम् ॥ १७ ॥

अन्वय—स्वस्मिन् एव तद्रूप्ये भाविते सति पिण्डस्थं च यदा आत्माथाः आत्मनि एव स्थितिः तद् रूपवर्जितम् ॥ १७ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

१८३

अर्थ—अब पिण्डस्थ एवं रूपातीत ध्यान के प्रकार बता रहे हैं :—
अपनी आत्मा में ध्येय के स्वरूप का ध्यान करने को पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं और जब आत्मा अपने में ही स्थित हो जाती है और दूसरा कुछ भी संकेतित आभासित नहीं होता तब उसे रूपातीत ध्यानावस्था कहते हैं ।

सिद्धा नैकेनतन्मूर्ति-नीतेषु ध्यानगोचराः ।

ज्ञानदानात्पूर्वदशा ध्येयैषां गौरवे ततः ॥ १८ ॥

अन्वय—न एकेन तन्मूर्ति नीतेषु सिद्धाः ध्यानगोचराः ततः
एषां ज्ञानदानात्पूर्वदशा गौरवे ध्येया ॥ १८ ॥

अर्थ—मात्र एक सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए (अरुपी) सिद्ध पर-
मात्मा (रूपस्थ) ध्यान के विषय नहीं हैं परन्तु उनकी देशनासे पूर्व की
गौरवपूर्ण समस्त दशाएं ध्यान करने योग्य हैं ।

ज्ञानेऽप्याद्योऽर्हदादिर्य-स्तद्ध्यानार्चा नमस्क्रियाः ।

तादात्म्या प्राप्तये ध्यातः पूजकादेरपिक्रमात् ॥ १९ ॥

अन्वय—पूजकादेः तादात्माप्राप्तये ज्ञानेऽपि अर्हदादियः आद्यः
तत् ध्यानार्चा नमस्क्रिया क्रमात् ध्यातः ॥ १९ ॥

अर्थ—पूजकों को तद्रूपता की प्राप्ति के लिए ज्ञान में भी जो अर्ह-
दादि मुख्य हैं उनका नमन, पूजन एवं ध्यान क्रम से करना चाहिए ।
ध्यान के लिये अनुकूल चित्त निर्माण के लिये उपासना मार्ग का अब
निरूपण शुरु होता है ।

अर्हद्गुणैः स्मृतिः सेवा तत्त्वश्रद्धा च पूजना ।

तदैकाग्रये तदीयाज्ञा विप्रस्येव महाश्रियै ॥ २० ॥

अन्वय—अर्हत् गुणैः स्मृतिः सेवा तत्त्वश्रद्धा च पूजना तदैका-
ग्रये तदीयाज्ञा विप्रस्य इव महाश्रियै ॥ २० ॥

अर्थ—अर्हत् एवं सिद्ध गुरुओं के नाम करण, सेवन, तत्त्वदर्शन पूजन, एकाग्रभाव से स्वरूप चिन्तन तथा (जिन) आज्ञापालन ब्राह्मण की तरह (उपासक को) महान सुख सम्पत्ति के हेतु होते हैं ।

व्यक्तशक्तिर्भक्तिरूपा—चारः संसारपारदः ।

धर्मस्य विनयो मूलं प्रथमं सिद्धिसाधनम् ॥ २१ ॥

अन्वय—भक्तिरूपाचारः व्यक्तशक्तिः संसारपारदः धर्मस्य मूलं विनयः प्रथमं सिद्धिसाधनम् ॥ २१ ॥

अर्थ—आत्मा की तिरोहित शक्ति को व्यक्त करने वाला भक्तिरूप आचार (अर्थात् जिन उपासना) संसार से पार ले जाने वाला है एवं संसार के रोगों के लिए पारद रसायन के समान रोग निवारक है । (उपासना मार्ग में) विनय धर्म का मूल है एवं संसार में सिद्धि प्राप्त करने का प्रथम साधन है । “ विनय मूलो धम्म ” ।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥



विंशतितमोऽध्यायः

मंत्रयोग से परमेष्ठिपद की उपासना

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि परमात्मा कैसे हैं जिनकी भक्ति से प्राणियों को शिव सम्पदा की प्राप्ति होती है ।

श्री भगवान ने उत्तर दिया संसार में भी सभी गुणों से युक्त पुरुष ज्येष्ठ व श्रेष्ठ माना जाता है । पुरुषों में भी जो व्यक्ति कषायों को जीतने वाला होता है वही पुरुष देवताओं द्वारा पूजनीय एवं प्रशंसनीय होता है । यही पुरुष परमेश्वर है सिद्ध शुद्ध एवं सनातन है जैसे दूध में सार घी, पुष्प में परिमल वैसे ही संसार में सार चैतन्य है उसमें भी सर्वोत्कृष्ट कैवल्य है । सभी उपाधियों से रहित सिद्ध स्वरूपी यही केवली परमेष्ठि पद पर प्रतिष्ठित है यही अर्हत् है एवं (मानव, पाठ में) बारह खडी में इसे ही ॐ नमः सिद्ध के रूप में पूजा गया है ।]

* * *

विंशतितमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रैश्चान्द्रैः प्रपूज्यो यः स कीदृक् परमेश्वरः ।

यद्भक्तिः क्रियमाणाऽसौ सत्त्वानां शिवसंपदे ॥ १ ॥

अन्वय—ऐन्द्रैः चान्द्रैः प्रपूज्यो यः स कीदृक् परमेश्वरः यद्भक्ति-
क्रियामणा असौ सत्त्वानां शिवसम्पदे ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी ने पूछा इन्द्रों तथा नागेन्द्रों द्वारा जो विशेष रूप से पूजनीय हैं वे परमात्मा कैसे हैं? जिनकी भक्ति करने पर प्राणियों को शिवसुख की सम्पत्ति प्राप्त होती है ।

श्री भगवानुवाच

भवेऽस्ति मुख्यं मानुष्य-ऋषभाद्या यदात्मकाः ।

देवाधिदेवा देवानां सेव्या लब्धमहोदयाः ॥ २ ॥

अन्वय—भवे मानुष्यं मुख्यं अस्ति यदात्मका लब्धमहोदयाः
देवाधिदेवाः ऋषभाद्या देवानां सेव्याः ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा— संसार में मनुष्य जन्म महत्त्वपूर्ण है
अथवा मनुष्य जन्म की मुख्यता है जिसमें पूर्ण महोदय से युक्त देवाधि-
देव भगवान ऋषभदेव आदि हैं जो देवताओं के द्वारा सेवनीय हैं ।

श्री नारायणरामाद्याः संजाताः पुरुषोत्तमाः ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥ ३ ॥

अन्वय—श्री नारायणरामाद्याः पुरुषोत्तमाः संजाताः धर्मार्थ-
काममोक्षाख्यं पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥ ३ ॥

विंशतितमोऽध्यायः

१८७

अर्थ—संसार में श्री विष्णु तथा राम प्रभृति पुरुषोत्तम हुए हैं इस पुरुषोत्तमत्व की प्राप्ति के लिए धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गए हैं ।

नरान्नारायणोत्पत्तिः शाब्दिकैरपि गीयते ।

पौरुषं फलमित्येवं नृजन्मोत्तममीरितम् ॥ ४ ॥

अन्वय—शाब्दिकैः अपि नरात् नारायणोत्पत्तिः गीयते ।
नृजन्मोत्तमं पौरुषफलं इति एवं ईरितम् ॥ ४ ॥

अर्थ—संसार में नर से नारायण की उत्पत्ति तो पंडित भी कहते हैं । यह भी कहते हैं कि मनुष्य जन्म में पुरुषार्थ का फल सर्वोत्तम होता है ।

तत्रापि पुरुषो ज्येष्ठः श्रेष्ठः सर्वगुणाश्रयः ।

यज्जन्मनि भवेद्धर्षो भिक्षूणां भूभुजां समः ॥ ५ ॥

अन्वय—तत्रापि पुरुषो ज्येष्ठः श्रेष्ठः सर्वगुणाश्रयः यत् जन्मनि भिक्षूणां भूभुजां सम हर्षः भवित् ॥ ५ ॥

अर्थ— उस मनुष्य जन्म में भी पुरुष जन्म श्रेष्ठ और सभी गुणों की खान है । इस जन्म की प्राप्ति पर गरीबों के घर भी राजाओं के समान हर्ष होता है । अर्थात् पुत्र जन्म से राजाओं तथा भिक्षुओं के घर समान आनन्द होता है ।

पुरुषेष्वपि यो धर्मरसिकः स्यात्कषायजित् ।

स एव देवदेवोऽर्च्यः स्तोतव्यः काव्यकोटिभिः ॥ ६ ॥

अन्वय—पुरुषेषु अपि यः धर्मरसिकः कषायजित् स्यात् स एव देवदेवः अर्च्यः काव्यकोटिभिः स्तोतव्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—पुरुषों में भी जो धर्म में रूचि रखता है एवं कषायों को जीत लेता है वह देवों का देव (देवाधिदेव) पूजनीय है एवं करोड़ों काव्यों से स्तुति करने योग्य है ।

जीवाजीवमयो लोकः कर्ताऽयं परमेश्वरः ।

स्वरूपस्य स्वयं धर्ता सिद्धः शुद्धः सनातन ॥ ७ ॥

अन्वय—जीवाजीवमयः लोकः कर्ता अयं परमेश्वरः स्वयं
स्वरूपस्य धर्ता सिद्धः शुद्धः सनातनः ॥ ७ ॥

अर्थ—यह संसार जीव और अजीव से युक्त है एवं परम ऐश्वर्यवान्
जीव ही इसका कर्ता है। यह परमात्मा स्वयं स्वरूप को धारण करने वाला
सिद्ध, शुद्ध और सनातन है।

दुग्धे सारं यथा सर्पिः पुष्पे परिमलस्तथा ।

तथा लोकेऽपि चैतन्यं तस्मिन्कैवल्यमुत्तमम् ॥ ८ ॥

अन्वय—यथा दुग्धे सर्पिः सारं तथा पुष्पे परिमलः। तथा
लोकेऽपि चैतन्यं तस्मिन् कैवल्यं उत्तमम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दूध का सार घी है वैसे ही फूल का सार
सुगन्ध है वैसे ही संसार में सार वस्तु चैतन्य है उसमें भी कैवल्य पद की
प्राप्ति उत्तमोत्तम है।

सर्वसंगविनिर्मुक्तः सिद्धः केवलबोधनात् ।

स एव परमेष्ठीति गेयोऽर्हस्ताच्चिकैर्जनैः ॥ ९ ॥

अन्वय—सिद्धः सर्वसंग विनिर्मुक्तः केवलबोधनात् स एव पर-
मेष्ठी अर्हन् इति तात्त्विकैः जनैः गेयः ॥ ९ ॥

अर्थ—सिद्ध भगवान सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होते हैं।
(सर्व सारभूत) केवलज्ञान होने के कारण उन्हें ही तात्त्विक लोग परमेष्ठी
और अर्हन् रूप में गाते हैं।

तेनैव मातृकापाठेऽप्यो नमः सिद्धमुच्यते ।

मायाङ्गजो न वा कृष्णो न रूद्रो वा नमस्कृतः ॥ १० ॥

विं शतितमोऽध्यायः

१८९

अन्वय—तेन एव मातृकापाठे ओं नमः सिद्धं उच्यते मायाङ्गजो
कृष्णः न वा रूद्रो नमस्कृतः ॥ १० ॥

अर्थ—इसी अनासक्ति से युक्त सिद्ध भगवान को “ॐ नमः
सिद्धम्” मातृका पाठ में नमस्कार किया गया है और ब्रह्मा विष्णु और
महेश को नहीं किया गया है। सर्वश्रेष्ठ प्राप्तिका साधन अनासक्त भाव है
जो अर्हन् और सिद्ध परमात्मा में चरितार्थ होने के कारण ध्येयरूप होने
को उत्सुक साधक के लिये वह परम पूज्य माने गये है। जैसा ध्येय
वैसी प्राप्ति यह नियम है।

सिद्धे नानाभिधानानि यथा गुरुपदेशनम् ।

ओमित्याख्या तत्र मुख्या सर्वशास्त्रप्रतिष्ठिता ॥ ११ ॥

अन्वय—सिद्धे नानाभिधानानि यथा गुरुपदेशनम् तत्र ॐ इति
मुख्या सर्वशास्त्रप्रतिष्ठिता ॥ ११ ॥

अर्थ—गुरु के उपदेशानुसार सिद्ध में नाना प्रकार के नाम हैं उनमें
ॐ मुख्य नाम है जिसे सभी शास्त्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त है।

रक्षत्यवति सर्वान् यः स ओमिति च शाब्दिकाः ।

अखण्डमव्ययं चैतत् सिद्धस्यैवाभिधायकम् ॥ १२ ॥

अन्वय—यः सर्वान् रक्षति अवति स ॐ इति च शाब्दिकाः ।
एतत् अखण्डं अव्ययं च सिद्धस्य एव अभिधायकम् ॥ १२ ॥

अर्थ—अब ॐ की परिभाषा देते हैं कि जो सब की रक्षा करे
त्राण करे उसे वैयाकरणी ॐ कहते हैं और ये अखण्ड, अव्यय आदि
विशेषण सिद्ध के ही वाचक हैं।

अर्हत्यर्चामिन्द्रकृता मर्हन् वाच्योऽस्यकारतः ।

इप्रत्ययान्नामसिद्धेः शुद्धः केवलरूपभाक् ॥ १३ ॥

अन्वय—अकारतः अर्हन् वाच्यः अस्ति इन्द्रकृतां अर्चा अर्हति ।
ड प्रत्ययात् नामसिद्धेः शुद्ध केवलरूपभाक् ॥ १३ ॥

अर्थ—अ ऊ म् का अ वर्ण अर्हन् का वाच्य है यह पद इन्द्र द्वारा की गई पूजार्चा के योग्य है । ड प्रत्यय से अर्हन् की नाम सिद्धि से शुद्ध स्वरूप एवं चैतन्य गुणों का निर्देश होता है ।

उ इत्युच्चैर्गतौ मोक्षे दीर्घोऽकारस्तु रक्षणे ।

अस्य योगादुना सिद्धे सन्ध्यक्षरे तृतीयके ॥ १४ ॥

अन्वय—उ इति उच्चैः मोक्षे गतौ दीर्घ उकारस्तु रक्षणे अस्य उना योगात् सिद्धः सन्ध्यक्षरे तृतीयके ॥ १४ ॥

अर्थ—उ श्रेष्ठ मोक्ष गति का वाचक है और दीर्घ उकार रक्षा करने में समर्थ है अ का उ से मेल होने पर तीसरा सन्ध्यक्षर ओ सिद्ध होता है ।

अर्धचन्द्राकृतिः सिद्ध शिलाबिन्दुस्तदूर्ध्वगः ।

सिद्धेऽनाकारतो ख्यायी जगन्मूर्धनि संस्थिते ॥ १५ ॥

अन्वय—अर्धचन्द्राकृतिः सिद्धशिला, बिन्दुः तत् उर्ध्वगः ।
जगन्मूर्धनि संस्थिते सिद्धे अनाकारतः ख्यायी ॥ १५ ॥

अर्थ—ॐ की अर्द्ध चन्द्र की आकृति सिद्धशिला है एवं उसके ऊपर रहा हुआ बिन्दु जगत् के मस्तक पर स्थित सिद्ध भगवान के निराकार रूप को बताने वाला प्रतीक है ।

ॐकाररूपात्साकारोऽनाकारो बिन्दुरूपतः ।

सिद्धोऽनाकार साकारो-पयोगादुभयात्मकः ॥ १६ ॥

अन्वय—सिद्धः ॐकार रूपात् साकारः बिन्दुरूपतः अनाकारः
साकारोपयोगात् उभयात्मकः ॥ १६ ॥

विंशतितमोऽध्यायः

१९१

अर्थ—सिद्ध ॐ कार रूप से साकार है एवं बिन्दु रूप से निराकार है। निराकार (दर्शन) तथा साकार (ज्ञान) के उपयोग से सिद्ध भगवान का यह उभयात्मक रूप सिद्ध होता है।

अतत्यात्माप्यकारेण वाच्यः केवलशालिनाम् ।
उः पंचमीगतिर्मोक्षः पंचमस्वरसंज्ञया ॥ १७ ॥

अन्वय—आत्मा अपि अकारेण अतति केवलशालिनां वाच्याः ।
पंचमस्वरसंज्ञया उः पंचमीगतिः मोक्षः ॥ १७ ॥

अर्थ—अकार से जो गतिमान् है, उसके निर्देश से आत्माका भी वह वाच्य होता है ऐसा केवल ज्ञानी कहते हैं। पांचवा स्वर होने के कारण उ पंचम गति मोक्ष को प्रदान करने वाला है।

विवेचन—भव भ्रमण की चार गति है। नारकी, तिर्थन्व, देव और मनुष्य और पंचम गति है मुक्ति। पंचम गति हेतु पांचवा स्वर उ है।

तयोयोगेमितिमहानन्दः स पुरुषोद्भवः ।
परमेश्वरसंज्ञासौ ताद्रूप्यं तत्स्मृतेर्भवेत् ॥ १८ ॥

अन्वय—तयोः योगे म् इति महानन्दः स पुरुषोद्भवः असौ
परमेश्वरसंज्ञा तत् स्मृतेः ताद्रूप्यं भवेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—इन अ और उ के साथ मिला हुआ म् महान् आनन्द का सूचक है वह ॐ उस परम पुरुष से उत्पन्न होता है जिसे हम परमेश्वर कहते हैं। इसि के स्मरण करने से (साधक) तद्रूप होते हैं।

अ इत्यर्हन् ऋकारः श्रीऋषभोरेफवेदतः ।
अमित्यर्हन् महावीर—स्तत्संधावो प्रतीयते ॥ १९ ॥

अन्वय—अ इति अर्हन् रेफवेदतः ऋकारः श्री ऋषभः । अं इति
अर्हन् महावीरः तत्सन्धौ ॐ प्रतीयते ॥ १९ ॥

अर्थ—अब अर्ह की व्याख्या कर रहे हैं अ से अर्हन् तथा रेफ रूप ऋकार से (प्रथम तिर्थकर) ऋषभदेव का ग्रहण करना चाहिए तथा अं (म्) से अंतिम तिर्थकर महावीर इन सब की संधि होने से ॐ की प्रतीति होती है। अर्थात् ॐ २४ तिर्थकरोंका वाचक है।

नमस्त्रिधार्चिते सोऽर्हन् विधिर्वा विष्णुरीश्वरः ।

स क इत्यादि शंकायां सिद्धमित्याह निर्णयात् ॥ २० ॥

अन्वय—त्रिधा अर्चिते नमः स अर्हन् विधिः विष्णु ईश्वरः वा स क इत्यादि शंकायां सिद्धं इति आह निर्णयात् ॥ २० ॥

अर्थ—तीन प्रकार के प्रणिपात (नमस्कार) पूर्वक पूजित होने से वह अर्हत् ही ब्रह्मा विष्णु और महेश है। यदि कोई शंका करे कि वह कौन है तो निर्णय कर के यह कहते हैं कि वह सिद्ध ही है।

ज्योतिःशास्त्रे सिद्धशब्दाच्चतुर्विंशतिसंख्यया ।

तावन्ती नति(ती)राख्यायि स्वयं मातृकयाऽन्वयात् ॥ २१ ॥

अन्वय—ज्योतिःशास्त्रे सिद्धशब्दात् चतुर्विंशति संख्यया स्वयं मातृकयान्वयात् तावन्तीः नती आख्यायि ॥ २१ ॥

अर्थ—ज्योतिष शास्त्र में सिद्ध शब्द से २४ की संख्या ली जाती है। वर्णमातृका के २४ अक्षर होने के कारण इतने ही नमस्कार अर्हत् भगवान को किए गए हैं।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां विंशतितमोऽध्यायः ॥

विंशतितमोऽध्यायः

अ. गी. - १३

१९३

एकविंशतितमोऽध्यायः

आत्मा का परम ऐश्वर्य

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि मोक्ष सम्पदा का दाता वह अर्हन्, ब्रह्मा, सूर्य, विष्णु, शिव, बुद्ध अथवा और कोई है ?]

श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि लोकालोकमय ब्रह्म का ज्ञाता ही परमेश्वर है यह सर्वगत एवं आत्म वश है। यही आत्मा सारे संसार में व्याप्त होने के कारण विष्णु एवं कर्मानुसार जगत् को बनाने के कारण ब्रह्मा है, जगत् प्रकाशक होने के कारण सूर्य है। शिव अथवा सिद्ध इसी चिदानन्दमय ज्योति स्वरूप आत्मा के नाम हैं। गुणोदय से जब इस आत्मा के मोहनीयादि अष्ट कर्मों का नाश होता है तो इसमें पारमैश्वर्य प्रकट होता है। सिद्ध परमात्मा में सम्पूर्ण पारमैश्वर्य होता है अतः उनका ज्ञान, ध्यान एवं जप करना चाहिए। आत्मा में जब तक राग द्वेष है तब तक उसमें पारमैश्वर्य प्रकट नहीं हो सकता है अतः अतिशयोक्ति से युक्त शुद्ध आत्मा ही परमेश्वर हैं एवं महोदय चाहने वालों को उसका ही ध्यान करना चाहिए।]

* * *

एकविंशतितमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐश्वर्यं परमं यस्य शिवः सिद्धिप्रसाधनम् ।

सोऽर्हन् ब्रह्मार्यमा विष्णुः शम्भुर्बुद्धोऽथवा परः ॥ १ ॥

अन्वय—यस्य परमं ऐश्वर्यं शिवः सिद्धिप्रसाधनम् सः अर्हन्
ब्रह्मा अर्यमा विष्णुः शम्भुः बुद्ध अथवा परः ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम ने भगवान महावीर से पूछा कि जिसका परम
ऐश्वर्य मोक्ष सुख की सिद्धियों का साधन है वह अर्हत् ब्रह्मा सूर्य, विष्णु,
शिव, बुद्ध अथवा और कोई है ?

श्री भगवानुवाच

लोकालोकमयो ब्रह्मरूपसत्त्वनिधिर्विधिः ।

सर्वभूतमयीभूतस्तद् ज्ञाता परमेश्वरः ॥ २ ॥

अन्वय—लोकालोकमयः ब्रह्मरूपसत्त्वनिधिः विधिः । सर्वभूत-
मयीभूतः तद्ज्ञाता परमेश्वरः ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा कि लोकालोकमय जो ब्रह्म है उन्हें ही
रूप और सत्ता का भण्डार कहते हैं वह सर्व जीव स्वरूप है उसका ज्ञाता
ही परमेश्वर है अर्थात् वह अज्ञेय है ।

स्वरूपस्य स्वयं कर्ता जगद्भाव्यस्य शाश्वतः ।

एकोऽनेकविवर्तात्मा सर्वगः स्ववशः परम् ॥ ३ ॥

अन्वय—जगद्भाव्यस्य स्वरूपस्य स्वयं शाश्वतः कर्ता एकः
अनेकः विवर्तात्मा, सर्वगः स्ववशः परम् ॥ ३ ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

१९५

अर्थ—यह ब्रह्म जगत् में विद्यमान पदार्थों का स्वयं शाश्वत कर्ता है यह एक है लेकिन विवर्तों से अनेक है यह सर्वगत है, आत्मवश है एवं उच्च है।

लोकालोकमये ज्ञेये ज्ञातुः प्राधान्यमिष्यते ।

प्रत्यक्षस्तनुवाक्चित्तः कर्ताऽयं नापरो यतः ॥ ४ ॥

अन्वय—लोकालोकमये ज्ञेये ज्ञातुः प्राधान्यं इष्यते तनुवाक्चित्तः प्रत्यक्षः अयं कर्ता यतः अपरः न ॥ ४ ॥

अर्थ—ज्ञेय ऐसे लोक और अलोक में सर्वत्र ज्ञाता की ही प्रधानता मानी जाती है। मन वाणी एवं काया से साक्षात् इस कर्ता से दूसरा कोई कर्ता नहीं है।

विवेचन—आत्मा ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय। ज्ञाता न हो तो ज्ञेय अर्थ-शून्य हो जाता है इसलिये ज्ञाता प्रधान है। जो ज्ञाता है वही देहधारी प्रत्यक्ष कर्ता भी है।

तन्वाद्यैरिहकर्मात्तैर्भावैः सर्वपुद्गलान् ।

स्वीकृत्यानन्तशः सर्वा चकार जगतः स्थितिम् ॥ ५ ॥

अन्वय—यः कर्मात्तैः तन्वाद्यैः भावैः अनन्तशः सर्वपुद्गलान् स्वीकृत्य जगतः सर्वा स्थितिं चकार ॥ ५ ॥

अर्थ—(और) इसी आत्मा ने (कर्ता के रूप में) कर्माधीन शरीरादि भावों के द्वारा अनन्त बार सभी पुद्गलों को स्वीकार कर जगत की सारी स्थिति को बनाया है।

क्रियां विना न कर्म स्यान्नकर्तारं विना क्रिया ।

भोक्ता क्रियाफलस्यैष चेतनोऽस्ति सनातनः ॥ ६ ॥

अन्वय—क्रियां विना कर्म न स्यात्, कर्तारं विना क्रिया न। क्रियाफलस्य एष चेतनः सनातनः भोक्ता अस्ति ॥ ६ ॥

अर्थ—क्रिया अथवा प्रवृत्ति के बिना कर्म नहीं हो सकता है और कर्ता के बिना क्रिया सम्भव नहीं हो सकती है इसलिए यही चेतन आत्मा सनातन कर्म फल का भोक्ता होता है ।

विवेचन—आत्मा की ज्ञान क्रिया और भोग की शक्ति से संसार की सर्व लीला हो रही है और वह स्वयं इस लीला का कर्ता है ।

अनन्तशक्तिरार्हन्त्य-भाजनं जनपूजितः ।

विष्णुरात्मा जगत्कर्ता स्थूलः सूक्ष्मः परोऽपरः ॥ ७ ॥

अन्वय—अनन्तशक्तिः आर्हन्त्यभाजनं जनपूजितः आत्मा विष्णुः जगत्कर्ता स्थूलः सूक्ष्मः परः अपरः (च) ॥ ७ ॥

अर्थ—यह अनन्त शक्ति आत्मा आर्हन्त्य का पात्र होता है । एवं लोगो के द्वारा पूजा जाता है । यह आत्मा सारे संसार में व्याप्त है (विष्णु) जगत को बनानेवाला (ब्रह्मा) है स्थूल भी है सूक्ष्म भी है पर भी और अपर भी वही है ।

विवेचन—सर्व देहो में एक ही चैतन्य शक्ति होने से आत्मा सर्वत्र व्याप्त है ।

यो यद्विषयकं ज्ञानं विभर्ति परमार्थतः ।

ज्ञानाद् ज्ञेयाविभेदेन कर्तात्मा वस्तुनः सतः ॥ ८ ॥

अन्वय—यः आत्मा परमार्थतः यत् विषयकं ज्ञानं विभर्ति ज्ञानाद् ज्ञेयाविभेदेन आत्मा सतः वस्तुनः कर्ता ॥ ८ ॥

अर्थ—(आत्मा के कर्तृत्व को अन्य द्रष्टि से समझाते हुए कहते हैं) कि जो आत्मा वस्तुतः जिस विषय का ज्ञान रखता है ज्ञाता और ज्ञेय के अभेद से वह सद्वस्तु का स्वयं कर्ता है ।

यथा घटस्य दीपः स्यात्प्रकाशेनांशुजन्मना ।

स्पष्टपर्यायकर्ताऽयं तदात्मा ज्ञेयकारकः ॥ ९ ॥

अन्वय—यथा अंशुजन्मना प्रकाशेन घटस्य दीपः स्यात् (तथैव) स्पष्टपर्यायकर्त्ता अयं आत्मा ज्ञेयकारकः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है और दीप के प्रकाश से घट प्रकाशित होता है वैसे ही प्रत्यक्ष दिखने वाले पर्यायों (पदार्थों) का प्रकाशक भी यह आत्मा है ।

विवेचन—द्रष्टा के बिना जगत् द्रश्य कैसे हो सकता है ? आत्मा की प्रकाशक शक्ति से जगत् द्रश्यमान होता है ।

चिदानन्दमयं ज्योतिर्यदास्य प्रकटीभवेत् ।

तदात्मा परमात्माऽयं शिवः सिद्धोऽभिधीयते ॥ १० ॥

अन्वय—यदा अस्य चिदानन्दमयं ज्योतिः प्रकटीभवेत् तदा अयं आत्मा परमात्मा शिवः सिद्धः अभिधीयते ॥ १० ॥

अर्थ—जब इस आत्मा की चिदानन्दमय ज्योति प्रकट होती है तब यह आत्मा, परमात्मा, शिव, सिद्ध आदि नामों से अभिहित की जाती है ।

यथा यथाऽस्य मोहान्धयं व्यपैति स्वगुणोदयात् ।

उदेति पारमैश्वर्यं तथैन्द्रज्योतिरद्भुतम् ॥ ११ ॥

अन्वय—स्वगुणोदयात् यथा यथा अस्य मोहान्धयं व्यपैति तथा अद्भुतं ऐन्द्रज्योतिः पारमैश्वर्यं उदेति ॥ ११ ॥

अर्थ—अपने गुणों के उदय होने से जैसे जैसे इस आत्मा का मोहान्धकार नष्ट होता है वैसे वैसे इसकी अद्भुत आत्मज्योति और पारमैश्वर्य उदय होता है । मोहरूपी अंधकार के दूर होने से जो स्वयं है वही अनावृत होकर प्रकाशित होता है ।

संपूर्णं पारमैश्वर्यं सिद्धेऽस्ति परमेष्ठिनि ।

यद् ज्ञान ध्यान जापाद्यैः सिद्धयोऽष्टौ महर्षयः ॥ १२ ॥

अन्वय—सिद्धेपरमेष्ठिनि सम्पूर्णं पारमैश्वर्यं अस्ति । यद् ज्ञान
ध्यान जापाद्यैः अष्टौ महर्धय सिद्धयः ॥ १२ ॥

अर्थ—सिद्ध भगवान में सम्पूर्ण पारमैश्वर्य है । (इसलिये) उनके ज्ञान
ध्यान एवं जाप आदि से बहुमूल्य अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

प्रकटे केवले ज्ञाने योगातिशयशालिनि ।
प्रसिद्धं पारमैश्वर्यं स्पष्टमर्हति चार्हति ॥ १३ ॥

अन्वय—योगातिशयशालिनि अर्हति केवले ज्ञाने प्रकटे सति
प्रसिद्धं पारमैश्वर्यं स्पष्टं अर्हति ॥ १३ ॥

अर्थ—योग के अतिशय से युक्त अर्हत् भगवान् में केवलज्ञान के
प्रकट होने पर जगत् प्रसिद्ध पारमैश्वर्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है । सिद्धयोगी
अरिहंत परमात्मा में पारमैश्वर्य प्रमाणित होता है ।

यदुक्तयोगमार्गेण यद्भयानादपि यद्भवेत् ।
तत्तत्कर्तृकमेवेष्टं वैद्यैर्मान्त्रैः यथा सुखं ॥ १४ ॥

अन्वय—यदुक्तयोगमार्गेण यत् ध्यानात् अपि यत् भवेत् तत् तत्
कर्तृकं एव इष्टं यथा वैद्यैः मान्त्रैः सुखं इष्टम् ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनके द्वारा कहे गए योगमार्ग से, तथा जिनके ध्यान से
जो वस्तुएं होती हो उन उन वस्तुओं के कर्त्ता वे सिद्ध या अर्हत् हैं ।
जैसे वैदिक मंत्रों से जो सुख मिलता है उस सुख का कर्त्ता वैदिक मंत्रों को
मानते हैं वैसे ही प्राप्ति के कारण रूप होने से वे अर्हत् या सिद्ध ही
कर्त्ता हैं ।

जिनोक्तयोगेनानेक-लब्धिर्विष्णुमुनेरिव ।
ऐन्द्रद्धिं मुक्तिमुक्तिश्चा-ऽवश्यं वश्यं जगत्त्रयं ॥ १५ ॥

अन्वय—जिनोक्तयोगेन विष्णुमुनेः इव अनेकलब्धिः (भवति)
ऐन्द्रद्धिं भुक्तिमुक्तिः च अवश्यं जगत्त्रयं वश्यं भगति ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनेश्वर भगवान के द्वारा बताए गए योगमार्ग से विष्णु मुनि की तरह अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं एवं इन्द्रों की समृद्धि भोग और मोक्ष प्राप्त होता है और तीनों जगत भी अवश्य ही वश में हो जाते हैं ।

रागो द्वेषश्च संसारकारणं सद्भिरिष्यते ।

तयोर्विवर्जितो ज्ञाता मुक्तः स परमेश्वरः ॥ १६ ॥

अन्वय—सद्भिः रागः द्वेषः च संसारकारणं इष्यते । तयोः विवर्जितो ज्ञाता स मुक्तः परमेश्वरः (च) ॥ १६ ॥

अर्थ—सज्जन लोग संसार का कारण राग और द्वेष को मानते हैं । उनसे जो रहित है वही ज्ञाता है वही मुक्त है और वही परमेश्वर है । अर्थात् रागद्वेष मुक्त आत्मा ही परमेश्वर है ।

न जन्तुपीडा न व्रीडा न क्रीडा मैथुनादिकाः ।

हास्यं न लास्यं नालस्यं स एव परमेश्वरः ॥ १७ ॥

अन्वय—यस्य न जन्तुपीडा न व्रीडा न मैथुनादिकाः क्रीडा । न लास्यं न आलस्यं (भवति) स एव परमेश्वरः ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस आत्मा के लिए न जन्तुभय है न लज्जा है न मैथुनादिक सांसारिक क्रियाएं हैं न श्रृंगारादि नृत्य विलास है न हास्य व्यंग्य है न आलस्य है वही परमेश्वर है ।

शक्रचक्रयर्धचक्रयादिर्यश्चान्यः पुरुषोत्तमः ।

सोऽपि भाविनयापेक्षं प्रत्यक्षः परमेश्वरः ॥ १८ ॥

अन्वय—यः शक्र चक्री अर्द्धचक्री आदि च वा अन्यः पुरुषोत्तमः सः अपि भाविनयापेक्षं प्रत्यक्षः परमेश्वरः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो (वर्तमान में) इन्द्र है चक्री है अर्द्धचक्री वासुदेव आदि है या अन्य पुरुषोत्तम रूप है वह भी भावि नय की अपेक्षा से प्रत्यक्ष परमेश्वर ही है । क्योंकि आत्मगुणों के विकास से जो आज इन्द्र

आदि है वही भविष्य में विकास की चरम सीमा को छूकर परमेश्वर होने वाले हैं।

यावद्भ्रमति संसारे रागद्वेषवशंवदः ।

आत्मा न पारमैश्वर्यं तावत्प्राप्नोति निश्चयात् ॥ १९ ॥

अन्वय—आत्मा रागद्वेषवशंवदः यावत् संसारे भ्रमति तावत् निश्चयात् पारमैश्वर्यं न प्राप्नोति ॥ १९ ॥

अर्थ—(परंतु) जब तक रागद्वेष से वशीभूत होकर यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है तब तक निश्चित रूप से वह आत्मा पारमैश्वर्य पद की प्राप्ति नहीं कर सकती है।

यस्यातिशयसाम्राज्यं जगदाश्चर्यकारणम् ।

शुद्धयोगेन योगी यः स देवः परमेश्वरः ॥ २० ॥

अन्वय—यस्य जगदाश्चर्यकारणं अतिशय साम्राज्यं (अस्ति) यः शुद्धयोगेन योगी, स देवः परमेश्वरः ॥ २० ॥

अर्थ—जिसका जगत आश्चर्य जनक महान् साम्राज्य है और जो शुद्ध योग से योगी है वही देव है और वही परमेश्वर है।

नानाजनानामित्युक्त्या निर्णयि परमेश्वरम् ।

तस्यैव भक्तिराधेया प्रेयान् यदि महोदयः ॥ २१ ॥

अन्वय—इति नानाजनानां उक्त्या परमेश्वरं निर्णयि यदि महोदयः प्रेयान् तस्यैव भक्ति आधेया ॥ २१ ॥

अर्थ—इस प्रकार नानाविध लोगों की उक्तियों के द्वारा परमेश्वर का निर्णय कर यदि हम अपने महोदय को चाहते हैं तो उसीकी भक्ति करें।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां एकविंशतितमोऽध्यायः ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

एकता और अनेकता

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है आत्मा में एकत्व सिद्धि होने पर यह निश्चय होता है कि परमात्मा एक ही है पर आत्मा में अनेक रूपता कैसे दिखाई देती है ?

श्री भगवान ने उत्तर दिया कि लोकालोकात्मक वस्तु द्रव्य रूप से एक ही है किन्तु पर्याय की दृष्टि से उसमें अनेकता प्रतिभासित होती है। एक ही सत्त्वरूप वस्तु में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से बहुत प्रकार के पर्यायों का उदय होता रहता है। अर्हतों के अर्हत्व एवं सिद्धों के सिद्धत्व में अन्तर है पर उनमें शाश्वत एकता है। आत्मा भी क्षेत्रज्ञ और परमात्मा दो प्रकार की होती है परन्तु द्रव्य रूप से वह एक ही है। अकार एक ही है पर संवृत विवृत भेद से वह २४ प्रकार का होता है। वैसे ही स्वरूप से एक ही सिद्ध जिनेश्वर में अनेकता आरोपित की जाती है। जैसे एक ही सूर्य बारह प्रकार का माना जाता है वैसे ही एक ही अर्हत् २४ तीर्थङ्करों के रूप में पूजे जाते हैं।]

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्दवी निर्मला कान्तिः शान्तिभृत्परमेश्वरे ।

सिद्धे पूर्णतया भाति चिदानन्दाभिनन्दिनी ॥ १ ॥

अन्वय—चिदानन्दाभिनन्दिनी ऐन्दवी निर्मला कान्तिः शान्तिभृत् सिद्धे परमेश्वरे पूर्णतया भाति ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने भगवान से कहा—चिदानन्द स्वरूप को आनन्दित करने वाली आत्मा की निर्मल कान्ति शान्त और सिद्ध परमेश्वर में पूर्ण रूप से प्रकाशित होती है ।

ऐक्ये प्रतिष्ठिते तस्मिन् एको हि परमेश्वरः ।

आत्मनः परमैश्वर्ये-ऽनैक्यं तद् घटते कथम् ॥ २ ॥

अन्वय—तस्मिन् ऐक्ये प्रतिष्ठिते सति परमेश्वर एकः हि (एव) एवं सति आत्मनः परमैश्वर्ये तद् अनैक्यं कथं घटते ॥ २ ॥

अर्थ—उस आत्मा में एकत्व की सिद्धि होने पर यह निश्चय्य होत, है कि परमात्मा एक ही है परन्तु जो आत्मा परम ऐश्वर्यशाली है उसमें अनेकत्व कैसे घट सकता है ?

श्री भगवानुवाच

लोकालोकात्मकं वस्तु सद्रूपमेकमेव तत् ।

तच्छक्तिश्चेतना मुख्या ताद्रूप्यात्तदनेकता ॥ ३ ॥

अन्वय—सद्रूपं वस्तु लोकालोकात्मकं अस्ति तत् एकं एव । तत् शक्तिः चेतना मुख्या ताद्रूप्यात् तदनेकता ॥ ३ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायाः

२०३

अर्थ—संसार में लोकालोकात्मक जो वस्तु है वह सत्त्वरूप से तो एक ही है। उसकी चेतना शक्ति मुख्य है। उस चेतना शक्ति से तत् तत् वस्तुओं में तद्रूपता के कारण उसमें अनेकता दिखाई देती है।

भावैक्यं द्रव्यदृष्ट्यैव पर्यायात्तदनेकता ।

द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्बहुधा पर्यायोदयः ॥ ४ ॥

अन्वय—द्रव्यदृष्ट्या भावैक्यं पर्यायात् अनेकता द्रव्य क्षेत्र काल भावैः बहुधा पर्यायोदयः ॥ ४ ॥

अर्थ—द्रव्य नय की दृष्टी से भाव में एकता है पर पर्याय नय की दृष्टि से उसमें अनेकता है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव से एक ही सत्त्वरूप वस्तु में बहुत प्रकार के पर्यायों का उदय होता रहता है।

अर्हत्सु च यदार्हन्त्यं या च सिद्धेऽस्ति सिद्धता ।

तथा स्वाभावादानैक्यं तदैक्यं शाश्वतं स्वतः ॥ ५ ॥

अन्वय—च अर्हत्सु यत् आर्हन्त्यं सिद्धे या च सिद्धता अस्ति तथास्वभावात् अनैक्यं तद् शाश्वतः स्वतः ऐक्यं ॥ ५ ॥

अर्थ—और अर्हतों में जो आर्हन्त्य है और सिद्धों में जो सिद्धता है इस प्रकार के (भिन्न) स्वभाव से इनमें अनेकता दिखाई देती है परन्तु उनमें स्वतः जो (समानरूप) एकता है वह शाश्वत है।

यथा सिद्धे जिने नैक्यं शक्यं श्रीपरमेश्वरे ।

यदेकं तदनेकं स्यादिति व्याप्तिविनिश्चयात् ॥ ६ ॥

अन्वय—यथा सिद्धे जिने श्रीपरमेश्वरे ऐक्यं न शक्यं यत् एकं तद् अनेकं स्यात् इति व्याप्तिविनिश्चयात् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सिद्धों में तथा परम ऐश्वर्यवान् जिनों में अर्थात् निराकार या साकार में एकता सम्भव नहीं है तथा जो एक है वह अनेक होता है यह निश्चय व्याप्ति देखकर होता है।

आत्मत्वजातिमानात्मा सोऽवस्थाभेदतो द्विधा ।

क्षेत्रज्ञाः (ज्ञः) परमात्मा च न भिन्नं द्रव्यमीश्वरः ॥ ७ ॥

अन्वय—आत्मा आत्मत्वजातिमान् स अवस्थाभेदतः द्विधा ।
क्षेत्रज्ञाः परमात्मा च । ईश्वरः द्रव्यं भिन्नं न ॥ ७ ॥

अर्थ—आत्मत्व की जाति से आत्मा एक है किंतु अपने अवस्था भेद से दो प्रकार की है क्षेत्रज्ञ और परमात्मा । साकार और निराकार । परन्तु (रूपी हो या अरूपी) ईश्वर स्वरूपी द्रव्य भिन्न नहीं है ।

न्यायशास्त्रमिति प्राह लोके प्रामाणिकं हि तत् ।

जीवः शिवः शिवो जीव इति स्मार्तानुशासनात् ॥ ८ ॥

अन्वय—न्यायशास्त्रं इति प्राह तत् हि लोके प्रामाणिकं भवति
जीवः शिवः शिवः जीवः इति स्मार्तानुशासनात् ॥ ८ ॥

अर्थ—न्याय शास्त्र जो कहता है वह संसार में प्रमाणभूत माना जाता है अतः स्मृतियों के मतानुसार जीव ही शिव है और शिव ही जीव है । अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है ।

तर्कशक्ति के प्रयोग से प्रमाण को दिखाना वह न्याय शास्त्र का हेतु है । स्मृतियों में जीव और शिव अर्थात् आत्मा और परमात्मा का अभेद न्याय के वचनों से प्रमाणित किया गया है ।

चतुर्विंशतिसंख्यादिजिने सिद्धे प्रतीयते ।

सा विवक्षितकालेन वस्तुतस्तदनन्तता ॥ ९ ॥

अन्वय—सिद्धे जिने चतुर्विंशति संख्यादि प्रतीयते सा विवक्षिता
कालेन वस्तुतः तत् अनन्तता ॥ ९ ॥

अर्थ—सिद्ध और जिनों में जो चौबीस की संख्या दिखाई देती है वह विवक्षित काल की अपेक्षा से है वस्तुतः तो वे अनन्त हैं ।

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

२०५

एकोऽप्यकारस्तत्त्वेन चतुर्विंशतिभेदभाक् ।

तथा स्वरूपादेकस्मिन् जिने सिद्धेऽप्यनेकता ॥ १० ॥

अन्वय—एकः अपि अकार तत्त्वेन चतुर्विंशतिभेदभाक् भवति
तथा स्वरूपात् एकस्मिन् सिद्धे जिने अपि अनेकता ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार अकार एक ही है पर स्पर्शों* से मिलकर उसमें
२४ भेद हो जाते हैं जैसे क ख ग घ आदि में अ की मिलावट । वैसे ही
स्वरूप से एक होते हुए भी सिद्ध और जिनेश्वर में भी अनेकता आरोपित
की जाती है ।

अवताराः ह्यसंख्येया एकस्यापि हरेर्यथा ।

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या एवमर्हन्ननेकधा ॥ ११ ॥

अन्वय—यथा एकस्यापि हरेः ब्रह्मविष्णुमहेशाद्याः असंख्येयाः
अवताराः भवन्ति एवं अर्हन् अनेकधा (भवति) ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक ही हरि के ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि
असंख्य अवतार होते हैं वैसे ही एक ही अर्हत् में अनेकत्व होता है । अर्थात्
वास्तव में अर्हत भी असंख्य होते हैं ।

एकवर्षे यथा पक्षा-चतुर्विंशतिसंख्यया ।

राशिचक्रेऽथवा होरा तत्त्वानि मंत्रशासने ॥ १२ ॥

अन्वय—यथा एकवर्षे चतुर्विंशति संख्यया पक्षाः भवन्ति अथवा
राशिचक्रे होरा चतुर्विंशति तथा मंत्रशासने तत्त्वानि अपि चतुर्विंशति
भवन्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक वर्ष में २४ पक्ष और ज्योतिष शास्त्र में
२४ होराएं होती हैं वैसे मंत्र शास्त्र में भी २४ तत्त्व होते हैं । (मंत्र शास्त्र
में २४ विद्या देवियों की प्रतिष्ठा है) ।

*“ नार्चं विना व्यञ्जनस्य सम्यक् उच्चारणं भवति ”—पाणिनि ।

होरा का अर्थ है अहोरात्र अर्थात् दिनरात यानि २४ घंटे इस होरा शब्द को घंटे का पर्यायवाची भी माना जा सकता है। सम्भवतः अंग्रेजी का अवर शब्द इसी से बना है।

एकस्मिन्नपि षट्पूर्वी न्यासे मुक्तावशेषिता ।
यावन्ति च प्रयोगानि तथा तावन्ति रक्षणे ॥ १३ ॥

अन्वय—एकस्मिन् अपि षट्पूर्वी न्यासे मुक्तावशेषिता । यावन्ति च प्रयोगानि तथा तावन्ति रक्षणे ॥ १३ ॥

अर्थ—एक पक्ष में भी ६ पर्व होते हैं। न्यास और मुक्ति में समानता होती है अर्थात् जितना न्यास किया जाता है उतना ही विसर्जन किया जाता है। संसार में भी जितने मारण मोहन उच्चाटनादि प्रयोग किये जाते हैं उतने ही उसके रक्षण के भी उपाय कहे गए हैं।

प्रकृत्यवस्थानामाद्यैश्चतुर्विंशतिधा जिनः ।
एकोऽपि श्रूयते तावद्दण्डकः* भ्रमणच्छिदे ॥ १४ ॥

अन्वय—प्रकृत्यवस्थानामाद्यैः चतुर्विंशतिधा जिनः । भ्रमणच्छिदे एकः अपि तावत् दण्डकः श्रूयते ॥ १४ ॥

अर्थ—सशरीरी अवस्था में आदिनाथ से लगाकर २४ तीर्थकर हैं लेकिन भवभ्रमण का नाश करने के लिए एक तीर्थकर भी दण्डक रूप हैं अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार के चाक के भ्रमण को रोकने के लिए दण्डा तो एक ही होता है । *

चतुर्विंशतिनाडीभ्यो नस्यादूनं दिनं निशा ।
चतुर्विंशत्यक्षरात्मा गायं(य)त्री सूत्रिता परे ॥ १५ ॥

* २४ प्रकार के दण्डक है (दण्डक प्रकरण देखें) ।

अन्वय—चतुर्विंशतिनाडीभ्यो ऊनं दिनं निशा च न स्यात् । परे
चतुर्विंशत्यक्षरात्मा गायत्रीसूत्रिता ॥ १५ ॥

अर्थ—चौबीस घड़ियों से कम का दिन और रात नहीं होती है
और अन्य शास्त्रों में भी गायत्री मंत्र में २४ अक्षर गूँथे हुए हैं ।

मातृका सौभाग्यवती खटिकालेखनात्सिता ।

चतुर्विंशतिमेवाख्य-जिनानां स्वरूपतः ॥ १६ ॥

अन्वय—खटिका लेखनात् सिता मातृका सौभाग्यवती जिनानां
स्वरूपतः चतुर्विंशति एव आख्यत् ॥ १६ ॥

अर्थ—खडि या मिट्टी से लिखने के कारण श्वेत दिखने वाली वर्ण-
मातृका सौभाग्यवती होती है वह जिनेश्वर भगवन्तों के स्वरूप होने के
कारण २४ ही कही गई है ।

स्वयं राजन्त इत्युक्ता स्वराः स्वयम्भुवो जिनाः ।

स्वयं सम्बुद्धभावेन वर्णाम्नायेऽपि सूत्रिताः ॥ १७ ॥

अन्वय—स्वयं राजन्त इति स्वराः उक्ता वर्णाम्नाये अपि सूत्रिता
स्वयं सम्बुद्धभावेन जिनाः स्वयंभुवः ॥ १७ ॥

अर्थ—व्याकरण शास्त्र में कहा गया है कि (जिस प्रकार) स्वयं
प्रकाशित होने के कारण अकारादि को स्वर कहा जाता है जिनेश्वर भगवान्
भी स्वयंज्ञान से प्रकाशित होने के कारण स्वयंभू कहे जाते हैं ।

स्वरो को कण्ठ से बोला जाता है एवं इन्हें बोलने में जीभ को
कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता । विश्व के सभी गूंगे एवं नवजात शिशु
बिना किसी प्रयत्न के स्वरो का उच्चारण करते हैं ।

स्वर्णवर्णात् षोडशानां षोडशादौ स्वरा जिनाः ।

वर्गीयपंचमाः शेषं यवलाश्च जिनाष्टकम् ॥ १८ ॥

अन्वय—षोडशानां स्वर्णवर्णात् षोडशादौ स्वराः जिनाः शेषं
वर्गीयपंचमाः यवलाः च जिनाष्टकम् ॥ १८ ॥

अर्थ—वर्णमातृका के आदि के १६ स्वर्ण स्वर अ आ इ ई आदि
प्रारम्भ के जिनेश्वर हैं शेष प्रत्येक वर्ग के पांचवे अनुनासिक ङ ज ण न
म और य व ल मिलकर शेष आठ जिनेश्वरों का सूचन करते हैं ।

आनुनासिक्यधर्मेण स्वरूपममीष्वपि ।

वर्णभेदेऽर्हतामेषां तथोक्ति व्यञ्जनाश्रयाः ॥ १९ ॥

अन्वय—आनुनासिक्यधर्मेण अमीषु अपि स्वरूपम् । एषां अर्हतां
वर्णभेदे व्यञ्जनाश्रयाः तथा उक्तिः ॥ १९ ॥

अर्थ—ङ् ज् ण् न् म् में अनुनासिकता होने के कारण इनमें भी
स्वरूपता है । इन अर्हतों के नामों में वर्णभेद होने के कारण अलग
व्यञ्जनों का आश्रय लेना पड़ता है ।

प्रायोऽभिप्रायतस्त्वेव-मेकस्याप्यर्हतः स्मृतम् ।

चतुर्विंशतिसंख्यानं यथा द्वादशता रवेः ॥ २० ॥

अन्वय—एवं प्रायः अभिप्रायतः तु एकस्य अपि अर्हतः चतुर्विंशति
संख्यानं स्मृतं यथा रवेः द्वादशता ॥ २० ॥

अर्थ—इस प्रकार इन अभिप्रायों से प्रायः ज्ञात होता है कि एक ही
अर्हत् भगवान की २४ संख्या बता दी गई है । जिस प्रकार एक ही सूर्य
१२ प्रकार का माना जाता है एक ही अर्हत् भी २४ तीर्थङ्करों के रूप में
पूजे जाते हैं ।

स्वस्वशासनपद्धत्या वर्ण्यतां नेकधा प्रभुः ।

तादात्म्यानन्यरूपत्वादेकः श्रीपरमेश्वरः ॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अ. गी. - १४

२०९

अन्वय—स्वस्वशासनपद्धत्या प्रभुः अनेकधा वर्ण्यतां तादात्म्यात्
अनन्यरूपत्वात् श्रीपरमेश्वरः एकः ॥ २१ ॥

अर्थ—इस प्रकार अपने अपने धर्म की पद्धति के अनुसार एक ही परमेश्वर को अनेक प्रकार से वर्णित करो परन्तु सभी रूपों में तादात्म्य होने के कारण तथा एक रूप दूसरे रूप से भिन्न नहीं होने के कारण श्री परमेश्वर तो वस्तुतः एक ही है ।



॥ इति श्री अर्हद्गीतायां द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

ध्यानादि की आवश्यकता

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि जब आत्मा व परमात्मा में ऐक्य है तो फिर ध्यान, दान, तपादि क्रियाएँ क्यों की जाती हैं ?

श्री भगवान ने उत्तर दिया आत्मा एवं परमात्मा डांगर व चावल के न्याय से एक ही हैं जैसे डांगर (छिलके सहित चावल) का अंकुरण सम्भव है परन्तु चावल का अंकुरण सम्भव नहीं है वैसे ही आत्मा कर्मावरण से युक्त होने के कारण भव भ्रमण करती है परन्तु परमात्मा मुक्त हैं। कर्म बद्ध आत्मा जीव व कर्म मुक्त आत्मा शिव कहलाती है। जिस प्रकार धातु से धातु की शुद्धि एवं गंगाजल से सामान्य जल की शुद्धि होती है वैसे ही परमात्मा के ध्यान से यह राग द्वेषयुक्त आत्मा शुद्ध की जाती है। परमात्मा के जाप से तद्रूपता की प्राप्ति होती है अतः संसार में ध्यान जपादि के साधन से परमेश्वर से अनुसंधान होता है और साधक निश्चय ही ध्येयाकार होकर सिद्धि को प्राप्त करता है।]

* * *

त्रयोविंशोऽध्यायः

२११

त्रयोविंशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐक्यं यदात्मने स्वामिन्नथैवं परमेशितुः ।

ध्यानं दानं तपः स्थानं किमर्थं क्रियते तदा ॥ १ ॥

अन्वय—स्वामिन् ! अथ परमेशितुः आत्मनि यदा एवं ऐक्यं स्यात् तदा ध्यानं, दानं, तपः स्थानं किमर्थं क्रियते ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा कि हे स्वामी । यदि परमात्मा का आत्मा में जब इस प्रकार ऐक्य है तो फिर ये ध्यान दान था तपादि क्यों किए जाते हैं ?

आत्मायं मुक्त एवास्ति निश्चयात्केवलात्मकः ।

स्वरूपावस्थितः शुद्धः सिद्धः शिवे भवेऽप्यहो ॥ २ ॥

अन्वय—अहो अयं आत्मा निश्चयात् केवलात्मकः मुक्तः एव अस्ति स्वरूपावस्थितः शुद्धः शिवे भवे अपि सिद्धः ॥ २ ॥

अर्थ—वस्तुतः यह केवलात्मक आत्मा निश्चय नय से मुक्त ही है अपने स्वरूप में स्थित होने के कारण यह शुद्ध है एवं मोक्ष तथा संसार में भी यही सिद्ध स्वरूप है ।

श्री भगवानुवाच

व्यक्ताव्यक्तया द्वेधा परापरतयाऽथवा ।

व्रीहितन्दुलगत्त्यैको-प्याम्नातः परमः प्रभुः ॥ ३ ॥

अन्वय—(अयं आत्मा) व्यक्ताव्यक्तया द्वेधा अथवा परापरतया द्वेधा व्रीहि तन्दुल गत्या परमः प्रभुः अपि एकः आम्नातः ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा, हे गौतम यह आत्मा व्यक्त और अव्यक्त अथवा पर और अपर रूप से दो प्रकार की है । परम प्रभु को चावल

और डांगर (धान) की गति से एक ही बताया गया है अर्थात् डांगर (छिलके समेत चावल) और चावल (छिलके रहित धान) दोनों एक ही हैं।

भवेत्पुनर्भवायैव मनुष्यस्तन्दुलो यथा ।

उत्पत्यै फलपत्रादे-निस्तुषस्त्वपुनर्भवः ॥ ४ ॥

अन्वय—यथा तन्दुलः तथा एव मनुष्यः (अपि) पुनर्भवाय एव भवेत्। फलपत्रादेः उत्पत्यै (सतुषः) अपुनर्भवः तु निस्तुषः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार तुषयुक्त चावल अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलान्वित होता ही है तथा तुषरहित धान का अंकुरण नहीं होता वैसे ही मनुष्य की भी गति सतुष धान की तरह होती है। भव बीजात्मक होनेसे यह आत्मा जन्म जरा मरण के चक्कर में फंसा रहता है और मोक्षपद तुषरहित धान जैसा है क्योंकि वहाँ भवबीज नहीं होने से जन्म मरण नष्ट हो जाते हैं।

एवं यावद्यं कर्म विदघत्कर्मरेणुना ।

लिप्यते क्षिप्यते तावद्भवजालेङ्गभृद्भृशम् ॥ ५ ॥

अन्वय—एवं यावद् अयं (आत्मा) कर्मरेणुना कर्म विदघत् तदा स लिप्यते क्षिप्यते तावद् भवजाले अङ्गभृशं भृद् (भवति) ॥ ५ ॥

अर्थ—इस प्रकार जब तक यह आत्मा कर्मद्वारा कर्मरेणु को धारण करती रहती है तब तक कर्म से लिप्त तथा उसमें डूबी रहती है। जब तक ऐसा होता है तब तक इस आत्मा को भवजाल में पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है।

निश्चयात्केवलोऽप्यात्मा मलवान् व्यवहारतः ।

समलं निर्मलं वांभशातकुम्भमिव द्विधा ॥ ६ ॥

अन्वय—अयं आत्मा निश्चयात् केवलः व्यवहारतः मलवान् शान्तकुम्भं इव समलं निर्मलं वा अंभः द्विधा ॥ ६ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

२१३

अर्थ—यह आत्मा निश्चय नय से तो शुद्ध स्वरूपात्मक है परन्तु व्यवहार नय से यह काम, क्रोध, रागद्वेषादि से कलुषित है। जैसे सोने के कलश में जल समल अथवा निर्मल होने से वह कुम्भ भी दो प्रकार का होता है। अर्थात् जलके भेद से एक ही कुम्भ के भी दो भेद हो जाते हैं।

कर्मबद्धो भवेज्जीवः कर्ममुक्तो भवेच्छिवः ।

इतिस्मार्तगिरा बोध्यं द्वैविध्यं परमात्मनि ॥ ७ ॥

अन्वय—कर्मबद्धः जीवः भवेत् कर्ममुक्तः शिवः भवेत् इति स्मार्त-गिरा परमात्मनि द्वैविध्यं बोध्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—कर्मबद्ध आत्मा जीव है और कर्ममुक्त आत्मा शिव है इस प्रकार के शास्त्र वचन से परमात्मा में द्वैविध्य का ज्ञान होता है

ध्येयः पूज्योऽथवा सेव्यः सोऽप्यात्मा परमेश्वरः ।

ध्याताप्यैवं तथाप्युच्चैः काचमण्योरिवान्तरम् ॥ ८ ॥

अन्वय—सः अपि आत्मा परमेश्वरः ध्येयः पूज्यः अथवा सेव्यः (अस्ति) एवं ध्याता अपि (अस्ति) तथापि काचमण्योः इव उच्चैः अन्तरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—वही आत्मा परमेश्वर है, ध्येय है, पूज्य है अथवा सेव्य है और ध्याता भी यही है फिर भी इनमें (ध्याता और ध्येय में) कांच और मणि की तरह स्पष्ट रूप से अन्तर है।

मायान्वितः परब्रह्म केवलब्रह्मसेवया ।

नैर्मल्यमश्नुते योगस्तेन सर्वत्र संमतः ॥ ९ ॥

अन्वय—मायान्वितः परब्रह्मः केवलब्रह्मसेवया नैर्मल्यं अश्नुते तेन योगः सर्वत्र सम्मतः ॥ ९ ॥

अर्थ—माया से युक्त परब्रह्म (ध्यान योग) केवल शुद्ध ब्रह्मकी सेवा से निर्मलता को प्राप्त करता है इसीलिए ध्यानयोग का सर्वत्र सम्मान है।

धातुना धातुशुद्धिः स्यात् जलशुद्धिर्जलोत्तमात् ।

वायुना वायुशुद्धत्वमात्मशुद्धिस्तथात्मना ॥ १० ॥

अन्वय—(यथा) धातुना धातुशुद्धिः (स्यात्) जलोत्तमात् जलशुद्धिः वायुना वा वायुशुद्धत्वं तथा आत्मना आत्मशुद्धिः स्यात् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार धातु से धातु की शुद्धि होती है । और गंगा-जलादि उत्तम जल से सामान्य जल को शुद्ध किया जाता है । धूपदि युक्त सुगंधित वायु से वायु की शुद्धि होती है वैसे ही शुद्ध आत्मा के ध्यान द्वारा साधक आत्मा की शुद्धि होती है ।

पूर्वयोगीश्वरध्याना-नैर्मल्यं परयोगिनि ।

योऽयं ध्यायति यद्रूपं तद्रूपं लभते स वै ॥ ११ ॥

अन्वय—पूर्वयोगीश्वर ध्यानात् परयोगिनि नैर्मल्यं यः अयं यद् रूपं ध्यायति स वै तद् रूपं लभते ॥ ११ ॥

अर्थ—पूर्व में हुए योगीश्वरों के ध्यान से पश्चात् में होने वाले योगियों में निर्मलता का अनुसंधान होता है । क्योंकि जो जिस प्रकार के रूप का ध्यान करता है वह निश्चय रूप से उसी प्रकार के स्वरूप को प्राप्त करता है ।

संसर्गयोगात्ताद्रूप्ये शुक्रद्वयनिदर्शनम् ।

हस्ती सेचनको यदा युक्तिर्निम्बाम्रयोरपि ॥ १२ ॥

अन्वय—संसर्गयोगात् ताद्रूप्ये शुक्रद्वयनिदर्शनम् हस्ती सेचनको यदा निम्बाम्रयोः अपि युक्तिः ॥ १२ ॥

अर्थ—(अनुसंधान या) संसर्ग के योग से तद्रूपता या (समान गुण) की प्राप्ति होती है जिस प्रकार भीलों की बस्ती का तोता अशुद्ध भाषी एवं आश्रम का तोता शुद्ध भाषी होता है ।

संसर्ग के कारण जैसे भीलों के घर रहा हुआ तोता अपशब्दभाषी तथा आश्रम का तोता मधुरभाषी होता है । इसी प्रकार हस्ती सेचनक एवं नीम एवं आम के उदाहरण संसर्ग योग के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं ।

त्रयोविंशोऽध्यायः

२१५

एव श्रीभगवानर्हन् सिद्धः सर्वगतः शिवः ।

तेनोक्तः समयो वेदः पौरुषेयः प्रगीयते ॥ १३ ॥

अन्वय—एवं अर्हन् भगवान्, सर्वगतः शिवः सिद्धः तेन उक्तः
समयः वेदः पौरुषेयः प्रगीयते ॥ १३ ॥

अर्थ—(तद्रूप होनेसे) इस प्रकार श्री अर्हन् भगवान् सर्वज्ञ या सर्वव्यापी, शिव तथा सिद्ध कहे गये हैं; उनके सिद्धान्त एवं वचन मानव मात्र के कल्याण के लिए होते हैं ।

तस्यैव भजनाल्लोकः स्वयं तद्गुणभाजनम् ।

पुष्पवासनया तैलं नैव किं तन्मयीभवेत् ॥ १४ ॥

अन्वय—तस्यैव भजनात् लोकः स्वयं तद्गुणभाजनं (भवति)
किं पुष्पवासनया तैलं तन्मयी नैव भवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—उसी आगम अथवा अरिहन्त भगवान् के भजन से संसार स्वयं उनके गुणों का पात्र बन जाता है । क्या फूलों की सुगन्ध से तैल सुगन्धित नहीं होता है ? अर्थात् होता है ।

जपनामापि तस्येह तन्मुक्तौ स्थापयन्मनः ।

तन्मयी स्याद् ध्यानबलात् पानीयममृतं न किम् ॥ १५ ॥

अन्वय—इह तस्य जपनाम अपि मनः तन्मुक्तौ (स्थापयत्)
ध्यानबलात् तन्मयी स्याद् किं पानीयं अमृतं न ॥ १५ ॥

अर्थ—उन परमात्मा के नाम मात्र के जप से एवं मन से मात्र मुक्ति की अभिलाषा करते हुए उनके ध्यान के बल से मनुष्य परमात्म—मय हो जाता है । क्या ध्यान बल से प्रभावित करने पर पानी अमृत नहीं होता है ? अर्थात् होता है ?

यदाकारं हृदि ध्यायेन्नरस्तद्रूपमाप्नुयात् ।

सविषो निर्विषः किं नो धवलध्यानधारया ॥ १६ ॥

अन्वय—नरः हृदि यत् आकारं ध्यायेत् तद्रूपं प्राप्नुधात् । धवल
ध्यानधारया सविषः निर्विषः किं न ॥ १६ ॥

अर्थ—मनुष्य अपने हृदय में जिस आकार का ध्यान करता है वह
उसी रूप को प्राप्त करता है तो क्या शुक्ल ध्यान की धारा से विषयुक्त
चित्त को निर्विष नहीं बनाया जा सकता है ? अर्थात् शुक्ल ध्यान के
चिन्तन से आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है ।

देवस्य स्मरणान्मंत्राधिष्ठातांगेऽस्य तन्मये ।

दृश्योवतणा(रणा)त् साक्षाद्वाक् प्रतीतिः किमन्यथा ॥ १७ ॥

अन्वय—देवस्य स्मरणात् अस्य तन्मये अंगे मंत्राधिष्ठाता साक्षात्
अवतरणात् दृश्यः (भवति) वाक् प्रतीतिः किं अन्यथा (भवति) ॥ १७

अर्थ—जिस प्रकार देवता के स्मरण से मनुष्य के शरीर में उस मंत्र
का अधिष्ठाता देव साक्षात् अवतरित होता हुआ दिखाई देता है । इस
प्रकार की प्रतीति क्या कभी अन्यथा हो सकती है ? अर्थात् इन घटनाओंमें
संदेह का अवकाश नहीं है ।

पिण्डस्थाच्च पदस्थं तद्ध्यानं श्रेष्ठमतः पुनः ।

रूपस्थं पुरुषाकारं रूपातीतं ततोऽपि च ॥ १८ ॥

अन्वय—पिण्डस्थात् च पदस्थं तद्ध्यानं अतः श्रेष्ठं पुनः पुरुषा-
कारं रूपस्थं ततः अपि च रूपातीतं भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—पिण्डस्य ध्यान से उन परमात्मा का पदस्थ ध्यान उत्तम है
रूपस्थ ध्यान तो पुरुषाकृति है उससे भी श्रेष्ठ रूपातीत ध्यान है ।

लोकाकृतेर्भावनया संवरे लोकबंधनम् ।

संस्थानविचयं धर्म-ध्यानमस्मादिहागमे ॥ १९ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

२१७

अन्वय—लोकाकृतेः भावनया संवरे (अपि) लोकबन्धनं ।
अस्मात् संस्थान विचयं धर्मध्यानं इह आगमे उक्तम् ॥ १९ ॥

अर्थ—लोक के पुरुषाकृति रूपस्थ ध्यान से जो ध्यान किया जाता है वह संवर रूप होते हुए भी लोक बन्धनकारी है । इसीलिए आगम में इसे संस्थानविचय नामक धर्म ध्यान कहा गया है । अर्थात् लोक के रूपस्थ ध्यान से उपर ऊठकर रूपातीत ध्यानमें साधक का प्रवेश न हो तब तक बंधन का नाश नहीं होता है ।

नामाकृतिद्रव्यभावै-रेवं श्रीपरमेश्वरम् ।

रागद्वेषपरित्यक्तं शिवं शान्त्यात्मकं भजेत् ॥ २० ॥

अन्वय—एवं नामाकृतिद्रव्यभावैः रागद्वेषपरित्यक्तं शिवं
श्री परमेश्वरं भजेत् ॥ २० ॥

अर्थ—इस प्रकार नाम आकृति द्रव्य और भाव से रागद्वेष से रहित वीतराग शान्तमूर्ति शिवरूप श्री परमेश्वर का भजन करना चाहिए ।

सोऽपि क्रमेण तादात्म्यं माहात्म्यादस्य संस्पृशेत् ।

भक्तिरेव माहाभक्तिः व्यक्ता भगवती विभोः ॥ २१ ॥

अन्वय—सः अपि क्रमेण अस्य माहात्म्यात् तादात्म्यं संस्पृशेत्
विभोः भगवती भक्तिः एव माहाभक्तिः (इति) व्यक्ता ।

अर्थ—और भजन करने वाली यह आत्मा भी क्रमशः परमात्मा के माहात्म्य के कारण परमात्म रूप को प्राप्त करती है । परमात्मा की यह भगवती भक्ति ही माहाभक्ति के रूप में प्रसिद्ध है ।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

गुरु परमात्मा स्वरूप हैं

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि जब परमात्मा सिद्ध शिव अथवा अर्हत् है तो लोक एवं अलोक में स्थित यह पारमैश्वर्य क्या है ?

श्री वीतराग ने कहा कि जिस प्रकार सूर्य बिम्ब को भी सूर्य ही कहा जाता है डांगर और चंदन अग्नि में डालने पर अग्नि ही कहे जाते हैं। घर के एक भाग में चित्रण हो तो पूरा घर चित्रित माना जाता है एवं गाँव के सीमान्त को भी गाँव ही कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म के आधार मात्र से यह लोक भी ब्रह्म रूप में प्रतिष्ठित है। इसी नय से अर्हत् परमेष्ठि को ज्ञानवान गुरु रूप में कहा गया है उनका विनय धर्म का मूल है। गुरु की कृपा द्रष्टि आत्मा में शुभ भाव की अभिवृद्धि करती है। गुरु संसार में नेत्र है, दीप है तथा सूर्य चन्द्रवत् है। वे देवता हैं एवं सद्गति के मार्ग प्रकाशक हैं। गुरु में गौरव है क्योंकि वे न्यून को पूर्ण करते हैं अतः गुरु में एकाग्र भावना प्रथम मंगल है। इन्हीं गुरु के मिलने से शब्द ब्रह्म तथा अक्षर ब्रह्म दोनों की प्राप्ति होती है अतः गुरु संसार में प्रत्यक्ष परमेश्वर है। अर्थात् आधार आधेय न्याय से पारमैश्वर्य गुरु में प्रतिष्ठित होकर प्रत्यक्ष होता है।]

* * *

चतुर्विंशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐश्वर्यवान् शिवः सिद्धो-ऽर्हन्नथ परमेश्वरः ।

तदा किं पारमेश्वर्यं लोकालोकव्यवस्थितम् ॥ १ ॥

अन्वय—अथ सिद्धः शिवः अर्हन् परमेश्वरः ऐश्वर्यवान् तदा लोकालोकव्यवस्थितं परमैश्वर्यं किं ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने पूछा कि जब परमात्मा सिद्ध है, शिव है, अर्हन् है एवं ऐश्वर्य सम्पन्न है तो लोक और अलोक में स्थित यह पारमैश्वर्य क्या है ?

श्री भगवानुवाच

आधेयनामधारेऽपि सूरबिम्बेऽपि सूरवत् ।

धनवन्नगरं नाम सबलस्तन्निवासतः ॥ २ ॥

अन्वय—सूरबिम्बे अपि सूरवत् आधेयनामधारे अपि धनवत् नाम नगरं तन्निवासतः सबलः ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान् ने उत्तर दिया— आधेय मात्र को धारण करने वाले सूर्यबिम्ब को भी सूर्य कहा जाता है । उसी प्रकार धनवानों से युक्त नगर को धनवान नगर तथा बलवानों के निवास से उस नगर को बलवानों का नगर कहा जाता है ।

विवेचन—जैसे मिट्टी के घड़े में घी होने से उसे घी का घड़ा कहते हैं और जैसे सूर्य बिम्बको सूर्य कहा जाता है वैसे आधेय से भिन्न होते हुए भी आधार पदार्थ को आधेय स्वरूप माना जाता है ।

उज्ज्वलः कम्बलस्तिका शुष्ठी सुरभि चन्दनम् ।
गृहीतेऽग्निमयेंगारे वाच्यः किं नाग्निसंग्रहः ॥ ३ ॥

अन्वय—उज्ज्वलः कम्बलः तिका शुष्ठी. सुरभि चन्दनं गृहीते
अग्निमये अंगारे किं अग्निसंग्रह न वाच्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—(जैसे) कम्बल उज्ज्वल होता है। सूँठ तीखी होती है तथा
चन्दन सुगन्धित होता है परन्तु अग्नि में डालने पर क्या उन्हें अग्नि नहीं
कहा जायगा अर्थात् वे भी अग्निमय हो जायेंगे।

चित्रिते गृहदेशेऽपि गृहं चित्रितमुच्यते ।
चन्द्रेकदेशे दृष्टेऽपि दृष्टश्चन्द्रो नवोदितः ॥ ४ ॥

अन्वय—गृहदेशे अपि चित्रिते गृहं चित्रितं उच्यते एकदेशे चन्द्रे-
दृष्टे अपि नवोदितः चन्द्रः दृष्टः भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार घर के एक भाग में चित्रण करने पर भी समग्र
घर चित्रित माना जाता है वैसे ही चन्द्र के एक देश अर्थात् बालचन्द्र के
कहीं भी एक स्थल से दिखने पर सभी यही मानते हैं कि उन्होंने चन्द्रमा
देखा है क्या ऐसी जनोक्ति नहीं होती ?

समुद्रो भूः समुद्रस्य ग्रामभूः ग्राम इत्यपि ।
यद्वा कणोऽपि लवणं राशिलवणमेव हि ॥ ५ ॥

अन्वय—समुद्रस्य भूः समुद्रः ग्रामभूः अपि ग्रामः इति। यद्
लवणं कणः वा राशिः तद् लवणं एव हि ॥ ५ ॥

अर्थ—समुद्र की भूमि भी समुद्र कहलाती है एवं गांव का सीमान्त
भी गांव कहलाता है अथवा नमक का कण हो या नमक का ढेला हो
दोनों ही नमक ही कहलाते हैं।

इत्यसौ केवलब्रह्माधारात् सद्भिः प्रगीयते ।
लोकालोकोऽपि तद्रूप—स्तद्योगे तत्त्वनिश्चयात् ॥ ६ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायाः

२२१

अन्वय—इति केवल ब्रह्माराधात् तद्योगे तत्त्वनिश्चयात् असौ
लोकालोकः अपि प्रगीयते ॥ ६ ॥

अर्थ—इस प्रकार ब्रह्म के आधार मात्र से यह (आधेय) लोकालोक
भी ब्रह्म रूप में गाया जाता है क्योंकि ब्रह्म का योग होने पर लोकालोक भी
ब्रह्म स्वरूप हो जाते हैं ।

अस्मादेव नयादर्हत्कथितः ज्ञानवान् गुरुः ।

अर्हन् वा भगवान् भट्टारकश्च व्यपदिश्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—अस्मात् नयात् एव अर्हत् ज्ञानवान् गुरुः कथितः च
अर्हन् भगवान्, भट्टारकः वा व्यपदिश्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—इसी नय से ज्ञानवान् गुरु अर्हत्, भगवान् अथवा भट्टारक
भी कहे जाते हैं । गुरु आधेय है और अर्हत् इत्यादि आधारके योगसे
गुरुको अर्हत् इत्यादि माना जाता है ।

परंपरागमस्तेन प्रमाणं साम्प्रतं मतः ।

संयतर्षेगुरुगौत्र पृच्छा स्पष्टास्तदागमे ॥ ८ ॥

अन्वय—आगमे परम्परागमः तेन साम्प्रतं प्रमाणं मतः । तद्
संयतर्षेः गुरुगौत्रपृच्छा स्पष्टाः ॥ ८ ॥

अर्थ—(गुरुका प्रमाण स्थापित करके कहते हैं) इसीलिए (गुरु)
परम्परा से प्राप्त आगम को वर्तमान में भी प्रमाणभूत माना जाता है ।
आगम में संयत ऋषि की गुरु गौत्र पृच्छा का स्पष्ट उल्लेख है ।

स्वयं गृहीतलिङ्गत्वं निन्द्यतेऽङ्गेऽपि पंचमे ।

धर्मस्य विनयो मूलं तन्मूलं गुरुरेव सः ॥ ९ ॥

अन्वय—स्वयं गृहीतलिङ्गत्वं पंचमे अङ्गेऽपि निन्द्यते । धर्मस्य
मूलं विनयः तन्मूलं सः गुरुः एव ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि कोई गुरु परम्परा से दीक्षा नहीं लेकर स्वयं अपने आप दीक्षा ले लेता है तो उसकी निन्दा भगवती नाम के पांचवे अंग में की गई है। क्योंकि धर्म का मूल विनय है और विनय का मूल वह गुरु है।

अभ्यस्तोऽपि महामन्त्रः स्फुरेन्नैव गुरुं विना ।

विनये श्रेणिको भिल्ल-स्तापसो वा निदर्शनम् ॥ १० ॥

अन्वय—अभ्यस्तः अपि महामंत्रं गुरुं विना न स्फुरेत् विनये श्रेणिकः भिल्लः तापसः वा निदर्शनम् ॥ १० ॥

अर्थ—अच्छी तरह साधित महामंत्र भी गुरु के विना नहीं फलता है। गुरु के विनय के लिए श्रेणिक राजा अथवा भिल्ल तापस का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

कलाः प्रकाशयन् पूर्व नमेत् किं न कलागुरुम् ।

शास्त्रैः प्रदेशीत्यादेशि केशिनानवकेशिना ॥ ११ ॥

अन्वय—पूर्व कलाः प्रकाशयन् कलागुरुं किं न नमेत् । नव-केशिना केशिना शास्त्रैः प्रदेशी इति आदेशि ॥ ११ ॥

अर्थ—सर्व प्रथम कला का प्रकाशन करने वाले कला गुरु को क्यों नहीं नमस्कार किया जाय ? केशी गणधर का शास्त्रों से प्रदेशी राजा ने तथा नवकेशी का आदेशी राजा ने नमस्कार किया।

त्रिः प्रदक्षिणयन्त्येव किं न केवलिनो जिनम् ।

तीर्थं नमति देवोऽपि देशनासमये स्वयं ॥ १२ ॥

अन्वय—केवलिनः जिनं किं न त्रिःप्रदक्षिणयन्ति एव देशना समये स्वयं देवः अपि तीर्थं नमति ॥ १२ ॥

अर्थ—केवलज्ञानी भी क्या जिनेश्वर भगवान की तीन प्रदक्षिणा नहीं करते हैं ? अर्थात् करते हैं। देशना के समय स्वयं भगवान भी तीर्थ को नमस्कार करते हैं। अर्थात् केवली और तीर्थकरों के व्यवहार में विनय दिखाई देता है।

चतुर्विंशोऽध्यायः

२२३

यश्चाचार्यमुपाध्यायं श्रुताचारविनायकम् ।

निन्देत् स पापश्रमणो जमालिकूलवालवत् ॥ १३ ॥

अन्वय—यः श्रुताचारविनायकं आचार्यं उपाध्यायं च वा निन्देत् सः जमालिकूलवालवत् पापश्रमणः भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—जो श्रुत धर्म के प्रस्तोता उपाध्याय तथा आचार में मुख्य आचार्यों की निन्दा करता है वह जमालि और कूलवाल की तरह पापात्मा साधु होता है ।

गुरो दृष्टिः शुभं भावं समुन्नयति निश्चयात् ।

तेनैव गणधर्मोऽयं भवेदापंचमारकम् ॥ १४ ॥

अन्वय—निश्चयात् गुरोः दृष्टिः शुभं भावं समुन्नयति तेन एव अयं गणधर्मः । आपंचमारकम् भवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—निश्चय रूप से गुरु की कृपा दृष्टि आत्मा में शुभ भाव की अभिवृद्धि करती है, इसीलिए यह धर्मसंघ पंचम आरे तक विद्यमान रहेगा ।

गुरुनेत्रं गृरुर्दीपः सूर्याचन्द्रमसौ गुरुः ।

गुरुर्देवो गुरुः पन्था दिग्गुरुः सद्गतिर्गुरुः ॥ १५ ॥

अन्वय—गुरुः नेत्रं गुरुः दीपः सूर्याचन्द्रमसौ गुरुः, गुरुः देवः, गुरुः पन्थाः, दिक् गुरुः च सद्गति (अपि) गुरुः ॥ १५ ॥

अर्थ—संसार में गुरु ही नेत्र है, दीप है, गुरु ही सूर्य चन्द्र है, गुरु ही देवता है, गुरु ही सन्मार्ग है, गुरु ही दिग्मण्डल है तथा गुरु ही सद्गति स्वरूप है ।

नैकाशनस्य भंगः स्यादुत्थानं कुर्वता नरा ।

गुरोर्विनयसिद्धयर्थं सिद्धयर्थी तद्गुरुं भजेत् ॥ १६ ॥

अन्वय—गुरोः विनयसिद्धयर्थं उत्थानं कुर्वता नरा एकाशनस्य भंग न स्यात् । तत् सिद्धयर्थी गुरुं भजेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—गुरु के प्रति विनय बताने के लिए आसनसे उठने वाले पुरुष के एकाशन व्रत का भंग नहीं होता है इसलिए सिद्धि चाहने वाले व्यक्ति को गुरु की सेवा करनी चाहिए।

सूर्याचन्द्रमसोरुच्चं पदं शास्त्रे गुरोः स्मृतम् ।

गुरोः पूर्णानुभावेन सिद्धियोगो हि निश्चितः ॥ १७ ॥

अन्वय—शास्त्रे गुरोः पदं सूर्याचन्द्रमसोः उच्चं स्मृतम् । गुरोः पूर्णानुभावेन सिद्धियोगः हि निश्चितः ॥ १७ ॥

अर्थ—शास्त्र में गुरु के पद को सूर्य और चन्द्रमा से भी उच्चतम बताया गया है। गुरु की पूर्ण कृपा से निश्चित रूप से सिद्धियोग प्राप्त होता है। ज्योतिष में गुरुवार को दिन पूर्णा (पंचमी दसमी पूर्णिमा) तिथि होने पर (निश्चय) सिद्धियोग माना जाता है।

ऊनं कुर्याद्गुरुः पूर्णं गुरोर्गौरवमश्नुते ।

गुरोः स्थानेऽपि मांगल्ये मंगलस्य सुहृद्गुरुः ॥ १८ ॥

अन्वय—गुरुः ऊनं पूर्णं कुर्यात् (यः) गुरोः गौरवं अश्नुते गुरोः मांगल्ये स्थाने अपि गुरु मंगलस्य सुहृत् ॥ १८ ॥

अर्थ—गुरु न्यून शिष्य को पूर्ण करते हैं यही गुरु का गौरव है। गुरु मांगलिक स्थान पर ही है। ज्योतिष शास्त्रानुसार भी ग्रहोंमें गुरु की मंगल से मित्रता है।

गुरोरेकाग्र्यमातन्वन् गणेषु प्रथमः श्रिये ।

गुरोरतिक्रमे दुःखं वक्रतायां च जन्मिनां ॥ १९ ॥

अन्वय—गुरोः गणेषु (गुणेषु) एकाग्र्यं आतन्वन् नरः श्रिये प्रथमः (भवति) गुरोः अतिक्रमे वक्रतायां च जन्मिनां दुःखम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो गुरुओं में एकाग्र भावना करता है वह सब समूह में प्रथम मंगल का पात्र बनता है अर्थात् समृद्धि का सर्वप्रथम पात्र बनता है।

चतुर्विंशोऽध्यायः

अ. गी. - १५

२२५

गुरु के आदेश का अतिक्रमण करने पर तथा उनके प्रति वक्रता और कुटिलता के भाव रखने पर प्राणियों को दुःख ही पहुँचता है।

गुरुः पोतो दुस्तरेऽब्धौ तारकः स्याद्गुणान्वितः ।

साक्षात्पारगतः श्वेतपटरीतिं समुन्नयन् ॥ २० ॥

अन्वय—साक्षात् पारगतः श्वेतपटरीतिं समुन्नयन् गुणान्वितः

गुरुः दुस्तरे अब्धौ पोटः तारकः च स्यात् ॥ २० ॥

अर्थ—साक्षात् पारगामी व श्वेताम्बर धर्म की उन्नति करने वाले गुणों से युक्त गुरु दुस्तर संसार सागर में पोट रूप एवं तारक रूप होते हैं।

स्यादक्षरपदप्राप्तिद्वोधपि गुरुयोगतः ।

गुरुरूपेण भूभागे प्रत्यक्षः परमेश्वरः ॥ २१ ॥

अन्वय—गुरुयोगतः द्वेधा अपि अक्षरपदप्राप्ति स्यात् भूभागे

गुरुरूपेण प्रत्यक्ष परमेश्वरः ॥ २१ ॥

अर्थ—गुरु के मिलने से शब्द ब्रह्म तथा परब्रह्म दोनों प्रकार के ब्रह्म की सहज ही प्राप्ति होती है। इस संसार में गुरु प्रत्यक्ष रूप में परमेश्वर है।



॥ इति श्री अर्हद्गीतायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

परमेष्ठिस्वरूप ॐकार संकीर्तन

[श्री गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा है कि कैवल्य सिद्धि के लिए सर्व प्रथम कौनसा कर्म करना चाहिए ।

श्री भगवान ने उत्तर दिया कि गुरु सेवा प्रथम कर्तव्य है क्योंकि उनके वचनों में आत्म जागरण की शक्ति होती है। शास्त्रादि व्यवहार के लिए जिस प्रकार सर्व प्रथम नाम की आवश्यकता रहती है वैसे ही आत्मार्थी को देव गुरु एवं धर्म के नाम का श्रवण करना चाहिए। पूर्वे ज्ञानियों ने भी धर्माचरण में सर्व प्रथम नाम का ही निक्षेप किया है क्योंकि नाम अथवा स्थापना द्वारा व्यक्ति हृदय में तादात्म्य का चिन्तन करता है एवं तद्रूप को प्राप्त कर लेता है। नाम संकीर्तन में संक्षेप में 'ॐकार' का ध्यान करना चाहिए क्योंकि इसके 'अ' में अर्हन् एवं सिद्ध, 'आ' में आचार्य, 'उ' में उपाध्याय तथा 'म' में मुनि रूप पंच परमेष्ठि का स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार नाना विवेचनों से 'ॐ' में पंच परमेष्ठि का स्वरूप प्रतिष्ठित किया गया है। 'ॐ' में अधोलोक, उर्ध्वलोक तथा मर्त्यलोक समाये हुए हैं एवं 'ॐ' में ही भक्ति उपलब्धि तथा पंच महाव्रत समाये हुए हैं। इसी 'ॐ' के 'अ' में विष्णु, 'उ' में ब्रह्मा व 'म' में शिव समाये हुए हैं अतः ब्रह्म की प्राप्ति हेतु 'ॐकार' का ध्यान करना चाहिए। बिन्दु समेत 'ॐकार' में मुक्तावस्था-रूप सिद्धावस्था निहित है और यह साक्षात् परमेश्वर है।]

* * *

पञ्चविंशोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रस्वरूपं कैवल्ये संस्कारात् कर्मण्यात्मनाम् ।

कैवल्यसिद्धये तस्मात् किं कर्म प्रथमं मतम् ॥ १ ॥

अन्वय—कैवल्ये कर्मणि आत्मनां संस्कारात् ऐन्द्रस्वरूपं (अस्ति) तस्मात् कैवल्यसिद्धये प्रथमं कर्म किं मतम् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम ने प्रभू से पूछा कि हे भगवान् कैवल्य प्राप्ति में आत्मा के संस्कार से आत्मस्वरूप सिद्ध होता है तो फिर कैवल्य सिद्धि के लिए सर्व प्रथम कौन सा कर्म करना चाहिए ।

श्री भगवानुवाच

रुचिं नवनवैर्वाक्यैः शास्त्रैर्वा जनयेद्गुरुः ।

ततो भव्यस्य शुश्रूषाश्रवणाद्या धियो गुणाः ॥ २ ॥

अन्वय—गुरुः नव नवैः वाक्यैः वा शास्त्रैः भव्यस्य रुचिं जनयेत् ततः शुश्रूषा श्रवणाद्याः गुणाः धियः (भवन्ति) ॥ २ ॥

अर्थ—भगवान ने कहा हे गौतम ! गुरु नये नये वाक्यों अथवा शास्त्रों से आत्मार्थी की रुचि उत्पन्न करता है इसलिए महान् गुरु की सेवा से श्रवण मनन निदिध्यासन आदि बुद्धि के गुणों का विकास होता है ।

शास्त्रादिव्यवहाराय संज्ञापूर्वं यथोच्यते ।

तथा नाम पुरः श्राव्यं देवस्य गुरुधर्मयोः ॥ ३ ॥

अन्वय—शास्त्रादिव्यवहाराय संज्ञापूर्वं यथा उच्यते तथा देवस्य गुरुधर्मयोः नाम पुरः श्राव्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ—शास्त्रादि व्यवहार के लिए जिस प्रकार सर्व प्रथम संज्ञा (नाम) की आवश्यकता कही गई है वैसे ही आत्मार्थी को देव गुरु और धर्म के नाम का सबसे पहले श्रवण करने की आवश्यकता रहती है ।

ज्ञानिभिः पूर्वजैर्नाम्नो निक्षेपः प्रथमः कृतः ।

नाम्ना नैर्मल्यमापन्नः स्थापनाद्यपि मन्यते ॥ ४ ॥

अन्वय—पूर्वजैः ज्ञानिभिः प्रथमः नाम्नः निक्षेपः कृतः । नाम्ना निर्मल्यं आपन्नः तथैव स्थापनादि अपि मन्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्व ज्ञानियों ने धर्माचरण में सर्व प्रथम नाम का ही निक्षेप किया है क्योंकि नाम से ही निर्मलता की प्राप्ति होती है एवं स्थापना आदि भी नाम के अनुसार ही मानी जाती है ।

नाम्नि वा स्थापनायां यस्तादात्म्यं हृदि चिन्तयेत् ।

दृष्टे बिम्बे श्रुते नाम्नि तुष्टः श्रद्दालुरुत्तमः ॥ ५ ॥

अन्वय—यः नाम्नि वा स्थापनायां हृदि तादात्म्यं चिन्तयेत् नाम्नि श्रुते बिम्बे दृष्टे सति उत्तमः श्रद्दालुः तुष्टः (भवति) ॥ ५ ॥

अर्थ—नाम निक्षेप अथवा स्थापना निक्षेप द्वारा जो व्यक्ति अपने हृदय में तादात्म्य भावसे चिन्तन करे तो नाम सुनने पर अथवा जिन बिम्ब देखने पर वह उत्तम श्रद्दालु और इच्छा परिपूर्ण होनेसे (अत्यन्त) सन्तुष्ट हो जाता है ।

तन्नामचरितश्रुत्या तदेकाग्रेण तन्मना ।

तद्ध्यानभावनाज्जन्तु-नूनं ताद्रूप्यमश्रुते ॥ ६ ॥

अन्वय—एकाग्रेण तन्मना तन्नाम चरित श्रुत्या तद् ध्यानभावनात् जन्तुः नूनं ताद्रूप्यं अश्रुते ॥ ६ ॥

अर्थ—एकाम्र भावना से एवं तन्मय होकर उन आत्म ब्रह्म के नाम तथा चरित्र के सुनने से तथा उनका ध्यान और भावना करने से प्राणी निश्चय ही उनके ही रूप को प्राप्त कर लेता है ।

नामजापोऽपि संक्षेपा-द्विस्तराद्वास्त्यनेकधा ।

तस्मात्समासतो ध्येयः ॐकारः सिद्धवाचकः ॥ ७ ॥

अन्वय—नाम जापः अपि संक्षेपात् विस्तरात् वा ऽनेकधा अस्ति
तस्मात् समासतः सिद्धवाचकः ॐकारः ध्येयः ॥ ७ ॥

अर्थ—नाम संकीर्तन भी संक्षेप अथवा विस्तार से अनेक प्रकार का
होता है अतः संक्षेप में सिद्धवाचक ॐकार का ध्यान करना चाहिए ।

अ इत्यर्हन् अशरीरः पुन(नः) सिद्धोऽप्यतिस्थितः ।

आ आचार्य उपाध्यायः उः मकारो मुनिः स्मृतः ॥ ८ ॥

अन्वय—अ इति अर्हन् अशरीरः पुनः सिद्धः अपि अति स्थितः ।
आ आचार्य उ उपाध्याय म मुनिः स्मृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—ॐ का अ अर्हत् है और अ में अशरीरी सिद्ध भी स्थित है
आ आचार्य का स्वरूप है उ उपाध्याय का तथा म मुनि का स्वरूप
कहा गया है ।

स्मार्था इत्येवमोंकारे पंचापि परमेष्ठिनः ।

नमनाज्जापतोऽप्येषां शिवादीनामिव श्रियः ॥ ९ ॥

अन्वय—एवं पंचापि परमेष्ठिनः ओंकारे स्मार्था एषां नमनात्
वा जापतः शिवादीनां इव श्रियः (भवन्ति) ॥ ९ ॥

अर्थ—इस प्रकार ॐकार में पांचों परमेष्ठियों का अवश्य ध्यान
करना चाहिए । इनके नमनसे अथवा जाप से मोक्षलाभादि की सम्पदाएं
प्राप्त होती हैं ।

अ इत्यर्हन् उ गुरुः स्यान्मुनेधर्मो मकारगः ।

तस्य संवररूपेण सुवृत्तात्मा हि बिन्दुता ॥ १० ॥

अन्वय—अ इति अर्हन् उ गुरुः स्यात् मकारगः मुनेः धर्मः तस्य
संवररूपेण बिन्दुता हि सुवृत्तात्मा ॥ १० ॥

अर्थ—अ अर्हद् वाचक है उ गुरुवाचक है मकार में मुनिधर्म है इन अ उ म को मिलाने से इनके ऊपर रही हुई बिन्दु ही सुवृत्त आत्मा अर्थात् सिद्ध है ।

अर्हन्नपरिहन्तासा-ऽवऽरूहश्चेति नामसु ।

क्रमात् अ इ उ इत्येते प्राकृते भेदकाः स्वराः ॥ ११ ॥

अन्वय—असौ अर्हत् अपरिहन्ता अरूहः च नामसु अ इ उ इत्येते क्रमात् प्राकृते भेदकाः स्वराः ॥ ११ ॥

अर्थ—अर्हन् अरिहन्त और अरूह इन तीनों नामों में अ इ उ तीन भेद वाले स्वर प्राकृत भाषा में क्रमशः आ जाते हैं क्योंकि प्राकृत में ये तीन नाम अरहा, अरिहा एवं अरूहा होते हैं । प्राकृत में ऋषि के ऋकार दो रूप में इसी या रिसी में परिवर्तन दिखाई देते हैं ।

अइउणिति तत्सूत्रं कृतं पाणिनिनादिमम् ।

एतद्योगेन सिद्धत्व-मोंकारेण निरूप्यते ॥ १२ ॥

अन्वय—अ इ उ ण् इति आदिमं सूत्रं पाणिनिना कृतम् । एत-
द्योगेन ओंकारेण सिद्धत्वं निरूप्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—अ इ उ ण् वैसा प्रथम सूत्र पाणिनि ने (व्याकरण में) बताया है । इन तीनों के योग से बने ओंकार से सिद्धत्व का निरूपण किया जाता है ।

अ इत्यस्मादधोलोकः ऊ इत्यूर्ध्वस्थसूचकः ।

मे मर्त्यलोकस्तिर्यग्भूः सुवृत्तस्तत ओमिति ॥ १३ ॥

अन्वय—अस्मात् अ इति अधोलोकः ऊ इति उर्ध्वस्थसूचकः मे
मर्त्यलोकः तिर्यग्भूः, सुवृत्तः ततः ओमिति ॥ १३ ॥

अर्थ—ॐ कार में त्रिलोक व्याप्त है । अ से पातालादि अधोलोक ऊ से स्वर्गापवर्गादि ऊर्ध्वलोक म से मर्त्यलोक एवं तिर्यलोक है । इन तीनों वर्णों के संयोग से ॐ की निष्पत्ति होती है ।

आकारात् उपवर्गस्य स्थानीयो ज्याससंग्रही ।

अपवर्गस्तदोङ्कारे बिन्दुः सिद्धोऽपि तत् स्थितः ॥ १४ ॥

अन्वय—आकारात् उपवर्गस्य स्थानीय (ॐ) ज्याससंग्रही ।
तदा ओङ्कारे अपवर्गः तत् स्थितः बिन्दुः अपि सिद्धः ॥ १४ ॥

अर्थ—अकार से उकार तक जो ॐ बनता है वह गौरव का संग्रह करने वाला है इसीलिए ओङ्कार में अपवर्ग (मोक्ष) स्थित है और उस पर स्थित बिन्दु सिद्ध रूप है ।

अ इत्यात्मा तद्वितर्के उर्मेमोक्षः शिवस्ततः ।

अनाकारबिन्दुरूपः ॐङ्कारस्तन्मयो मतः ॥ १५ ॥

अन्वय—अ इति आत्मा (अतति इति आत्मा) तद्वितर्के उः मे मोक्षः शिवः ततः बिन्दुरूपः अनाकारः ॐङ्कार तन्मय मतः ॥ १५ ॥

अर्थ—अ से आत्मा उ से उसका चिन्तन और म में कल्याणकारी मोक्ष पद निहित है । बिन्दुस्वरूप निराकार सूचक है । ॐङ्कार आत्म-स्वरूप ही है ।

अतिभक्ति विष्णुरूपात् उपलब्धिरुकारगा ।

मे महाव्रतमोङ्कार-स्त्रियोगे ब्रह्मकेवलम् ॥ १६ ॥

अन्वय—अति विष्णुरूपात् भक्ति उकारगा उपलब्धि मे महाव्रतं त्रियोगे ओङ्कारः ब्रह्मकेवलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—अ में सर्व व्यापकता (वेवेष्टि इति विष्णु) होने के कारण भक्ति है उकार में उपलब्धि है । म में पंच महाव्रत हैं । इस प्रकार इन तीनों के योग से ॐङ्कार बनता है जो ब्रह्म स्वरूप है ।

अतिविष्णुरुतिब्रह्मा मे शिवस्तत्रयीमयः ।

✓ ॐङ्कारः परमं ब्रह्म ध्येयो गेयस्तदर्थिभिः ॥ १७ ॥

अन्वय—अतिविष्णुः उ इति ब्रह्मा मे शिवः त्रयीमयः ॐकारः
परमं ब्रह्मः तदर्थिभिः ध्येयः गेयश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—अ से विष्णु उ से ब्रह्मा म से शिव इस प्रकार त्रिस्वरूपा-
त्मक यह ओंकार परम ब्रह्म स्वरूप है। इस ब्रह्म को प्राप्त करने की
इच्छा वाले को इस ॐ कार का ध्यान तथा गान करना चाहिए।

अ— अनति— वाप्नोति—वेवेष्टि (ध्रौव्य) विष्णु
अवति— रक्षति, पालयति

उ— उत्पादयति जनयति (उत्पाद) ब्रह्मा

म— मारयति संहरति (व्यय) शिव

अकार अततीत्यात्मा सपञ्चमोपयोगतः ।

उतोमिति महानन्दे शिवो विन्दुाकृतिर्भवेत् ॥ १८ ॥

अन्वय—अ अततीत्यात्मा उतः सपञ्चमोपयोगतः म इति महा-
नन्दे विन्दु आकृतिः शिवः भवेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह आत्मा व्यापक (गतिमान) होने के कारण अकार स्वरूप है
एवं वह पांचवे स्वर उ के योग से ओ बनता है। म महान् आनन्द का
सूचक ॐ के ऊपर रही हुई विन्दुरूप आकृति शिवस्वरूप है।

अर्थात् अकार रूप आत्मा पंचम केवल ज्ञान से निराकार होकर
महानन्द में विचरण करती है इस अ + उ + ० के संयोग से बना यह
ॐ साक्षात् शिवस्वरूप है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल,
यह पांच ज्ञान हैं।

अर्हपदे व्यञ्जनेन वर्जितेष्यो तदव्ययम् ।

सिद्धाभिधायकं ध्यायन् शिव एव निरंजनः ॥ १९ ॥

अन्वय—अर्हपदे व्यञ्जनेन वर्जिते अपि ओम् तद् अव्ययं सिद्धाभि-
धायकं ध्यायन् शिव एव निरंजनः ॥ १९ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

२३३

अर्थ—अर्हत् पद में त् व्यञ्जन को हटाने पर भी यह अर्ह अव्यय रूप है। इस सिद्धवाचक अर्ह पद का ध्यान करते हुए निरञ्जन शिव स्वरूप की प्राप्ति होती है।

अः सूर्यः स उना युक्तः प्रकाशेन मकारके ।

महावीरे शिवावस्था-मोंकारे बिन्दुना नमेत् ॥ २० ॥

अन्वय—अः सूर्यः स प्रकाशेन उना युक्तः मकारके महावीरे शिवावस्थां ओंकारे बिन्दुना नमेत् ॥ २० ॥

अर्थ—अ सूर्य है वह सूर्य उ अर्थात् प्रकाश से युक्त है। इसका मकार महावीर रूप है। ऐसे बिन्दुसमेत ओंकार में मुक्तावस्था रूप सिद्धावस्था को प्रणाम करना चाहिए।

अत्युकारे मकारे च त्रिपदी या व्यवस्थिता ।

तन्मयस्त्रिजगद्व्यापी उँकारः परमेश्वरः ॥ २१ ॥

अन्वय—अति उकारे मकारे च या त्रिपदी व्यवस्थिता तन्मयः त्रिजगद्व्यापी उँकार परमेश्वरः ॥ २१ ॥

अर्थ—अकार उकार व मकार में जो यह त्रिपदी (ब्रह्मा, विष्णु, महेश या उत्पाद ध्रौव्य व्यय रूप) क्रम बद्ध रूप से व्यवस्थित है उनसे युक्त त्रिजगद्व्यापी यह उँकार परमेश्वर रूप है।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

षड्विंशत्यध्यायः

ॐकार में परमात्मा

[श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा है कि हे नाथ । ॐ कार त्रिजगत् व्यापी है यह कैसे निश्चित किया जा सकता है एवं इसे परम् ब्रह्म कैसे माना जा सकता है ?

श्री भगवान ने उत्तर दिया संसार में नाम के बिना शान नहीं होता है और यह नाम अक्षर के बिना सम्भव नहीं है । ॐकार के बिना अक्षर की भी स्थिति नहीं है । वाक्य और वाचक में एकता रहती है । इस ॐ के अकार सम्पूर्ण वर्णमातृका में समाविष्ट है । यह अकार सभी वर्णों में मुख्य तथा नाभी से उत्पन्न है, पवन (मरुत्) इसकी योनि (माता) है । प्रथम जिनेश्वर ऋषभदेव भी नाभि राजा से मरुदेवी में उत्पन्न है । जिस प्रकार अकार के संवृत विवृतादि चौबीस रूप हैं वैसे ही ये तीर्थङ्कर भी चौबीस हैं । यह अकार परमात्मा है, विश्वम्भर है एवं अव्यय है । ॐकार इसका सूत्र है अतः न्यास पूर्वक जो इसका उच्चारण करता है वह शब्द मात्र से त्रिभुवन को ब्रह्मतेज से आविष्ट कर लेता है ।]

* * *

षड्विंशोऽध्यायः

२३५

षड्विंशत्यध्यायः

श्री गौतमउवाच

ॐकारस्त्रिजगद्रूपापी नाथ निश्चीयते कथम् ।

जगद्रूपाप्तिं विना ब्रह्माभिधत्ते परमं कुतः ॥ १ ॥

अन्वय—नाथ ! त्रिजगद्रूपापी ॐकारः कथं निश्चीयते जगद्रूपाप्तिं विना कुतः परमं ब्रह्मा अभिधत्ते ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा, हे नाथ ! ॐकार त्रिलोक में व्याप्त है यह निश्चय कैसे किया जाता है एवं जगत में व्याप्ति के बिना इन्हें परम ब्रह्म कैसे कहा जाता है ?

श्री भगवानुवाच

ज्ञेयं यदभिधेयं तत् न ज्ञानमभिधां विना ।

विनाक्षरं नाभिधापि नोकारेण विनाक्षरम् ॥ २ ॥

अन्वय—यत् अभिधेयं तत् ज्ञेयं अभिधां विना ज्ञानं न अक्षरं विना अभिधा अपि न ओंकारेण विना अक्षरं अपि नास्ति ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा, हे गौतम ! जो पदार्थ कहने योग्य होता है वही जानने योग्य होता है क्योंकि संसार में नाम के बिना ज्ञान नहीं होता है, और यह नाम भी अक्षर के बिना संभव नहीं होता है। और ओंकार के बिना अक्षर की भी स्थिति नहीं है।

प्रत्ययार्थाभिधानेन तत्तुल्यं नामधेयता ।

वाच्यवाचकयोरैक्यं स्यात्तद्बोधसमुद्भवात् ॥ ३ ॥

अन्वय—प्रत्ययार्थाभिधानेन तत्तुल्यं नामधेयता तद्बोधसमुद्भवात् वाच्यवाचकयोरैक्यं स्यात् ॥ ३ ॥

अर्थ—अर्थ अभिधान और प्रत्यय ये तीनों एकार्थक पर्याय शब्द हैं। इसका बोध होने से वाच्य और वाचक में एकता रहती है।

अकारादेव सर्वेषा-मक्षराणां समुद्भवः ।

स्थानयत्नादिभेदेन स्याद्विशेषः प्रकाशते ॥ ४ ॥

अन्वय—सर्वेषां अक्षराणां अकारात् एव समुद्भवः प्रकाशते स्थानयत्नादिभेदेन विशेषः स्यात् ॥ ४ ॥

अर्थ—सभी अक्षरों की उत्पत्ति अकार से ही होती है पुनः स्थान यत्न आदि के भेद से वह विभिन्न प्रकार का हो जाता है (अकार अट्टा-रह प्रकार का होता है। सम्पूर्ण मातृका भी अकार का ही परिणाम है।

अकार स्वरो में तो है ही वह व्यञ्जनों में भी है।

कंठ से	अ	अनुनासिक	अं
तालू से	इ	विसर्जनीय	अः
मूर्द्धा से	उ		

यही अकार यदि जीभ के सहयोग से बोलें तो ये व्यंजन रूप होंगे।

कंठ से—	क वर्ग	दन्त से—	त वर्ग
तालू से—	च वर्ग	ओष्ठ से—	प वर्ग
मूर्द्धा से—	ट वर्ग		

वृद्धौ अकारेह्याकारः स्पष्टो मात्रापरिग्रहात् ।

पृष्ठे इकारस्तद्वैर्घ्ये-पीकारोऽघोऽप्युकारकः ॥ ५ ॥

अन्वय—अकारे वृद्धौ हि आकारः मात्रा परिग्रहात् स्पष्टः पृष्ठे इकारः तद्वैर्घ्ये अपि ईकार अधः अपि उकारकः ॥ ५ ॥

अर्थ—अब स्वरमाला की उत्पत्ति कहते हैं। अकार में मात्रा के परिग्रह से अर्थात् वृद्धि होने पर आकार बनता है। तालू (पृष्ठ) से

षड्विंशोऽध्यायः

२३७

उच्चार करने पर अ इकार तथा उसका दीर्घ रूप ईकार तथा (तालुके) उसके नीचे का भाग से उकार उच्चारित होता है ।

तद्दैर्घ्ये वृद्धउकारो-ऽधः परान्मुखमात्रया ।
ऋवर्णस्तद्विशेषेण ऋवर्णः संधिजा परे ॥ ६ ॥

अन्वय—अधः परान्मुखमात्रया तद्दैर्घ्ये वृद्ध उकारः तद्विशेषेण ऋवर्णः परे ऋवर्ण संधिजा ॥ ६ ॥

अर्थ—नीचे की ओर झुकी हुई मात्रा से उ का दीर्घ रूप उकार बनता है उस उ की विशेषता से ऋवर्ण तथा इसके पश्चात् इसकी संधि से ऋवर्ण होता है ।

न क्षरत्यक्षरं राति स्वमर्थं वा ततः स्वरः ।
केवलोऽकारमेवाय-माकाराद्यास्तु तद्विदः ॥ ७ ॥

अन्वय—न क्षरति इति अक्षरं, स्वं अर्थं राति इति स्वरः केवलः अकारं एव अयं आकाराद्याः तु तद्भिदः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो कभी भी नाश नहीं होता है यह अ अक्षर है । अपने अर्थ का अपने आप प्रकाशन करते हैं यह स्वर है । यह सब आकारादि तो केवल अकार के ही भेद हैं ।

स्वारं स्वरसमूहस्तत् पश्चाल्लग्नो मकारजः ।
नकारजो वाऽनुस्वारो बिन्दुर्नादविशेषवान् ॥ ८ ॥

अन्वय—स्वरसमूहः तत् स्वारं पश्चात् लग्नः बिन्दुर्नाद विशेषवान् मकारजः नकारजः अनुस्वारः ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वरों के समूह को स्वार कहते हैं । यह स्वार है उसके पश्चात् लगे बिन्दु एवं नाद से विशिष्ट मकार तथा नकार होते हैं जो अनुस्वार कहलाते हैं । अर्थात् अनुस्वार शब्द से ही स्पष्ट होता है कि वह

अनुक्रम में स्वार के पश्चात् माने गये हैं । यह होता है स्वार में नाद और बिन्दु के प्रयोगसे ।

बिन्दुद्वये विसर्गः स्यान्नेतौ पश्चात्स्वरं विना ।

स्वरानुरणनरूपौ तौ घण्टादीर्घ निनादवत् ॥ ९ ॥

अन्वय—पश्चात् बिन्दुद्वये विसर्गः स्यात् न एतौ स्वरं विना, घण्टादीर्घ निनादवत् तौ स्वरानुरणन रूपौ ॥ ९ ॥

अर्थ—अब विसर्ग का स्वरूप निदर्शन कहते हैं—स्वर के बाद दो बिन्दु होने पर विसर्ग होता है । ये दोनों बिन्दु स्वर के बिना सम्भव नहीं होते हैं । घण्टे के दीर्घ गुंजन की तरह वे स्वर के बाद अनुगुंजित होते हैं । जैसे रामः में म् + अ + : ।

ह्रस्वदीर्घे श्वासवृद्ध्या मात्राधिक्यं ततः प्लुते ।

गीतादावेव तत्कार्यं वर्णाम्नाये न तद्ग्रहः ॥ १० ॥

अन्वय—श्वासवृद्ध्या ह्रस्वदीर्घे ततः प्लुते मात्राधिक्यं गीतादौ एव तत्कार्यं वर्णाम्नाये तद् ग्रहः न ॥ १० ॥

अब ह्रस्व दीर्घ एवं प्लुत का रूप निदर्शन करते हैं —

अर्थ—श्वास के उतार चढ़ाव से यह स्वर ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार का होता है । तीसरे प्रकार प्लुत में एक मात्रा की अधिकता होती है । इसका ग्रहण संगीतादि में होता है । व्याकरण शास्त्र में प्लुत का प्रयोग नहीं होता है । (त्रिमात्रस्तु प्लुतः)

वायोर्यथास्थानघातं वर्णोत्यादेः प्रयत्नतः ।

श्वासात्प्रकृतिसंयोगे व्यक्तं व्यञ्जनमुच्यते ॥ ११ ॥

अन्वय—वायोः यथास्थानघातं वर्णोति आदेः श्वासात् प्रकृति-संयोगे प्रयत्नतः व्यक्तं व्यञ्जनं उच्यते ॥ ११ ॥

षड्विंशतोऽध्यायः

२३९

अर्थ—वायु जिस उच्चारण स्थान पर आघात करती है उसी के अनुसार वर्ण बनते हैं। श्वास वायु के प्रयत्न स्थान से मिलने पर जो ध्वनि व्यक्त होती है वह व्यञ्जन है।

तत्राप्याद्यद्वितीयानां वर्ग्याणां शषसेऽपि च ।

अघोषत्वं घोषवत्त्वं वर्णे तेभ्यः परे स्फुटम् ॥ १२ ॥

अन्वय—तत्रापि आद्यद्वितीयानां वर्ग्याणां शषसे पि च अघोषत्वं तेभ्यः परे वर्णे घोषत्वं स्फुटम् ॥ १२ ॥

अर्थ—उन व्यञ्जनों में भी प्रत्येक वर्ण का पहला दूसरा अर्थात् क च ट त प तथा ख छ ठ थ फ और श ष स वर्ण अघोष होते हैं उनके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के तीसरे व चौथे तथा य र ल व आदि घोष वर्ण होते हैं।

सदीर्घैर्व्यञ्जनैः षट्श्या घटी तत्कालवृद्धितः ।

श्वासाति योगात्कंठ्योऽपि हःस्यादौरस्य एव सः ॥ १३ ॥

अन्वय—तत्कालवृद्धितः सदीर्घैः व्यञ्जनैः षट्श्या घटी श्वासाति योगात् सः कंठ्य ह अपि औरस्य स्यात् ॥ १३ ॥

अर्थ—बोलने में समय की मात्रा बढ़ने से दीर्घ व्यञ्जनों सहित व्यञ्जन साठ प्रकार के होते हैं। (सामान्य प्रयोग में नहीं किन्तु) प्राण वायु के योग से कण्ठ्य ह भी उरस्थ होता है।

समान पंचके स्थानः प्रसंगात् पंचवर्ग्यपि ।

अंतस्थाश्च तथोष्माणः स्वरवर्गानुगामिनः ॥ १४ ॥

अन्वय—प्रसंगात् पंचवर्गि अपि पंचके समानः स्थानः स्वरवर्गानुगामिनः अन्तस्थाः तथा च उष्माणः ॥ १४ ॥

अर्थ—प्रसंग से पांचो वर्गों का (क वर्ग ख वर्ग आदि) पांचवा स्थान समान होता है। अन्तस्थ तथा उष्म स्वर वर्ग का अनुसरण करते हैं।

प्रत्येक वर्ग का पांचवा अक्षर अनुनासिक होता है उन ङ् जू ण् न् म् को एक ही बिन्दु से ० से व्यक्त किया जा सकता है। य र ल व अन्तस्थ कहलाते हैं एवं श स ष ह उप्म कहलाते हैं अन्तस्थ तो अर्धस्वर ही कहलाते हैं।

अकारो वर्णमुख्योऽयं केवलात्मा स तीर्थकृत् ।

नाभिभूर्मरूदेवास्य योनिलोके प्रसिद्धिभाक् ॥ १५ ॥

अन्वय—अयं अकारो वर्णमुख्यः केवलात्मा स तीर्थकृत् नाभिभूः अस्य योनि मरूत्पव लोके प्रसिद्धिभाक् ॥ १५ ॥

अर्थ—यह अकार सभी वर्णों में मुख्य है एवं वर्णमाला रूप तीर्थ का स्रष्टा है। वह नाभि से उत्पन्न होने वाला है। इसकी योनि पवन है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ = यह अ सभी वर्णों में मुख्य है एवं तीर्थकर आदिनाथ भगवान रूप है इनके जनक नाभिराजा है तथा माता मरूदेवी है ऐसा संसार में प्रसिद्ध है।

अकारप्रभवाः सर्वेऽप्येवं वर्णाः प्रकीर्तिताः ।

मातृकायां तदुच्चारंते ते नाकारपरिग्रहः ॥ १६ ॥

अन्वय—एवं सर्वे वर्णा अपि अकार प्रभवाः प्रकीर्तिताः तेन मातृकायां तदुच्चारंते अकारपरिग्रहः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस प्रकार सभी वर्ण अकार से उत्पन्न हुए कहे गए हैं इसीलिए मातृका पाठ में उसका उच्चारण करने के लिए सर्वप्रथम अकार का ही ग्रहण किया जाता है।

केऽपि सार्वमुखस्थान-मवर्णमूचिरे ततः ।

मात्रायोगेष्युवर्णान्त-स्तस्य शेषस्तु संधिजः ॥ १७ ॥

अन्वय—केऽपि अ वर्णं सार्वमुखस्थानं ऊचिरे मात्रा योगे अपि इ उ वर्णान्तः तस्य शेषः तु संधिजः ॥ १७ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अ. गी. - १६

२४१

अर्थ—कुछ विद्वान अ वर्ण को मुख के सभी प्रयत्न तथा उच्चारण स्थानों से उद्भूत मानते हैं। उसमें मात्रा का योग होने पर इ तथा उ इसके अन्तिम वर्ण हैं। शेष स्वर तो संधि से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् मात्रा लगने पर अ से इ और उ होते हैं और अ इ ओर उ तिन मुख्य वर्णों से द्वादशाक्षरीकी उत्पत्ति दिखायी गयी है परंतु वस्तुतः अ ही प्रधान वर्ण है।

उद्भूत—	अ —	अ + ि = इ	संधिज—	अ + इ = ऐ
	अ —	अ + उ = उ		अ + ई = औ
				अ + उ = ओ
				अ + ऊ = औ

(लृ)ऋवर्णस्तु ऋवर्णान्तः स च वृद्धो गुणेऽग्निमे ।

प्रायोऽप्रयोगा दीर्घं च नापठीत् द्वादशाक्षरी ॥ १८ ॥

अन्वय—(लृ) ऋवर्णः तु ऋवर्णान्तः स च अग्निमे गुणे वृद्धः प्रायः अप्रयोगात् दीर्घं च न अपठीत् द्वादशाक्षरी ॥ १८ ॥

अर्थ—लृ वर्ण ऋ वर्ण के बाद में आता है वह आगे गुण करने पर वह बड़ा रूप धारण करता है लृ। लेकिन प्राय लृ के दीर्घ रूप का प्रयोग नहीं होने के कारण इसकी द्वादशाक्षरी नहीं पढ़ी जाती है अथवा बारह खड़ी में इसे नहीं पढ़ाया जाता है।

अकारे सर्ववर्णौघं मत्वा मात्रानुवर्णिकं ।

अनुस्वारे विसर्गं च अँकारं सर्वगं जपेत् ॥ १९ ॥

अन्वय—अकारे मात्रानुवर्णिकं सर्ववर्णौघं मत्वा अनुस्वारे विसर्गं च सर्वगं अँकारं जपेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—अकार में मात्राओं के अनुसार और अनुस्वार से विसर्ग रूप (अं अः) धारण करने वाला सभी वर्णों का समूह मानकर (वर्णमाला में) सर्वव्यापी अँकार का जप करना चाहिए।

अकारः परमात्मासौ विश्वंभरोऽप्यधः क्षिपेत् ।

उ वर्णवत्सर्वमात्रां तदा बिन्दुर्गिवोर्ध्वगः ॥ २० ॥

अन्वय—असौ अकारः परमात्मा विश्वंभरः अपि उ वर्णवत् सर्व-
मात्रां अधः क्षिपेत् तदा बिन्दु इव उर्ध्वगः ॥ २० ॥

अर्थ—यह अकार परमात्मा है विश्वम्भर अर्थात् विश्वप्रकाशक भी
है। यह उ वर्ण की तरह सभी (उपाधियों) मात्राओं को नीचे रखता है
तथा बिन्दु (सिद्ध) की तरह उर्ध्वगामी है।

वर्ण में उ की मात्रा नीचे लगती है। और बिन्दु उपर लगाया
जाता है।

न्यासतोप्यव्ययं वक्ति अँकारः शक्तिमान् स्वयम् ।

शब्दादपि क्षणाल्लोकं व्याप्नोति ब्रह्मतेजसा ॥ २१ ॥

अन्वय—स्वयं शक्तिमान् अँकारः (य) न्यासतः अपि अव्ययं
वक्ति शब्दात् अपि ब्रह्मतेजसा क्षणात् लोकं व्याप्नोति ॥ २१ ॥

अर्थ—यह अँकार स्वयं शक्तिमान् है जो न्यास से भी इस अव्यय
शब्द अँ का उच्चारण करता है वह शब्द मात्र से भी क्षण में ही
त्रिभुवन को ब्रह्मतेज से आविष्ट कर लेता है।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां कर्मकाण्डे षड्विंशत्यध्यायः ॥ २६ ॥



सप्तविंशतितमोऽध्यायः

परमात्मस्वरूप

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि शिवत्व की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को कौन से धार्मिक कर्म करने चाहिए ?

श्री भगवान् ने उत्तर दिया सर्व प्रथम दर्शनावरणीय कर्म का नाश करने के लिए परमात्म स्वरूप का दर्शन करना चाहिए तथा गुरु पर श्रद्धा रखनी चाहिए। कौन से परमात्मा पूजनीय है इसकी व्याख्या करते हुए यह बताते हैं कि वे परमात्मा स्वयंभू, लोकालोक सर्वज्ञ एवं महाव्रती हैं। निसंग होने के कारण वे न तो गौरीपति हैं एवं न परशुधर। जो माया से रहित हैं, समदृष्टि हैं एवं योगी हैं वे शुद्ध सिद्ध प्रबुद्ध व शान्त सुधारस केवली परमात्मा हैं। ये ही मंगलस्वरूप जिन अथवा शिव हैं। भगवान् ने श्वेताम्बर और दिगम्बर साधुओं को अर्हद् धर्म का पथिक बताया है अतः इन गुरुओं के उपदेश श्रवण से आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।]

* * *

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

गौतम उवाच

ऐश्वरं नामजपनं निश्चित्यैकाग्रमानसः ।

शिवस्वरूपमादित्सुः किं कुर्यात्कर्म धार्मिकं ॥ १ ॥

अन्वय—शिवस्वरूपं आदित्सुः एकाग्रमानसः ऐश्वरं नामजपनं निश्चित्य किं धार्मिकं कर्मः कुर्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि हे भगवान् ! शिवस्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा वाला व्यक्ति एकाग्र चित्त से ईश्वर के नाम जप का निश्चय करे तब क्या धार्मिक कर्म करे ?

श्री भगवानुवाच

तस्यैव दर्शनं कुर्याद्दर्शनावरणच्छिदे ।

गुरोर्देवस्य चावश्यं यस्य श्रद्धां धरेन्नरः ॥ २ ॥

अन्वय—नरः दर्शनावरणं च्छिदे तस्यैव दर्शनं कुर्यात् यस्य गुरोः देवस्य च अवश्यं श्रद्धां धरेत् ॥ २ ॥

अर्थ—श्री भगवान् ने कहा हे गौतम ! मनुष्य को दर्शनावरणीय कर्म का नाश करने के लिए उसी परमात्म स्वरूप का दर्शन करना चाहिए तथा गुरुदेव पर अवश्य श्रद्धा रखनी चाहिए ।

यः स्वयं शिवमापन्नः प्रेक्षणेऽपि शिवङ्करः ।

यः पूज्यते सदा तेजोभासुरैः श्रीसुरासुरैः ॥ ३ ॥

जिनः सनातनो जिष्णुरच्युतः पुरुषोत्तमः ।

स्वभूर्विश्वंभर इति नाम्ना यो न जनार्दनः ॥ ४ ॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

२४५

अन्वय—यः स्वयं शिवं आपन्नः प्रेक्षणे अपि शिवङ्करः यः सदा तेजोभासुरैः श्रीसुरासरैः पूज्यते जिनः, सनातनः, जिष्णु, अच्युतः, पुरुषोत्तमः, स्वभूः, विश्वम्भरः नाम्ना यः न जनार्दनः ॥ ३-४ ॥

अर्थ—(परमात्म स्वरूपकी चर्चा करते कहते हैं कि) जो परमात्मा स्वयं शिवरूप है देखने में भी मंगलकारी है, जो परमात्मा सदा प्रकाशमान तेजस्वी देवों असुरों आदि से पूजा जाता है। जो स्वयं को जीतने के कारण जिन है, अनन्त होने के कारण सनातन है, विश्वजयी होने के कारण जिष्णु है, कभी स्वलित नहीं होने के कारण अच्युत है, मानवों में उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम है, स्वयं उत्पन्न होने के कारण स्वयंभू है, विश्वको भरने वाला अर्थात् प्रकाशित करने वाला होने से विश्वम्भर है, किन्तु वह जनता को पीड़ित करने वाला (जनार्दन) नहीं है।

स्वयंभूः परमेष्ठी च नाभेयः सात्त्विकोत्तमः ।

वृषाङ्कः शङ्करः शम्भु-र्यः सर्वज्ञो महाव्रती ॥ ५ ॥

अन्वय—यः स्वयंभूः परमेष्ठी च नाभेयः सात्त्विकोत्तमः वृषाङ्कः, शङ्करः शम्भुः सर्वज्ञः महाव्रती ॥ ५ ॥

अर्थ—जो परमात्मा अपने आप उत्पन्न होने वाला स्वयंभू है परमेष्ठी है, नाभि से उत्पन्न स्वरूप अथवा नाभि से उत्पन्न आदिनाथ स्वरूप है, सात्त्विकों में भी उत्तम, वृष लांछन है, कल्याण करने वाले हैं शान्ति के धाम शम्भु है, लोकालोक जानने वाले होने से सर्वज्ञ हैं, एवं सार्वभौम व्रत को धारण करने वाले होने से महाव्रती हैं।

इत्याद्यन्वर्थनामार्ह-नुपदेष्टा शिवस्य यः ।

तस्मान्नान्यः शिवः कश्चित् मूर्तो तेनास्य सान्तताः ॥ ६ ॥

अन्वय—इत्यादि यः अन्वर्थनामा अर्हन् शिवस्य च उपदेष्टा
तस्मात् अन्यः कश्चित् मूर्तः शिवः न तेन अस्य सान्तता ॥ ६ ॥

अर्थ—इत्यादि जिसके सार्थक नाम हैं जो अर्हत् मोक्ष मार्ग के
उपदेष्टा हैं उनसे भिन्न कोई अन्य मूर्तिमंत शिवशंकर नहीं है। और चरम
स्थिति (मोक्षस्थिति) इन्ही में समाई हुई है।

न गौरीशो न कालीशः खण्डपर्शुधरो न वा ।

न रुद्रो भैरवो नोग्रो न भीमो वा नटेश्वरः ॥ ७ ॥

अन्वय—न गौरीशः न कालीशः न वा खण्डपर्शुधरो न रुद्रो न
उग्रो भैरवो न भीमो न वा नटेश्वरः ॥ ७ ॥

अर्थ—वह परमात्मा निसङ्ग है न वह पार्वतीपति है न कालिका
का पति है न वह परशुधर है, न वह रुद्राने वाला रुद्र है न उग्र भैरव है
न भीम (भयंकर) है और न नटराज है।

गौरी सती गले यस्य लग्ना काली ततोऽभवत् ।

आर्यापि चंडी तद्भक्ते युक्तं स्याद्भवसेवकः ॥ ८ ॥

अन्वय—गौरी सती यस्य गले लग्ना आर्यापि काली चंडी
अभवत् तद्भक्ते भवसेवकः युक्तं स्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिनकी गोद में शक्ति रूप में गौरी और सती विद्यमान है
एवं देवी आर्या भी काली और चंडी रूप में हो गई है ऐसे भगवान् स्वरूप
की भक्ति करने वाले को शायद भवसेवक अर्थात् संसार में उत्सुक कहे
गये है।

शिव का एक नाम भव भी है। भव शब्द पर श्लेश का प्रयोग
किया गया है।

स्प(स्पृ)ष्टा न भोगैर्या गङ्गा ब्रह्मचारी यदंगजः ।

शिवेन शिरसोदूढाप्यपतल्लवणाबुधौ ॥ ९ ॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

२४७

अन्वय—भोगैः न स्पृष्टा या गंगा यदंगजः ब्रह्मचारी शिवेन
शिरसः ऊढा अपि लवणाम्बुधौ अपतत् ॥ ९ ॥

अर्थ—भोगों ने जिसे स्पर्श भी नहीं किया और जिसका पुत्र
भीष्मपितामह बाल ब्रह्मचारी हुआ तथा शिव के द्वारा सिर पर धारण की
हुई वह (पवित्र) गंगा अंत में समुद्र में गिर गई। अर्थात् अगर भवसमुद्र
के प्रति लक्ष्य हो तो पतन अवश्य है।

ध्यायन् श्मशानवेश्मानं तं भक्तेः शिवमीक्षते ।
बह्निर्जलायते तस्य विषमप्यमृतायते ॥ १० ॥

अन्वय—श्मशानवेश्मानं तं भक्तेः ध्यायन् शिवं ईक्षते तस्य बह्नि
जलायते विषं अपि अमृतायते ॥ १० ॥

अर्थ—श्मशान में निवास करने वाले उस शिव का भक्ति पूर्वक
ध्यान करते हुए जो कल्याण चाहता है उसके लिए अग्नि जलस्वरूप व
विष भी अमृतस्वरूप ही होगा।

स रामः शस्त्रभृद्भान्यो हयग्रीवो नृकेसरी ।

✓ शिवाय न विदा सेव्या ज्ञेयास्ते पुरुषोत्तमाः ॥ ११ ॥

अन्वय—विदा शस्त्रभृत् स रामः वा अन्यः नृकेसरी हयग्रीवः
शिवाय न सेव्या ते पुरुषोत्तमा ज्ञेयाः ॥ ११ ॥

अर्थ—बुद्धिमान को मोक्ष के लिए शस्त्रधारी उन राम अथवा
नरसिंह विष्णु आदि की सेवा नहीं करनी चाहिए पर उनको पुरुषोत्तमों के
रूप में (शलाकापुरुष) जानना चाहिए। उनसे सांसारिक सम्पत्ति मिल
सकती है पर मोक्ष सम्पदा नहीं।

यः कैवल्यान्र मायास्पृक् समदृक् योगनिश्चितः ।

शुद्धः सिद्धः प्रबुद्धश्च शान्तः श्रीभगवानयम् ॥ १२ ॥

अन्वय—यः कैवल्यात् न मायास्पृक्ः समदृक् योगनिश्चितः शुद्धः
सिद्धः प्रबुद्धः च शान्तः अयं श्री भगवान् ॥ १२ ॥

अथ—जो कैवल्यज्ञान के कारण माया से रहित है, सम दृष्टि है, एवं योगी है, वे शुद्ध, सिद्ध, प्रबुद्ध व शान्त श्रीभगवान् है। मोक्ष सम्पदा की प्राप्ति भगवान् के इस रूप से होगी।

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च हयग्रीवो नृकेसरी ।

चन्द्रादयो ग्रहाः पूज्याः पादपद्मेऽस्य लक्षणैः ॥ १३ ॥

अन्वय—अस्य पादपद्मे लक्षणैः मत्स्यः कूर्मः वराहः च नृकेसरी हयग्रीवः चन्द्रादयः ग्रहाः पूज्याः ॥ १३ ॥

अर्थ—इन भगवान् के चरण कमलों में मांगलिक चिन्ह रूप में स्थान पाने से ही मत्स्य, कच्छप वराह, नरकेसरी, विष्णु तथा सूर्यचन्द्रादि ग्रह पूज्य हैं।

भगवद्भक्तिभाजोऽमी स्थाप्या भागवतासने ।

प्रभोः पूजनया पूजा-मीपामेष्या मनीषिभिः ॥ १४ ॥

अन्वय—भगवद्भक्तिभाजः अमी भागवतासने स्थाप्या मनीषिभिः प्रभोः पूजनया अमीषां पूजा इष्या ॥ १४ ॥

अर्थ—भगवान् की भक्ति के पात्र होने से इन मत्स्य कूर्मादि को भी भगवान् के आसन पर स्थापित करना चाहिए। एवं ज्ञानियों को प्रभु की पूजा के द्वारा इनकी (वीतराग परमात्मा के मंगल प्रतीक) मानकर पूजा भी करनी चाहिए।

एवं जिनः शिवो नान्यो नाम्नि तुल्येऽत्र मात्रया ।

स्थानादि योगाज्जशयो-र्न वयोश्चैक्यभावनात् ॥ १५ ॥

अन्वय—अत्र स्थानादि योगात् जशयोः नवयोः च ऐक्यभावनात् मात्रया तुल्ये नाम्नि एवं जिनः शिवः न अन्यः ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार ज और श दोनों के तालव्य अर्थात् एक ही स्थानीय होने के कारण न और व में भी एकता होने के कारण तथा जिन

और शिव की मात्रा भी दो दो होने के कारण जिन भी शिव और शिव भी जिन है अर्थात् दोनों एक ही है।

गुरावपि शिवध्यान-मर्हन्मार्गप्रतिष्ठिते ।

मुखवस्त्रिकया मौनमुद्रा स्पष्टयति प्रभोः ॥ १६ ॥

अन्वय—अर्हन्मार्गप्रतिष्ठिते गुरौ अपि शिवध्यानं मुखवस्त्रिकया प्रभोः मौनमुद्रा स्पष्टयति ॥ १६ ॥

अर्थ—अर्हद् भगवान के मार्ग पर चलने वाले गुरुओं में भी शिव-ध्यान का वास रहता है क्योंकि वे अपने मुखवस्त्र (मुहपत्ति) से प्रभु की मौन मुद्रा का स्पष्ट संकेत करते हैं।

न शिरोवेष्टनं तेषां द्विजानामिवासद्विधौ ।

मातृकायां धकारेऽपि शिरोबंधः किमिष्यते ॥ १७ ॥

अन्वय—आसद्विधौ द्विजानां इव तेषां न शिरोवेष्टम् । मातृकायां धकारे अपि किं शिरोबन्धः इष्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—यज्ञानुष्ठानादि मंगलकारी प्रसंगों में जिस प्रकार ब्राह्मण सिर-पर पगड़ी धारण नहीं करते हैं वैसे ही ये गुरु भी सिर पर पगड़ी धारण नहीं करते हैं। क्या (धर्मसूचक) मातृका धकार पर शिरोबंध की आवश्यकता रहती है अर्थात् नहीं रहती। धार्मिक प्रसंगों में पगड़ी धारण करना कोई धार्मिक विधान नहीं है।

श्वेताम्बरधरः सौम्यः शुद्धः कश्चिन्निरम्बरः ।

कारुण्यपुण्यः सम्बुद्धः शान्तः क्षान्तः शिवो मुनिः ॥ १८ ॥

अन्वय—कारुण्यपुण्यः सम्बुद्धः शान्तः क्षान्तः शिवः सौम्यः मुनिः श्वेताम्बरधरः कश्चित् शुद्धः निरम्बरः ॥ १८ ॥

अर्थ—करुणा जनित पुण्य से युक्त, ज्ञानी, शान्तमूर्ति, क्षमाशील मंगल रूप, सौम्य मूर्ति, कोई साधु श्वेताम्बर वस्त्रधारी होते हैं तो कोई निर्वस्त्र दिग्म्बर, पर दोनों ही अर्हद् धर्म के मार्ग पर बढ़ने वाले हैं।

श्वेताम्बरधरा गौराः पुरतः पुस्तकान्विताः ।

व्याख्यानमुद्रया युक्ताः ध्यायन्तो वा हरिं जिनम् ॥ १९ ॥

अन्वय—श्वेताम्बरधरा गौराः पुरतः पुस्तकान्विताः हरिं जिनं
वा ध्यायन्तः व्याख्यानमुद्रया युक्ताः ॥ १९ ॥

अर्थ—श्वेत वस्त्रधारी हो या दिगम्बर, सामने पुस्तकों से शोभित तथा
हरि अथवा जिनेश्वर भगवान् का ध्यान करते हुए वे गुरु, व्याख्यान की
मुद्रा से युक्त हैं ।

सेवते दैवतामिव गुरुं परंपरागतम् ।

तत्पार्श्वे नियमात् शास्त्रं शृणुते वृणुते धृतिम् ॥ २० ॥

अन्वय—(यः) परम्परागतं गुरुं देवतां इव सेवते तत्पार्श्वे
नियमात् शास्त्रं शृणुते धृतिं वृणुते ॥ २० ॥

अर्थ—जो परम्परा से प्रतिष्ठित गुरु की देवता की तरह सेवा करता
है एवं उनके पास बैठकर नियम पूर्वक शास्त्र सुनता है वह धैर्य एवं
सन्तोष को प्राप्त करता है ।

गुरुपदेशसंज्ञायै कर्णवेधो विधीयते ।

उपदेशात्मकर्णत्वं नरे नाकृतिमात्रतः ॥ २१ ॥

अन्वय—गुरुपदेशसंज्ञायै कर्णवेधः विधीयते नरे उपदेशात्मक-
र्णत्वं आकृतिमात्रतः न ॥ २१ ॥

अर्थ—इतर सप्रदाय में गुरु के उपदेश के संज्ञान के लिए शिष्य
को कर्णभेद कराया जाता है ।

आकृति के वजाय जो गुरु के उपदेश के लिए कान देता है
अर्थात् ध्यान से सुनता है उस नर को उपदेश से (आत्मकर्णत्व)
आन्तरिक आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है ।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

२५१

अष्टविंशतितमोऽध्यायः

सद्गुरु में श्रद्धा से सद्धर्मप्राप्ति

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा कि गुरु परमात्मा तथा धर्मशास्त्रादि में सर्वत्र अनुयोग तथा आचार में भेद दिखाई देता है तो उनका सच्चा स्वरूप क्या है? क्योंकि सभी अपने देव तथा गुरु को श्रेष्ठ बताते हैं।

श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि अज्ञानी पुरुष बुद्धिबलसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से तत्त्व वस्तु का सही ज्ञान नहीं पा सकता है। अतः बुद्धि की निर्मलता के लिए दया, शील, तप एवं शास्त्रों से उस तत्त्व-वस्तु की परीक्षा करनी चाहिए। ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य से जो परमात्मा में लीन है उन महान् गुरुओं से तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उनके उपदेश से पुरुष वश में होते हैं। बिना रूचि सुना हुआ गुरु का सद्वाक्य रोहिणेय चोर की तरह हितकारी होता है श्रद्धापूर्वक देव, गुरु तथा सूत्रार्थ का आलोचन करने से जो तत्त्व प्राप्त होता है वही धर्म है। जिसका स्वरूप वर्णमातृका में समाया हुआ है वही वर्णमातृका ब्राह्मी है, सरस्वती है एवं मंगल विधायिनी है।]

* * *

अष्टविंशतितमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐश्वराङ्गे गुरौ देवे धर्मशास्त्रे क्रियासु च ।
वैषेऽनुयोगे वाचारे भेदः सर्वत्र वीक्ष्यते ॥ १ ॥

पृच्छयते यस्य मध्यस्थैः धर्मं स स्वं वदेत् शुभं ।
तदन्यं मन्यते दुष्टं संशयालुर्जनस्ततः ॥ २ ॥

अन्वय—वैषे ऐश्वराङ्गे गुरौ देवे धर्मशास्त्रे क्रियासु अनुयोगे
आचारे वा सर्वत्र भेदः वीक्ष्यते ॥ १ ॥

अन्वय—मध्यस्थैः यस्य पृच्छयते स स्वं धर्मं शुभं वदेत् तदन्यं
दुष्टं मन्यते ततः जनः संशयालुः ॥ २ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने भगवान् से पूछा संसार में ईश्वर के विषय
में, गुरु में, देवों में, धर्मशास्त्रों में, क्रियाओं में अनुयोग तथा आचार में
सर्वत्र भेद दिखाई देता है। मध्यस्थ लोग जिसे पूछते हैं वही अपने
धर्म को श्रेष्ठ बताता है एवं दूसरों के धर्म को खराब बताता है अतः लोक
संशयी होते हैं।

श्री भगवानुवाच

या गतिः सा मतिरिति न्यायात्तत्त्वेऽप्यतत्त्वधीः ।
द्रव्यक्षेत्रकालभावा-न्नान्वेति प्रायशो मतिः ॥ ३ ॥

अन्वय—या गतिः सा मतिः इति न्यायात् द्रव्यक्षेत्रकालभावात्
तत्त्वे अपि अतत्त्वधीः प्रायशः मतिः न अन्वेति ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान् ने गौतम से कहा कि हे गौतम ! जीवकी जैसी
गति वैसी ही मति होती है इस न्याय से द्रव्यक्षेत्रकालभाव से तत्त्व

वस्तु में भी प्रायः अज्ञानी (अतत्त्वज्ञ) अपनी बुद्धि का योजन नहीं कर पाता है ।

तस्या नैर्मल्यसंपत्त्यै दयाशीलतपःश्रुतैः ।
परीक्षणीयो धर्मोऽपि कषैः स्वर्णमिवोत्तमैः ॥ ४ ॥

अन्वय—उत्तमैः कषैः स्वर्ण इव तस्य नैर्मल्यसंपत्त्यैः दया शील तपः श्रुतैः धर्मः अपि परीक्षणीयः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार उत्तम कसौटियों से सोने की परख की जाती है वैसे ही आचार की निर्मलता की प्राप्ति के लिये धर्म की दया शील तप तथा शास्त्रों से परीक्षा करनी चाहिए ।

रागद्वेषमोहदोषाः साम्यभावनया हृदि ।
क्षिप्त्वा देवाः प्रतीतास्ते व्यतीता भवविभ्रमात् ॥ ५ ॥

अन्वय—रागद्वेषमोहदोषाः हृदि साम्यभावनया क्षिप्त्वा ते देवाः प्रतीता भवविभ्रमात् व्यतीता ॥ ५ ॥

अर्थ—जिनके हृदय में राग द्वेष मोह दोषादि साम्यभाव में विलीन हो गये हैं अर्थात् इन भावों का उपशमन हो गया है वे देवता रूप हैं वे संसारचक्र से मुक्त हो गए हैं ।

तदुक्तमार्गे ये लीना मीना इव महोदधौ ।
गुरवो गुरवो ज्ञान-श्रद्धाचारतपोगुणैः ॥ ६ ॥

अन्वय—महोदधौ मीना इव ये तदुक्तमार्गे लीनाः गुरवः ज्ञान-श्रद्धाचारतपोगुणैः गुरवः ॥ ६ ॥

अर्थ—महासमुद्र में मछलियों की तरह जो अर्हत कथित मार्ग में लीन है, वह गुरु ज्ञान दर्शन चारित्र तथा तपो गुणों से महान् है ।

वेषः सधर्माचारेऽपि क्रिया शास्त्रार्थपद्धतिः ।
सैव प्रमाणं वैराग्यं ज्ञानं श्रद्धा यतोऽधिका ॥ ७ ॥

अन्वय—धर्माचारे स वेषः अपि क्रिया, सा एव शास्त्रार्थपद्धतिः
वैराग्यं प्रमाणं ज्ञानं यतः अधिका श्रद्धा ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्माचरण में वह साधु-वेष भी क्रिया का ही अंग है वही
शास्त्रोक्त प्रणाली है और वैराग्य ज्ञान का प्रमाण है जिससे अधिक श्रद्धा
उत्पन्न होती है ।

वल्गयाश्रोकुशेनेभो नस्त्यानड्वान् वशीभवेत् ।
वधूर्नाथिकया शास्त्रोपदेशेन तथा पुमान् ॥ ८ ॥

अन्वय—वल्गया अश्व अंकुशेन च इभ नस्त्या अनड्वान् वधूः
नाथिकया वशीभवेत् तथा शास्त्रोपदेशेन पुमान् ॥ ८ ॥

अर्थ—लगाम से घोड़ा, अंकुश से हाथी, नाथ से बैल, नथ से बहू
जैसे वश होती है वैसे ही शास्त्र के उपदेश से (बुद्धिमान) पुरुष भी वश
होता है ।

शास्त्रं शास्त्रान्तरदृढं गुरुपरंपरागमः ।
पारंपर्यं विनानेष्टं तत्र भिल्ल्या निदर्शनम् ॥ ९ ॥

अन्वय—शास्त्रं शास्त्रान्तरदृढं गुरुपरंपरागमः पारम्पर्यं विना
इष्टं न तत्र भिल्ल्याः निदर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—एक शास्त्र दूसरे शास्त्र से ही दृढ होता है एवं गुरु परम्परा
से आगम (ज्ञान) की प्राप्ति होती है । गुरु परम्परा के बिना प्राप्त शास्त्र
इष्ट फलदायी नहीं होता है, यहाँ भीलनी का उदाहरण है ।

व्याख्यापि वृत्तिभाष्यादिसूक्त्या युक्त्या समर्थया ।
शुद्धागमाविरोधेन भुक्तिमुक्तिप्रदा नृणाम् ॥ १० ॥

अन्वय—समर्थया सूक्त्या युक्त्या वृत्तिभाष्यादि व्याख्या अपि
शुद्धागम अविरोधेन नृणां भुक्ति मुक्तिप्रदा ॥ १० ॥

अष्टविंशतितमोऽध्याया

२५५

अर्थ—समीचीन सूक्तियों युक्तियों से समर्थित वृत्तिभाष्यादि व्याख्या भी शुद्ध ज्ञान के ही अंग हैं अतः वे मनुष्य मात्र को भुक्ति और मुक्ति देने वाली होती है ।

रूचिं विनापि सद्वाक्यं हिताय रौहिणेयवत् ।

धर्मोपदेशे शुद्धत्वं केवलज्ञानशालिनाम् ॥ ११ ॥

अन्वय—रूचिं विना अपि सद्वाक्यं रोहिणेयवत् हिताय केवल-ज्ञानशालीनां धर्मोपदेशे शुद्धत्वं ॥ ११ ॥

अर्थ—विना रूचि सुना हुआ गुरु का सद्वाक्य भी रोहिणेय चोर की तरह हितकारी होता है उसी प्रकार केवली भगवन्तों के धर्मोपदेश में शुद्धता होती है ।

तद्भावेऽवधिमनः-पर्ययश्रुतधीभृताम् ।

केवलात् श्रुतधीः श्रेष्ठा यतः प्रकृतिकारणात् ॥ १२ ॥

अन्वय—तद् अभावे अवधिमनःपर्ययश्रुतधीभृताम् केवलात् श्रुतधीः श्रेष्ठा यतः प्रकृतिकारणात् ॥ १२ ॥

अर्थ—उन केवलज्ञानी गुरुओं के अभाव में अवधि मनःपर्यय व श्रुत-ज्ञानियों का उपदेश सुनना चाहिए । केवल ज्ञानियों से (मुण्डकेवलियोंसे) श्रुतज्ञानी प्रकृति के कारण श्रेष्ठ होता है क्योंकि वे उपदेश देते हैं और केवलि मौन धारण करते हैं ।

श्रुतज्ञानेऽक्षरं मुख्यं संज्ञा-व्यञ्जन-लब्धिभिः ।

तत्रिधा तत्र संज्ञासौ भगवत्यां नमस्कृता ॥ १३ ॥

अन्वय—संज्ञा-व्यञ्जन-लब्धिभिः श्रुतज्ञाने अक्षरं मुख्यं तत् त्रिधा तत्र असौ संज्ञा भगवत्यां नमस्कृता ॥ १३ ॥

अर्थ—संज्ञाक्षर (लिपि) व्यञ्जनाक्षर (उच्चार) लब्ध्यक्षर (लब्धिदायी) ये तीन प्रकार के अक्षर श्रुतज्ञान में मुख्य हैं उसमें भी

संज्ञाक्षर-लिपि मातृका रूप ब्राह्मी लिपि को भगवती सूत्र में मंगलाचरण में प्रमाण किया गया है। “ नमो बंभी लिवीए ”

तत्त्वज्ञानं देवतत्त्वा-द्रुतत्त्वादशंकितात् ।

सूत्रार्थालोकनाद्धर्मो-ऽक्षरभावादिचिन्तनात् ॥ १४ ॥

अन्वय-देवतत्त्वात् गुरुतत्त्वात् अशंकितात् सूत्रार्थालोकनात्
अक्षरभावादिचिन्तनात् तत्त्वज्ञानं धर्मः ॥ १४ ॥

अर्थ-देवतत्त्व गुरुतत्त्व एवं श्रद्धापूर्वक सूत्रों के अर्थ का आलोचन होने के कारण तथा मोक्षादि अक्षर भावों का श्रद्धा से चिन्तन होने के कारण जो तत्त्वज्ञान होता है वह धर्म ही है।

तदक्षरं पदं ब्राह्मी पूर्वमभ्यस्यते लिपिः ।

मूलं कलानां सर्वासां नेत्रं क्षेत्रं गुणश्रिया (यः) ॥ १५ ॥

अन्वय-पूर्वं तदक्षरं पदं ब्राह्मी लिपिः अभ्यस्यते कलानां
सर्वासां मूलं गुणश्रिया नेत्रं क्षेत्रं ॥ १५ ॥

अर्थ-इसीलिए सबसे पहले अक्षर पद रूपा ब्राह्मी लिपि का अभ्यास किया जाता है। यह लिपि सभी कलाओं का मूल होने के कारण तथा अपनी गुण सम्पदा से नेत्र रूप में प्रतिष्ठित है।

कुलदेवीव जीवानां जीवनं विश्वपावनम् ।

ज्ञानोपकारान्मोक्षस्य साधनं धनवर्धनम् ॥ १६ ॥

अन्वय-जीवानां कुलदेवी इव जीवनं विश्वपावनं ज्ञानोपकारात्
मोक्षस्य साधनं धनवर्धनम् ॥ १६ ॥

अर्थ-यह लिपिदेवी प्राणियों के लिए कुलदेवी की तरह जीवन रूप है एवं संसार को पवित्र करने वाली है। जीव मात्र का ज्ञान से उपकार करने के कारण यह धन बढ़ाने वाली तथा मोक्ष का साधन रूप भी है।

अष्टविंशतितमोऽध्यायः

अ. गी. - १७

२५७

देवी सरस्वती नाम्ना-धिष्ठात्री श्रुतदेवता ।

तस्या ब्रह्मेन्द्र एवान्यमते गणपतिः सुरः ॥ १७ ॥

अन्वय—नाम्ना देवी सरस्वती अधिष्ठात्री श्रुतदेवता तस्य ब्रह्मा
एव इन्द्र अन्यमते गणपति सुरः ॥ १७ ॥

अर्थ—सरस्वती नामकी यह श्रुतज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है इसका
स्वामी ब्रह्मा है पर अन्य मत के अनुसार इसके स्वामी गणपति देव हैं ।

देवा लोकान्तिकास्तस्या वश्याः सारस्वतादयः ।

स्वरव्यञ्जनरक्षायै यक्षास्तच्छक्तयः पराः ॥ १८ ॥

अन्वय—सारस्वतादयः लोकान्तिका देवा तस्याः वश्याः स्वर-
व्यञ्जनरक्षायै यक्षाः तस्याः पराः शक्तयः ॥ १८ ॥

अर्थ—सारस्वत आदि लोकान्तिक देव इस लिपि देवता के वशवर्ती
हैं । इसके स्वर व्यञ्जन की रक्षा करने के लिए यक्ष उसकी परा
शक्तियाँ हैं ।

जगतः पालनाद्विश्व-व्याप्तासौ शक्तिरूपिणी ।

मातृका गीयते श्वेताम्बरनिष्ठाऽर्थसाधनी ॥ १९ ॥

अन्वय—असौ शक्तिरूपिणी श्वेताम्बर निष्ठा अर्थसाधनी मातृका
जगतः पालनात् विश्वव्याप्ता ॥ १९ ॥

अर्थ—शक्तिरूपिणी श्वेत खड़िए से लिखी जाने वाली (श्वेतवस्त्र-
धारिणी) सर्वार्थ सिद्ध करने वाली यह मातृका जगत् का पालन करने के
कारण विश्वव्याप्त है अर्थात् समग्र विश्व में इसका संचार है ।

भगवद्ब्रह्मनाम्भोजे राजहंसीव दीव्यति ।

शुद्धवर्णा पदे रक्ता-ऽध्यक्षा मौक्तिकदर्शनी ॥ २० ॥

अन्वय—शुद्धवर्णा पदे रक्ता अध्यक्षा मौक्तिकदर्शनी भगवद्-
वदनाम्भोजे राजहंसी इव दीव्यति ॥ २० ॥

अर्थ—शुद्धवर्णवाली पदनिष्ठ (शब्दार्थ समन्वित) मोक्ष मार्ग बताने-
वाली मातृकादेवी भगवान के मुख कमल में राजहंस के समान शोभित
होती है ।

भारती भरतक्षेत्रोत्पत्तेर्गोरसवर्धनात् ।
सरस्वती महर्षीणां राजते राजतेजसा ॥ २१ ॥

अन्वय—भरतक्षेत्रोत्पत्तेः भारती गोरसवर्धनात् सरस्वती
महर्षीणां राजतेजसा राजते ॥ २१ ॥

अर्थ—भरतक्षेत्र में उत्पन्न होने के कारण यह भारती है वाणीका
संवर्द्धन करने के कारण यह सरस्वती है । यह मातृका महर्षियों के महान्
तेज से प्रकाशित है ।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां अष्टविंशतितमोऽध्यायः ॥



एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

मातृ का अर्ह वाची

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि मातृका में परमेष्ठि भगवान् प्रतिष्ठित है तो फिर इसके पूर्व दो रेखाओं को लिखने का क्या कारण है ?

श्री भगवान् ने कहा कि जो वस्तु अव्यक्त होती है वही बाद में व्यक्त होती है वैसे ही मातृका पहले नाभि में अव्यक्त होती है पर बाद में लिखने पर व्यक्त हो जाती है। इस मातृका का सार ॐ है उसकी नीचे की ग्रन्थियाँ नागलोक रूप में कही गई हैं और ऊँची रेफाकृति अग्निमुखमयी होने के कारण स्वर्गरूप में कही गई हैं। इसी ऊँ के आकार की एक रेखा आत्मा का तथा दूसरी अर्हत् परमात्मा का स्वरूप निर्देशित करती है। इस प्रकार इन दो रेखाओं से व्यक्त तथा अव्यक्त रूप से अर्ह पद का ध्यान करने का निर्देश किया गया है। इसी अध्याय में भगवान् ने ॐ कार के समग्र स्वरूप का इतर दर्शनों से भी विवेचन किया है एव सम्पूर्ण मातृका के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है।]

* * *

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्री शक्तिरिवाचिन्त्य-प्रभावा मातृका ह्यसौ ।

यस्यां विश्वप्रकाशात्मा परमेष्ठी प्रतिष्ठितः ॥ १ ॥

अन्वय—असौ मातृका ऐन्द्री शक्तिः इव अचिन्त्यप्रभावा हि यस्यां विश्वप्रकाशात्मा परमेष्ठी प्रतिष्ठितः ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने भगवान से कहा कि आत्मशक्ति की भांति अचिन्त्य प्रभाव वाली यह वर्णमातृका है जिसमें विश्वप्रकाशात्मा परमेष्ठी भगवान प्रतिष्ठित हैं ।

पूर्वलेखाद्वयं किञ्चिदव्यक्तमक्षरं ततः ।

बिन्दुलेखे मातृकायां कथं कथय नाथ मे ॥ २ ॥

अन्वय—ततः मातृकायां बिन्दुलेखे किञ्चित् अव्यक्तं अक्षरं पूर्व-लेखाद्वयं कथं नाथ मे कथय ॥ २ ॥

अर्थ—तो कृपाकर मुझे बताइए कि उस मातृका में बिन्दुलेखन के पूर्व कुछ अव्यक्त अक्षररूप में दो सीधी रेखाओं का लेखन क्यों किया जाता है ? = 0

श्री भगवानुवाच

अव्यक्तपूर्वं व्यक्तं स्याद् ग्रन्थसन्दर्भवत् खलु ।

व्याप्तेरितीदं तत्सूक्ष्मं सात्मकं भूतपञ्चकम् ॥ ३ ॥

अन्वय—अव्यक्तपूर्वं ग्रन्थसन्दर्भवत् खलु व्यक्तं स्यात् इति इदं व्याप्तेः तत्सूक्ष्मं भूतपञ्चकं सात्मकं भवति ॥ ३ ॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२६१

अर्थ—श्री भगवान ने कहा जो मातृका पहले नाभि में अव्यक्त थी वही बाद में लिखने पर व्यक्त हो जाती है जैसे ग्रंथकार पहले मानस में अव्यक्त रूप से ग्रंथ का संयोजन करता है और बाद में उसका प्रकटन करता है। यह सत्य है कि जो वस्तु अव्यक्त होती है वही बाद में व्यक्त हो जाती है पंच सूक्ष्म तन्मात्र से ही पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्म अव्यक्त पंचतन्मात्रां व्याप्ति से पंच भूतों के रूप में स्वयं प्रकट होती हैं।

आदौ वायुरधोलोके जगतः स्थितिकारणम् ।

तस्योर्ध्वं प्रायशो वृत्तिः श्वासस्येवात्र नाभितः ॥ ४ ॥

अन्वय—आदौ जगतः स्थितिकारणं वायुः अधोलोके (तिष्ठति) नाभितः श्वासस्य इव अत्र तस्य प्रायशः उर्ध्वं वृत्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—जगत की स्थिति का कारण यह वायु सर्वप्रथम अधोलोक में निवास करता है। नाभि से ऊँचे उठने वाले प्राणवायु (श्वास) की तरह इस वायु की भी प्रायः उर्ध्वगति रहती है।

एका रेखा ततो वायो-द्वितीया पयसः परा ।

वायुनोन्नीयमानत्वाद् घनस्याब्धेरिवोद्गतिः ॥ ५ ॥

अन्वय—ततः एका वायोः द्वितीया परा पयसः रेखा (तयोः) वायुना उन्नीयमानत्वाद् अब्धेः घनस्य इव उद्गतिः ॥ ५ ॥

अर्थ—उसके बाद एक रेखा वायु की तथा दूसरी जल की रेखा मिलकर वायु द्वारा समुद्र से ऊँचे उठाए जाने वाले बादल की तरह ऊँची उठती है।

तेनैव धारा लोकेऽपि दृश्या मेघस्य तादृशी ।

जलोपरिष्ठात् पृथिवी चतुरस्रा तदाकृतिः ॥ ६ ॥

अन्वय—तेन एव लोकेऽपि मेघस्य तादृशी धारा दृश्या। तदा जलोपरिष्ठात् चतुरस्रा पृथिवी तदाकृतिः (भवति दृश्यते वा) ॥ ६ ॥

अर्थ—इसी वायु से ऊँचे उठाई गई बादल की जलधारा ऊपर से आती दिखाई देती है। जल से परिपूर्ण धरती चारों ओर से जलाकार दिखाई देती है जैसे ही मातृका भी निकट से बाहर आती है पर गुरुद्वारा सिखाई जाने के कारण बाहर से आती दिखाई देती है।

तस्यामधोग्रंथिरूपा-न्नागलोकः स्फुटः स्मृतः ।

उच्चैरेफाकृतिः स्वर्ग-व्यापिकाग्निमुखाश्रयात् ॥ ७ ॥

अन्वय—तस्यां अधो ग्रंथिरूपात् नागलोकः स्फुटः स्मृतः उच्चै अग्निमुखाश्रयात् रेफाकृतिः स्वर्गव्यापिका ॥ ७ ॥

अर्थ—उस मातृका में नीचे की ग्रंथियाँ यानि उ ऊ की मात्राएँ (७ ८) नागलोक रूप में कही गई हैं और ऊँची रेफ की आकृति अग्नि-मुखमयी होने के कारण स्वर्ग व्यापक अर्थात् स्वर्गरूप में कही गई है। यह वर्णमातृका भूः भुवः स्वः का प्रतिनिधित्व करती है इस मातृका का सार उँ है जिसमें नीचे का भाग भू बीच का भुवः और ऊपर का स्वर्ग का रूप है।

शून्याकारं नभस्तस्मा-त्स्वर्गाकाशप्रतिष्ठया ।

ततोग्निभूतरेखैका साक्षात्तस्योर्ध्ववृत्तितः ॥ ८ ॥

द्वितीयाकारवाच्यं स्या-न्मनोरेखोर्ध्वगामिनः ।

मातृकायां ततो भूतपञ्चकं सात्मकं स्मृतम् ॥ ९ ॥

अन्वय—तस्मात् स्वर्गाकाशप्रतिष्ठया शून्याकारं नभः ततः अग्निभूतरेखा एका साक्षात् तस्य ऊर्ध्ववृत्तितः द्वितीया ऊर्ध्वगामिनः मनोरेखा अकारवाच्यं स्यात् ततः मातृकायां सात्मकं भूतपञ्चकं स्मृतम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

अर्थ—उस से (ॐ से) स्वर्ग और आकाश की प्रतिष्ठा के कारण उस पर का बिन्दु शून्याकार रूप आकाश है। उस नाभि से उठी अग्नि

स्वरूप एक रेखा । और दूसरी उर्ध्वगामी मन की रेखा । उ के रूप में प्रकट होती है । दोनो रेखाएँ संयोजित होनेसे अ होता है उसी अ से मातृका में पांचो वर्ग (क वर्ग च वर्ग ट वर्ग त वर्ग प वर्ग) अ से युक्त माने जाते हैं । पाणिनिशिक्षा में कहा गया है “ सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ” अर्थात् सर्वमुख स्थानों से उच्चरित व्यञ्जनों में एक अ वर्ण ही रहता है ।

प्रोक्तो(क्ता) विवाहप्रज्ञप्तावेवं लोकस्थितिस्ततः ।

तदूर्ध्वं सिद्धसंस्थानादौ नमः समुदीर्यते ॥ १० ॥

अन्वय—विवाह प्रज्ञप्तौ ॐ प्रोक्तः एवं लोक स्थितिः । तदूर्ध्वं सिद्ध संस्थानात् ॐ नमः सिद्धम् (इति) समुदीर्यते ॥ १० ॥

अर्थ—विवाह प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) में भी ॐ का महत्त्व प्रतिपादित किया है कि यह लोकस्थिति है । इस ॐ पर सिद्ध स्थित होने से ही वर्णमातृका के अध्ययन के प्रारम्भ में ॐ नमः सिद्धम् का उच्चारण किया जाता है ।

अकारस्यात्मनो लेखैका परा परमार्हतः ।

ततः सरेफे हे हंसे सिद्धेऽसौ पुरुषाकृतिः ॥ ११ ॥

अन्वय—अकारस्य एका लेखा आत्मनः परा परमार्हतः ततः सरेफे हे हंसे सिद्धे (सति) असौ (अ) पुरुषाकृतिः ॥ ११ ॥

अर्थ—अब अर्ह पद की सिद्धि एवं विवेचना करते हैं अकार की एक रेखा आत्मा का निर्देश करती है एवं दूसरी रेखा सभी व्यञ्जनों में पर रूप से स्थित रेखा अर्हत (परमात्मा) स्वरूप है । आत्मा व्यक्त रेखा है अव्यक्त रेखा परमात्मा स्वरूप है । तत्पश्चात् रेफ युक्त ह (हँ) में हंस रूप सिद्ध भगवान के होने से यह अर्ह पद पुरुषाकृति माना गया है ।

विन्दुशुषिरतद्गोलाकारस्थानमकारजः ।

अलोकस्यानन्तभावं वक्तव्यकारयुगं परम् ॥ १२ ॥

अन्वय—बिन्दुशुषिर तद्गोलाकार स्थानं अकारजः अलोकस्य
अनन्तभावं अकारयुगं परम् वक्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—अहं पर स्थित बिन्दु रूप गोलाकार स्थान भी अ से ही
उत्पन्न है क्योंकि अनुस्वार की उत्पत्ति भी अ के कंठ नासिका से उच्चा-
रित होने से होती है इसलिए अ के सभी व्यञ्जनों, अनुस्वार एवं विसर्ग में
भी रहने से तथा आत्मा और परमात्मा का वाचक होने से इस अ रूपी
लोक के अनन्त भाव कहे गए हैं । इन व्यक्त एवं अव्यक्त अ के दोनों
रूपों को सर्वोच्च कहा गया है ।

विवेचन—कंठ से जो अ का उच्चार होता है उसमें नासिका का उच्चार
अनुस्वार मिलने से अं का उच्चार होता है ।

एवमहं पदध्यानं व्यक्ताव्यक्ततयोदितम् ।

तद्ध्यानादव्ययः सिद्धः स्यादोकारस्वरूपभाक् ॥ १३ ॥

अन्वय—एवं व्यक्ताव्यक्ततया अहं पदध्यानं उदितम् । तत्
ध्यानात् ऊँकार स्वरूपभाक् सिद्धः अव्ययः स्यात् ॥ १३ ॥

अर्थ—इस प्रकार व्यक्त तथा अव्यक्त रूप से अहं पद का ध्यान
बताया गया है । इस अहं पद के ध्यान से ऊँकार स्वरूपमय अव्यय
सिद्ध पद की प्राप्ति होती है ।

अस्त्यन्यतीर्थिकश्रद्धा गणेशस्याकृतिर्ह्यसौ ।

तेना (न) प्रोच्चैः करोल्लासः पुरो बिन्दुश्च मोदकः ॥ १४ ॥

अन्वय—असौ हि गणेशस्य आकृतिः (इति) अन्यतीर्थिकश्रद्धा
अस्ति । तेन प्रोच्चैः करोल्लासः पुरः बिन्दुश्च मोदकः ॥ १४ ॥

अर्थ—यह ॐ गणेश की आकृति स्वरूप है ऐसा सनातन धर्मा-
वलम्बी मानते हैं । ॐ की ऊपर की वर्तुलाकार रेखा गणेश की सूंड का

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२६५

विलास है और सामने की बिन्दु उसमें रखा हुआ लड्डू है जो समृद्धि का सूचक है।

परेऽप्याख्यान्ति शेषोऽयं नागराजः कृतोत्फणः ।

नीचैः कुण्डलितः शब्दानुशासनादिकारकः ॥ १५ ॥

अन्वय—अयं कृतोत्फणः शब्दानुशासनादिकारकः नागराजः शेषः नीचैः कुण्डलितः परे अपि आख्यान्ति ॥ १५ ॥

अर्थ—दूसरे लोग ऐसा भी कहते हैं कि यह ॐ व्याकरण शास्त्र का उद्घोष करने वाला फन उठाए हुए नीचे कुण्डली मारे हुए शेषनाग हैं।

बिन्दुरूपो मणिस्तस्य पुरतः सद्भिरिष्यते ।

लेखाश्चतस्रः ता देव्या वाचोऽवस्थानिरूपिकाः ॥ १६ ॥

अन्वय—तस्य पुरतः मणिः बिन्दुरूपः (इति) सद्भिः इष्यते । ता लेखाः चतस्रः वाचः देव्याः अवस्था निरूपिका ॥ १६ ॥

अर्थ—उस शेषनाग के ऊपर स्थित मणि बिन्दु रूप है ऐसा सन्त पुरुष कहते हैं। उस शेषनाग के फण की चार रेखाएँ वाग्देवी की परांश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी चार अवस्थाओं की सूचक हैं।

विवेचन—चार अर्धगोलाकार रेखाएँ के योजन से अँकी आकृति होती है।

आहुरन्येऽक्षराणां स्यात् षष्टेरङ्गोयमीदृशः ।

मातृकायां नियमिताः षष्टिवर्णा न तत्परे ॥ १७ ॥

अन्वय—अन्ये अयं आहुः अक्षराणां (वर्णाणां) षष्टेः अंक ईदृशः स्यात् मातृकायां षष्टि वर्णाः नियमिताः न तत्परे ॥ १७ ॥

अर्थ—मातृका में साठ अंक माने गए हैं उससे अधिक नहीं अतः कुछ लोग यह कहते हैं कि वर्ष भी साठ प्रकार के होते हैं।

व्यञ्जनानि त्रयस्त्रिंशत् स्वराश्चैव चतुर्दश ।

अनुस्वारविसर्गौ च जिह्वामूलीय एव च ॥ १८ ॥

गजकुम्भाकृतिर्वर्णः प्लुताश्च परिकीर्तिताः ।

एवं वर्णा द्विपञ्चाशत् षष्टिर्वा मातृकाक्रमे ॥ १९ ॥

अन्वय—व्यञ्जनानि त्रयस्त्रिंशत् स्वराश्चैव चतुर्दश अनुस्वार-
विसर्गौ च जिह्वामूलीय एव च गजकुम्भाकृतिर्वर्णः प्लुताश्च परिकीर्तिताः
एवं मातृकाक्रमे वर्णाः द्विपञ्चाशत् षष्टिः वा ॥ १८ ॥ १९ ॥

अर्थ—३३ व्यञ्जन १४ स्वर अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय उपध्मानीय
तथा प्लुत आदि मिलाकर मातृका क्रम में वर्ण ५२ या ६० वर्ण माने गए हैं ।

षष्ट्यक्षराणां च पलं तैर्दंडो द्युनिशं च तैः ।

तत्षष्ट्या च ऋतुस्तेषां द्विषष्ट्यावर्षविंशिका ॥ २० ॥

अन्वय—षष्ट्यक्षराणां च पलं तैः दण्डः तैः च द्युनिशं तत्षष्ट्या
च ऋतुः तेषां द्विषष्ट्या वर्षविंशिका ॥ २० ॥

अर्थ—इन साठ पर ही सारा लोक व कालचक्र आधारित है इन साठ
अक्षरों से पल * ६० पलों से एक घड़ी ६० घड़ियों से रातदिन ६० रातदिन
एक ऋतु और १२० ऋतुओं से २० वर्ष का समय नियमित होता है ।

तासां त्रये वत्सराणा-मेकषष्टिः प्रकीर्तिता ।

मासषष्ट्या युगं यद्वा तैर्द्वादशभिरप्यसौ ॥ २१ ॥

अन्वय—तासां त्रये वत्सराणां एक षष्टिः प्रकीर्तिताः मासषष्ट्या
यद्वा तैर्द्वादशभिः असौ युगम् ॥ २१ ॥

अर्थ—उन तीन बीसी वर्षों से प्रभवविभव आदि साठ साठ वर्षों का
एक समय माना जाता है । ६० महिनों का युग तथा १२ महिनों का
एक समय वर्ष माना जाता है ।

* साठ अक्षरों को बोलने में जितना समय लगता है उसे पल कहते हैं ।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां कर्मकाण्डे एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२६७

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अकार से वीतराग का ग्रहण

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि ॐ कार का प्रथमाक्षर अकार है। उस अकार से अर्हत् ब्रह्माविष्णु महेश में से किन का ध्यान करना चाहिये ?

श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि अर्हत् शुद्ध स्वरूपी हैं उनका जरामरण नहीं है अतः अव्यय रूप यह अकार अर्हद्वाचक है। अकार के संवृत विवृतादि चौबीस भेद हैं एवं अर्हत्तों के भी ऋषभादि चौबीस रूप हैं यह अकार नाभि में अव्यक्त निराकार है तथा लिखने पर व्यक्त साकार है। नाभिराज से उत्पन्न आदिनाथ से सारी वर्ण व्यवस्था प्रारम्भ हुई तो अकार से भी सम्पूर्ण मातृका की वर्ण व्यवस्था उत्पन्न हुई है। यह अकार प्रकृति से धवल है अतः इसे कृष्ण कहना समीचीन नहीं है। ज्ञानमयता के कारण विष्णु अथवा अर्हत् भगवान् में जगत व्याप्त है यह व्याप्ति मायामय माने जाने वाले किसी भी देवता में नहीं हो सकती है। अ से आदिदेव अर्हत् ऋषभदेव का ग्रहण करना चाहिये तथा म से महावीर। इस प्रकार ॐ नमः कहने से २४ तीर्थकरो को नमस्कार किया जाता है। अकार पृथ्वी तत्व के रूप में माना जाता है अतः अपने इष्ट की सिद्धि के लिए अ से अर्हत् भगवान का ही ग्रहण करना चाहिये।]

* * *

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रं रूपं यथा मुख्यं सर्वदेवेषु गीयते ।

ॐकारस्तद्वर्णेषु तत्राकारः पुरस्सरः ॥ १ ॥

अव्ययत्वादकारस्या-नेकेऽर्थाः सद्भिराहिताः ।

तेनाकारेण किं ध्येयो-ऽर्हन्वा कृष्णो विधिर्भवः ॥ २ ॥

अन्वय—यथा सर्वदेवेषु ऐन्द्रं रूपं मुख्यं गीयते तद्वत् ॐकारः वर्णेषु तत्र अकारः पुरस्सरः ॥ १ ॥

अन्वय—अव्ययत्वाद् अकारस्य अनेके अर्थाः सद्भिः आहिताः तेन अकारेण अर्हन् वा कृष्णः विधिः भवः किं ध्येयः ॥ २ ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा कि जिस प्रकार सभी देवों में इन्द्र को मुख्य माना जाता है वैसे ही सभी वर्णों में ॐकार की प्रधानता है। उस में प्रथमाक्षर अकार है ॥ १ ॥ अव्यय होने के कारण अकार के अनेक अर्थ सन्तों ने कहे हैं अतः उस अकार से अर्हत् अथवा ब्रह्मा विष्णु महेश में से किन का ध्यान करना चाहिए ॥ २ ॥

श्री भगवानुवाच

कारागृहं च संसारो जीवयोनिः भवभ्रमः ।

तदभावादकारोऽर्हन् कैवल्यादक्षरादिमः ॥ ३ ॥

अन्वय—संसारो कारागृहं जीवयोनिः च भवभ्रमः तद् अभावात् कैवल्यात् अक्षरादिमः अकारः अर्हन् ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान ने कहा कि संसार कारागृह रूप है और इस में विचरण करने वाली जीवयोनि भवभ्रमण करती रहती है अर्हन् शुद्ध स्वरूपी

है एवं उनको न तो जरामरण का चक्कर है और न भवभ्रमण है अतः अक्षरों में प्रथम अक्षर यह अकार अर्हन् वाचक है ।

नराः प्राणभृतां मुख्याः प्रागुक्तास्तेषु शुद्धवाक् ।
वाक्शुद्धिर्मातृकाभ्यासा-दकारस्तन्मुखे ततः ॥ ४ ॥

अन्वय—प्राणभृतां नराः मुख्याः तेषु शुद्धवाक् प्रागुक्ता वाक्शुद्धिः
मातृकाभ्यासात् ततः अकारः तन्मुखे ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवधारियों में नर मुख्य है और नरो में शुद्ध बोलने वाले मुख्य माने गए हैं । वर्णमातृका में (वाक् शुद्धि) अभ्यास में प्रथमाक्षर अकार है ।

भवेत्सिद्धिर्नृलोकस्य लोकविष्णोः सनामिगः ।
नाभिजत्वादकारोऽर्हन् ततः संवृतयत्नवान् ॥ ५ ॥

अन्वय—स (परमात्मा) नाभिगः । ततः नाभिजत्वाद् अकारः
ततः संवृतयत्नवान् अर्हन् । (तस्य) लोकविष्णोः (उपासनया)
नृलोकस्य सिद्धिः भवेद् ॥ ५ ॥

अर्थ—वह अकार नाभि से उत्पन्न है । सर्वव्यापी ऋषभदेव भी नाभिराजा से उत्पन्न हुए हैं अतः अकार भी अर्हत् रूप ही है । उनकी अर्थात् अकार और ऋषभदेव की उपासना करने से संसार में चारित्रवान् उद्यमी पुरुषको संवृत्त अकार के प्रयोग से सिद्धि प्राप्त होती है ।

तथाष्टादशधाकारो विवाराच्छाब्दिके नये ।
षोढा संवृतयत्नेन चतुर्विंशतिधा ततः ॥ ६ ॥

अन्वय—तथा शाब्दिके नये विवारात् अष्टादशधा अकारः षोढा
संवृतयत्नेन ततः चतुर्विंशतिधा ॥ ६ ॥

अर्थ—व्याकरण शास्त्र में विवृत्त यत्न युक्त अकार के अष्टारह प्रकार होते हैं । संवृतयत्नवान् अकार ६ प्रकार का होता है इस प्रकार अकार के २४ प्रकार हुए । इसी प्रकार अर्हतों के २४ प्रकार होते हैं ।

उच्चारणेऽपि शब्देन यदाकारो निराकृतिः ।

लेखने साकृति द्वेधा मुक्तो वा मोचकोऽप्ययम् ॥ ७ ॥

अन्वय—यत् उच्चारणे अपि शब्देन अकारः निराकृतिः । लेखने साकृतिः । द्वेधा मुक्तः वा मोचकः अपि अयम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उच्चारण में भी शब्दोच्चार में अकार निराकार है । लिखने पर वह आकृति युक्त है इस प्रकार वह मुक्त निराकार भी है और मोचक (साकार) भी है ।

आकारस्तत एवास्य स्वरूपादीर्घतां दधौ ।

अर्हत्पार्श्वस्थितेर्वेत्ता तेनाकारं निषेवते ॥ ८ ॥

अन्वय—ततः आकारः अस्य एव स्वरूपात् दीर्घतां दधौ । तेन अर्हत् पार्श्वस्थितेः वेत्ता ते आकारं निषेवते ॥ ८ ॥

अर्थ—इसीलिए आकार (बिम्ब) इन्हीं के स्वरूपमय होने के कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है । अर्हत् भगवान की सन्निधि के कारण ज्ञानी उनके आकार (बिम्ब) की भी पूजा करते हैं ।

एकोऽप्यकारस्तादात्म्याच्चतुर्विंशतिधा भवेत् ।

आकारादिभिदा तद्वदहर्नेकोऽपि वस्तुतः ॥ ९ ॥

अन्वय—एकः अपि अकारः तादात्म्यात् आकारादिभिदा चतुर्विंशतिधा भवेत् तद्वत् अर्हन् वस्तुतः एकः अपि ॥ ९ ॥

अर्थ—एक ही अकार तत् तत् आकारों से २४ प्रकार का होता है वैसे ही २४ तीर्थकरों में अर्हत् वस्तुतः एक ही हैं ।

वर्णव्यवस्था सकलाप्याद्यान्नाभिभुवोऽर्हतः ।

तथाकारादसौ स्पष्टा साक्षाद्विश्वंभरोऽप्ययम् ॥ १० ॥

अन्वय—नाभिभुवः आद्यात् अर्हतः सकला अपि वर्णव्यवस्था स्पष्टाः तथा अकारात् (वर्णव्यवस्था स्पष्टा) साक्षात् विश्वम्भरः अपि अयम् ॥ १० ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

२७१

अर्थ—जिस प्रकार नाभिराज से उत्पन्न आदि अरिहन्त ऋषभदेव से सारी वर्ण व्यवस्था प्रारम्भ हुई है वैसे ही अकार से भी मातृका में सम्पूर्ण वर्णों की व्यवस्था स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऋषभदेव की तरह यह अकार साक्षात् विश्वम्भर भी है क्यों कि इससे अखिल विश्व को व्याप्त करने वाली सम्पूर्ण वर्णमातृका समाई हुई है।

तेनाकारस्य मुख्यत्वं यवनाध्ययनेऽप्यहो !

ऋजुः प्रकृतिधवलः स कृष्णो नैव युज्यते ॥ ११ ॥

अन्वय—अहो यवनाध्ययनेऽपि तेन अकारस्य मुख्यत्वं स ऋजुः प्रकृतिधवलः कृष्ण नैव युज्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—यवनों के शास्त्र में भी अकार की महत्ता है यह अकार सरल है एवं प्रकृति से धवल है इसे कृष्ण कहना समीचीन नहीं है।

आकारकेवलात्मास्य रूपं स्त्रीलिंगसंगजम् ।

शाब्दिका अपि न प्राहुः कृष्णमायाऽस्य तत्कुतः ॥ १२ ॥

अन्वय—आकार केवलात्मा अस्य स्त्रीलिंग संगजम् रूपं शाब्दिका अपि न प्राहुः तत्कुतः अस्य कृष्णमाया ॥ १२ ॥

अर्थ—आकार इस अकार की शुद्ध बुद्ध आत्मा है। इसका स्त्रीलिंग संगत रूप तो वैयाकरण भी नहीं कहते हैं तो इसकी कृष्णमाया (लक्ष्मी) होने का तो सवाल ही क्या है ?

ज्ञानात्मना जगद्व्याप्ति-विष्णौ वाहति चार्हति ।

न सा मायामये मन्यमाने देवेऽस्ति तत्त्वतः ॥ १३ ॥

अन्वय—विष्णौ वा अर्हति च ज्ञानात्मना जगद्व्याप्तिः अर्हति न सा तत्त्वतः मायामये मन्यमाने देवेऽस्ति ॥ १३ ॥

अर्थ—ज्ञानमयता के कारण विष्णु अथवा अर्हत् भगवान की जगत् में व्याप्ति है यह व्याप्ति वास्तव में मायामय (स्त्रीसहित) माने जाने वाले देव में नहीं हो सकती है।

अ इत्यर्हन् आदिदेवो महावीरो मतिस्मृतः ।

अं नमः कथनादर्हत्तुर्विंशतिमानमेत् ॥ १४ ॥

अन्वय—अ इति आदिदेवः अर्हन् मति महावीरः स्मृतः अं नमः
कथनात् अर्हत् चतुर्विंशतिं आनमेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—अ से आदिदेव अर्हत् ऋषभदेव का ग्रहण करना चाहिए
म से महावीर । इस प्रकार अं नमः कहने से २४ तीर्थंकरों को नमस्कार
करना चाहिए ।

मश्च शंभुरनेकार्थेऽपवर्गान्तप्रतिष्ठितः ।

महाब्रह्मपदे मूर्धन्यारोहे स्वरसंगतः ॥ १५ ॥

अन्वय—स्वरसंगतः महाब्रह्मपदे मूर्धनि आरोहे अनेकार्थे मः
अपवर्गान्तप्रतिष्ठितः शम्भुः ॥ १५ ॥

अर्थ—स्वर से युक्त महाब्रह्मपद स्वरूप अं स्वर के मस्तक पर सवार
अनेक अर्थ से म अर्थात् अं सिद्धशिला पर प्रतिष्ठित सिद्धभगवान के
समान है ।

सिद्धस्यार्थो विन्दुरूप-मनाकारात्तदीयभूः ।

स्थानं सिद्धार्थभूस्तेन महावीरो जिनः स्मृतः ॥ १६ ॥

अन्वय—अनाकारात् तदीयभूः विन्दुरूपं सिद्धस्य अर्थः ।
सिद्धार्थभूः स्थानं तेन महावीरो जिनः स्मृतः ॥ १६ ॥

अर्थ—अनाकार होने के कारण उसी से उत्पन्न विन्दु सिद्ध का ही
वाचक है । अर्थात् म का विन्दु रूप सिद्ध का ही अर्थ है । सिद्धार्थ से
उत्पन्न जिनेश्वर भगवान को महावीर कहते हैं ।

सिद्धार्थाद्वा भवत्येष भासमाने स्वरात्मनि ।

मकारेण महावीरो वाच्यः सिद्धार्थभूरिति ॥ १७ ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अ. गी. -१८

२७३

अन्वय—स्वरात्मनि भासमाने एष सिद्धार्थात् भवति मकारेण
महावीरो वाच्यः सिद्धार्थभूः इति ॥ १७ ॥

अर्थ—स्वर रूप में प्रकाशित अनुस्वार रूप म (अं) अर्थ से होता है। महावीर भी सिद्धार्थ के पुत्र है अतः मकार से महावीर भी यह वाच्यार्थ सिद्ध होता है।

शिवरूपमनुस्वारे-ऽनाकाराद्यस्तदात्मनः ।

भूः स्थानं नेमिनाथोऽर्हन् ख्यातस्तेन शिवात्मभूः ॥ १८ ॥

अन्वय—यः आत्मनः अनाकारात् अनुस्वारे शिवरूपं भूः स्थानं
तेन शिवात्मभूः नेमिनाथः अर्हन् ख्यातः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो म आत्मा की निराकारता के कारण शिवस्वरूप है इसी से शिवादेवी से उत्पन्न अर्हन् नेमिनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए।

नमः प्रसिद्धं यद्विन्दुरूपं तथा विसर्जनम् ।

द्वैधा प्रकृत्यास्तदपि अकारादि स्वराश्रितम् ॥ १९ ॥

अन्वय—यत् नमः प्रसिद्धं (तत्) विन्दुरूपं तथा विसर्जनं द्वैधा
प्रकृत्याः तदपि अकारादि स्वराश्रितम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो नमः रूप से प्रसिद्ध है वह विन्दुरूप ही है न एवं म दोनों ही अनुस्वार हैं नमः के आगे विसर्ग है। ये विसर्ग तथा अनुस्वार प्रकृति से दो प्रकार के हैं पर अकारादि स्वरों पर ही आश्रित हैं इनसे परे इन विसर्ग तथा अनुस्वार की स्थिति नहीं है।

सोऽहं हंस सदा जापो-ऽनाहतो योगिनां मतः ।

तत्राप्यकारवाच्योऽर्हन् नियमाद् योगसाधने ॥ २० ॥

अन्वय—योगसाधने नियमाद् अनाहतो सोऽहं हंस जापः सदा
योगिनां मतः तत्रापि अर्हन् अकारवाच्यः ॥ २० ॥

अर्थ—योग साधना में नियमपूर्वक सदा सोऽहं (वह मैं हूँ) व हं स (मैं वह हूँ) का अनाहत जाप योगी लोग करते हैं वहाँ भी अकार से अर्हन् का ग्रहण होता है ।

अकारः पृथिवी तत्त्व-मीपत्प्राग्भारिकास्थितः । .

स्वरशास्त्रे स्वेष्टसिद्धयै तद्वाच्योऽर्हन् न तत्परः ॥ २१ ॥

अन्वय—ईषत् प्राग्भारिकास्थितः अकारः पृथिवी तत्त्वं स्वरशास्त्रे स्वेष्टसिद्धयै तत् अर्हन् वाच्यः न तत्परः ॥ २१ ॥

अर्थ—ईषत् प्राग्भारिका स्थित अकार पृथ्वी तत्त्व के रूप में माना जाता है । स्वरशास्त्र में भी अकार पृथ्वी तत्त्व है । इष्ट सिद्धि के लिए उस अ से अर्हन् रूप भगवान और अन्य कोई नहीं लेना चाहिए ।

॥ इति श्रीअर्हद्रीतायां कर्मकाण्डे त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥



एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अर्हत् स्वरूप

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है कि अकार की तरह अर्हद् भगवान में अनन्त शक्तियाँ समाई हुई है उन अर्हत्तों में स्थित कुछ भावों का स्वरूप मुझे बताइए।

श्री भगवान ने उत्तर दिया अर्हत् परमात्मा सूर्य स्वरूपी सिद्ध हैं उनके नाम रूप अकार अष्ट वर्ग हैं (क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, अन्तस्थ उष्म विसर्ग। इसलिए वे अर्हत् अष्टमूर्ति ईश्वर भी हैं। द्वादश सूर्य राशियों के उदय के समय २४ हो जाते हैं वैसे ही अर्हत् भी २४ प्रकार के हैं। अकार से कृष्ण या शिव का बोध नहीं होगा क्योंकि इन स्वरूपों के वामांग में लक्ष्मी अथवा पार्वती प्रतिष्ठित है परन्तु अर्हत् भगवान के तो चरण कमलों के नीचे देवी की स्थिति है। अर्हत् परमात्मा सहनशीलता में साक्षात् पृथ्वी है। चित्त की निर्मलता में समुद्र का जल है, अप्रतिहत गति के कारण वायुरूप है एवम् उग्र तपस्या के तेज से वे अग्नि स्वरूप हैं और विरालम्ब होने से आकाश है। अर्थात् पंच महाभूत सदृश स्वरूप है।]

* * *

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

गौतम उवाच

ऐन्द्राद्या शक्तयोऽनन्ता यथार्हन्नामन्यकारके ।
देवेऽप्यनन्तवीर्यं स्यादैक्याद्वाचकवाच्ययोः ॥ १ ॥

अन्वय—श्री गौतम उवाच—

यथा अर्हन्नामिन अकारके ऐन्द्राद्या अनन्ता शक्तयः (तथा) देवे अपि
वाचकवाच्ययोः ऐक्यात् अनन्तवीर्यं स्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने कहा कि जिस प्रकार अर्हन् नाम स्वरूप
(वाचक) अकार में आत्म सम्बन्धी अनन्त शक्तियाँ समाई हुई हैं उसी
प्रकार अर्हत् देव अकार के वाच्य हैं अतः वाचक अकार और वाच्य
अर्हत् की एकता के कारण अकार में भी अनन्तवीर्यत्व निहित है ।

तत्केषांचन भावानां स्वभावं मेऽर्हति स्थितम् ।
विभावय स्यां येनाहं भावनात् पावनाशयः ॥ २ ॥

अन्वय—तत् अर्हति स्थितं केषाञ्चन भावानां स्वभावं मे विभा-
वय येन अहं (तेषां) भावनात् पावनाशयः स्याम् ॥ २ ॥

अर्थ—तो हे भगवान् उन अर्हतों में स्थित कुछ भावों का स्वरूप
मुझे समझाइए जिससे उन भावों की भावना से मैं पवित्रात्मा हो जाऊँ ।

श्री भगवानुवाच

अर्हन्नर्क सिद्धरूपोऽर्थ एष
सोऽर्च्यस्त्वब्जैरर्घ्यमूर्तिं मुखेऽहः ।
तत्संज्ञायामष्टवर्गा ह्यकारे
तेनैवार्हन्नीश्वरोप्यष्टमूर्तिः ॥ ३ ॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२७७

अन्वय—श्री भगवानुवाच—

अर्हन् अर्कः सिद्धरूपः अर्थः एषः स तु अहः मुखे अब्जैः अर्घ्य-
मूर्तिः अर्च्यः तत्संज्ञायां अकारे अष्टवर्गा हि तेन एव अर्हन्नीश्वरोऽपि
अष्टमूर्तिः ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान् ने कहा हे गौतम अर्हन् परमात्मा सूर्य स्वरूपी
सिद्ध हैं। प्रभातकाल में कमलों के द्वारा उन पूजनीय मूर्ति की अर्चना
होनी चाहिए। उनके नाम रूप अकार में अष्टवर्ग है (क वर्ग, च वर्ग,
ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, अन्तस्थ, उष्म, विसर्ग) इसीलिए वे अर्हन् अष्ट-
मूर्ति ईश्वर भी हैं।

श्री आदिदेवो हरुणोऽर्यमा वा
अहर्पति निर्मलवृत्तकान्त्या ।

अर्हन् सदार्कस्तदकारनाम्ना
प्रकाशकः शाश्वत एष विश्वे ॥ ४ ॥

अन्वय—श्री आदिदेवो हि निर्मल वृत्त कान्त्या अरुणो अर्यमा
अहर्पति वा। तत् अकारनाम्ना अर्हन् सदा अर्कः एषः विश्वे शाश्वतः
प्रकाशकः ॥ ४ ॥

अर्थ—श्री आदिदेव अपने निर्मल चारित्र के तेज से अरुण (प्रभात-
कालीन सूर्य) अर्यमा अथवा दिनपति सूर्य हैं। अकार नामी वे अर्हत्
नित्य सूर्य की तरह सदैव जगत के शाश्वत प्रकाशक हैं।

अर्का भुवि द्वादश लोकसिद्धा
होराश्रयात्ते द्विगुणा भवन्ति ।

अर्हं चतुर्विंशतिधा तथैवाऽ-
कारोऽपि तद्वाचक एष बोध्यः ॥ ५ ॥

अन्वय—भुवि अर्का द्वादशलोकसिद्धाः ते होराश्रयात् द्विगुणाः भवन्ति । तथैव अर्हन् चतुर्विंशतिधा एषः अकारः अपि तद्वाचकः बोध्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—संसार में द्वादश सूर्य लोक प्रसिद्ध हैं राशियों के उदय के समय अर्थात् घंटों के आश्रय से ये २४ प्रकार के हैं यह अकार भी उन्हीं अर्हत् भगवान के २४ रूपों का संकेत करता है क्योंकि अकार के १८ विवृत्त रूप एवं ६ संवृत्त प्रकार माने जाते हैं ।

स्युर्द्वादशाकारभिदोऽत्र दीर्घ

ह्रस्वप्रपाठात् किल मातृकायाम् ।

प्लुतस्य शास्त्रे बहुशोऽप्रयोगात्

सव्यञ्जनोन्यश्च तथास्त्यकारः ॥ ६ ॥

अन्वय—अत्र मातृकायां किल दीर्घ ह्रस्व प्रपाठात् अकारः द्वादशाकारभिदः स्युः शास्त्रे प्लुतस्य बहुशः अप्रयोगात् सव्यञ्जनः अन्यश्च तथा अस्ति अकारः ॥ ६ ॥

अर्थ—मातृका में दीर्घ एवं ह्रस्व के भेद से अकार के १२ प्रकार होते हैं । प्लुत का शास्त्रों में अधिकतर प्रयोग नहीं है अतः वह व्यञ्जन के साथ ही रहता है और बाकी अकार की तरह ही होता है ।

अजाऽच्युताद्या अपि ये पदार्थाः

स्युस्तेप्यकारेऽर्हति चाक्षरत्वात् ।

अनुत्तरत्वादपि बोधदृग्भि-

रहन् अकारे ह्यजरामरत्वात् ॥ ७ ॥

अन्वय—अजाऽच्युताद्या अपि ये पदार्थाः (सन्ति) ते अपि च अक्षरत्वात् अर्हति अकारे स्युः बोधदृग्भिः अनुत्तरत्वादपि अजरामरत्वाद् अकारे अर्हन् हि ॥ ७ ॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२७९

अर्थ—संसार में जो पदार्थ अनादि अनन्त हैं वे भी अविनाशी होने के कारण अकार स्वरूप अर्हत् में समाए हुए हैं। ज्ञान चक्षुओं से अनुपम और अजर अमर होने के कारण अकार में निश्चय रूप से अर्हत् भगवान समाविष्ट हैं।

अर्हन् अकारो भगवान् भवान्या
स्वमौलिमालालितैरपूजि ।

तेनाङ्घ्रिपीठेऽर्हत एव बिम्ब—
देवी विधेया बुधसूत्रधारैः ॥ ८ ॥

अन्वय—अकारो अर्हन् भगवान् भवान्या स्वमौलिमालालितैः अपूजि । तेन अर्हतः अङ्घ्रिपीठे एव बिम्बदेवी बुधसूत्रधारैः विधेया ॥ ८ ॥

अर्थ—अकार अर्हत् स्वरूप हैं एवं भगवती भवानी ने अपनी सुन्दर मस्तक मालाओं के द्वारा अकार स्वरूप अर्हत् भगवान् की पूजा की है। अतः अर्हत् भगवान के बिम्ब के चरण कमल के नीचे ही ज्ञानी सूत्रधार देवी के बिम्ब की रचना करते हैं।

अकारवाच्यस्तत एव न स्यात्
कृष्णो हरो वाप्यपरोऽत्र देवः ।

कृष्णस्य लक्ष्म्याः किल सव्यभागे—
ऽर्धाङ्गे निवेशेन भवस्य गौर्याः ॥ ९ ॥

अन्वय—कृष्णस्य सव्यभागे लक्ष्म्याः किल निवेशेन तथा च भवस्य अर्धाङ्गे गौर्याः निवेशेन ततः हरो कृष्णो वा अपरो देव अत्र अकारवाच्य एव न स्यात् ॥ ९ ॥

अर्थ—यह अ कृष्ण या शिववाचक क्यों नहीं है उसका विवेचन करते हैं। कृष्ण के वामांग में लक्ष्मी का निवास होने से तथा शिव के

अर्द्धाङ्ग में भगवती भवानी का निवास होने से कृष्ण शिव एवं अन्य देवता अकार से वाच्य नहीं हो सकते हैं क्योंकि अर्हत् भगवान के तो चरणों के नीचे देवी का स्थान है एवं इन देवताओं के पार्श्व में देवियों की स्थिति है ।

तितिक्षयाऽर्हन्नवनी च साक्षात्
शुद्धोऽम्बुराशेर्जलवत् स्वचित्ते ।

तथाऽनिलोऽप्यप्रतिबद्धचारे-

ऽनलप्रभावस्तपसोग्रधाम्ना ॥ १० ॥

अन्वय-अर्हन् तितिक्षया साक्षात् अवनी स्वचित्ते शुद्ध च अम्बुराशेर्जलवत् । अप्रतिबद्धचारे अनिलः अपि तपसोऽग्र धाम्ना अनल प्रभावः ॥ १० ॥

अर्थ-अर्हद् भगवान सहनशीलता में साक्षात् पृथ्वी हैं एवं चित्त की निर्मलता में समुद्र का जल है । अप्रतिहत गति के कारण वे वायु एवं अतिउग्र तपस्या के तेज से वे साक्षात् अग्नि हैं ।

गत्यांशुमानप्रतिहन्यमान
स्तीक्ष्णांशुमालीवसुदीप्रतेजाः ।

सौम्यः प्रकृत्या अमृतांशुरूपः

सदा निरालम्बतयांबराभः ॥ ११ ॥

अन्वय-गत्या अप्रतिहन्यमानः अंशुमान् तीक्ष्णांशुमालीव सुदीप्रतेजाः प्रकृत्या सौम्यः इति अमृतांशुरूपः सदा निरालम्बतया अम्बराभः ॥ ११ ॥

अर्थ-ये अर्हत् अप्रतिहत गति के कारण तीक्ष्ण किरणों से शोभित सुवर्ण भास्वर सूर्य हैं प्रकृति से सौम्य वे चन्द्रस्वरूप हैं एवं निरालम्ब होने के कारण वे आकाश हैं ।

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२८१

अस्यार्हतः श्रीऋषभात् ऋकारे

योगाद्भवेदर्ननु हस्तहर्षी

श्रीमान् महावीरविभुर्वहंस्तं

शीर्षे शिवोर्हपदवाच्य एषः ॥ १२ ॥

अन्वय—श्री ऋषभात् ऋकारे अस्य अर्हतः योगात् ननु अर् भवेत् । हस्तहर्षी श्रीमात् (मे से) महावीर विभुः । तं (मकारं) शीर्षे-वहन् एषः शिवः (ह) अर्हपदवाच्यः ॥ १२ ॥

अब अर्ह पद की सिद्धि करते हैं ।

अर्थ—श्री ऋषभदेव भगवान् के ऋकार में अ का योग होने पर अर् होता है । ह का अर्थ तो शिव ऋषि ही है । म से महावीर प्रभु होता है । उसी म को सिर पर धारण करता हुआ हं भी अर्ह पद से वाच्य हैं ।

ऋकारतः श्री ऋषभाख्ययार्हन्

आकारतस्त्वाद्य इतोः मकारः ।

श्रीमान्महावीर इति प्रसिद्धा

रामे चतुर्विंशतिरार्हतीयम् ॥ १३ ॥

अन्वय—ऋकारतः श्री ऋषभाख्या अर्हन् आकारतः तु आद्य इतः मकारः श्रीमान् महावीर इति रामे इयं चतुर्विंशति आर्हती प्रसिद्धा ॥ १३ ॥

अर्थ—अब रामशब्द में चौबीस तीर्थकरों की सिद्धि करते हैं । ऋकार से श्रीऋभदेव भगवान् का ग्रहण करना चाहिए । आ से उन्हें आदि मानना चाहिए । इसके बाद म से श्रीमान् महावीर प्रभु का ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार राम शब्द में चौबीस तीर्थकरों के समुदाय की सिद्धि होती है ।

ऋ एवं आ मिलने से रा बनता है ।

भूमिर्यदीषत्प्राग्भारा नाम्ना सीताज्जुनद्युतिः ।

तस्याः श्रीमान् पतिश्चार्हन् सीतापतिरुदीर्यत ॥ १४ ॥

अन्वय—सीतार्जुनद्युतिः ईषत्प्राग्भारा नाम्ना भूमिः तस्याः श्रीमान् अर्हत् पतिः सीतापति उदीर्यत ॥ १४ ॥

भगवान् की सीतापति नाम की सार्वमतासिद्ध करते हैं ।

अर्थ—ईषत्प्राग्भारा नामकी जो भूमि है उसके स्वामी अर्हत् भगवान् होने के कारण इन अर्हत् भगवान् को सीतापति कहा जाता है । उसे सीतार्जुनद्युति नाम कान्तिवाली सिद्धशिला का एक नाम सीता भी है सिद्धशिला पर विराजमान् अर्हत् सीतापति है ।

रकारे चरणे लीने कंठजत्वादकारवत् ।

हकारात् हर्षवान् अंगी ई ईषद्भुवमाश्रितः ॥ १५ ॥

अन्वय—रकारे चरणे लीने अकारवत् कंठजत्वात् हकारात् अंगी हर्षवान् ई ईषद् भुवमाश्रितः ॥ १५ ॥

अर्थ—अब ही के स्वरूप का विवेचन करते हैं । ह अकार की तरह कंठज होने के कारण तथा उसके चरण में रकार होने से ह से हर्षवान् यह जीव ई से ईषद् प्राग्भारा पृथ्वी का आश्रित है । अर्थात् ही जीव की उर्ध्व गति का वाचक है ।

तत्र प्रणवमध्यस्थाकारस्यैवोपयोगतः ।

हकार सिद्धये योग्यः सर्वमन्त्रप्रतिष्ठितः ॥ १६ ॥

अन्वय—तत्र प्रणवमध्यस्थ अकारस्य एव उपयोगतः सर्वमन्त्र-प्रतिष्ठितः हकारसिद्धये योग्यः ॥ १६ ॥

अर्थ—अब ॐ में ह का महत्त्व बताते हैं । प्रणव के मध्य में अकार जो हकार का वाचक है उसके उपयोग के कारण यह हकार सर्व मंत्रों में प्रतिष्ठित है । यह हकार सिद्धि के योग्य है ।

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२८३

रहौ निवार्य ध्येयं तत् अ इत्यर्थोऽथवा पदे ।

रहोरुभयतः स्थित्या-र्हन् वा सिद्धमकारतः ॥ १७ ॥

अन्वय—अथवा रहौ निवार्य पदे तत् अ ध्येयं वा रहोः उभयतः
स्थित्या अकारतः अर्हन् सिद्धम् ॥ १७ ॥

अर्थ—अब अरहा शब्द में अ का स्वरूप समझाते हैं । अथवा र एवं ह को छोड़कर पद में उस अ का ध्यान करना चाहिए । र एवं ह दोनों में अ की स्थिति होने के कारण अकार से अर्हन् पद की सिद्धि होती है । अरहा शब्द में आदि में अ व अन्त में अ है । र अग्नि स्वरूप तथा ह आकाश स्वरूप है । आकाश एवं अग्नि दोनों से अर्हत् स्वरूप की प्रतिष्ठा है ।

रहाम्यां यत्परे ^{*}द्वित्वं तदपि स्वरयोगजम् ।

व्योमाग्नि-तत्त्वयोः सिद्धिरित्याहुः स्वरवेदिनः ॥ १८ ॥

अन्वय—रहाम्यां परे यत् द्वित्वं तदपि स्वरयोगजम् । व्योमाग्नि-
तत्त्वयोः सिद्धिः इति स्वरवेदिनः आहुः ॥ १८ ॥

अर्थ—र एवं ह के परे जो द्वित्व होता है वह भी स्वर के योग से होता है । इनसे (र एवं ह से) आकाश एवं अग्नि तत्त्व से सिद्धि होती है ऐसा स्वरशास्त्री कहते हैं ।

के केवलं दधति ये स्युरकारभाजो—

ऽर्हध्यानतः सकलखेचरवन्दनीयाः

खे भुञ्जते ख विजयादुदिते स्वरवाद्यम्

प्राप्तुं विवेकसुदृशः खऽमखाद्यमोक्षात् ॥ १९ ॥

अन्वय—के केवलं दधति ? ये सकलखेचरवन्दनीया अर्हध्यानतः
अकारभाजः स्युः । विवेकसुदृशः अखाद्यमोक्षात् खं प्राप्तुं खविजयात्
ख उदिते स्वरवाद्यं भुञ्जते ॥ १९ ॥

* हार्दहस्वरस्याऽनुनवा - सिद्धहेम । ख = इन्द्रिय, ज्ञान । मोक्ष

अर्थ—अब प्रश्न है कौन केवलज्ञान को धारण करते है? उत्तर है—
अरिहन्तों के ध्यान से सब देवों और खेचरों से वन्दनीय अकार रूप जो
निराकार हो गए हैं वे विवेकदृष्टि अनाहारी मोक्ष से सुख प्राप्त करने के लिए
इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान के उदित होने पर अपना ज्ञान भोजन करते है ।

वर्णेषु सर्वेषु यदस्त्यकारः

श्रीमातृकायां सकलार्थयोगात् ।

तज्ज्ञानतोऽर्हन्नपि तद्वदेव

देवप्रभावात् परिभावनीयः ॥ २० ॥

अन्वय—सकलार्थयोगात् श्रीमातृकायां सर्वेषु वर्णेषु यत् अकार
अस्ति तदज्ञानतः देवप्रभावात् तद्वत् अर्हत् अपि परिभावनीयः ॥२०॥

अर्थ—अब अर्हत् भगवान् का सर्व विश्वव्यापी रूप सिद्ध करते हैं ।

अ में सकल अर्थों की स्थिति है एवं श्री मातृका में सभी वर्णों में
जो अकार समाया हुआ है अर्थात् अ समस्त मातृका का मूल है एवं
मातृका में सकल संसार समाया हुआ है उसी अकार की तरह अर्हत्
भगवान् भी अपने प्रभाव से सर्वव्यापी हैं । ऐसी परिभावना करनी चाहिए ।

ज्ञेयादनन्ताद्भगवाननन्तो—

ऽर्हस्तद्विवोधी स च वीतरागः ।

तत्पूजनात्तत् प्रणतेस्तदीय

ध्यानाद्भवेत्तन्मय एव सर्वः ॥ २१ ॥

अन्वय—ज्ञेयात् अनन्तात् तद्विवोधो अर्हन् भगवान् अनन्तः स
च वीतरागः । तत् पूजनात् तत् प्रणतेः तदीय ध्यानात् सर्व एव तन्मय
भवेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—संसार में ज्ञेय अनन्त हैं तो उनको जानने वाले अर्हत्
भगवान् भी अनन्त हैं । वे वीतराग हैं । उनके पूजन से, उनको नमस्कार
करने से तथा उन्हीं के ध्यान से यह समग्र विश्व तन्मय हो जाता है ।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां कर्मकाण्डे एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

२८५

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अकार में २४ तीर्थकरो की सिद्धि

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा है हे भगवान् अ में एकरूप से सभी ऋषभादि अरिहंतो को किस प्रकार वर्णित किया जा सकता है एवम् सभी स्वरो में एक अर्हत् किन गुणों द्वारा प्रतिपादित किये जा सकते है ?

श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि ऋषभादि सभी तीर्थङ्करों के जन्मस्थान, देवी, माता एवम् अन्य स्वरूपों में अकार की प्रधानता है। इस प्रकार अकार स्वर में २४ अर्हत् भगवान् चरितार्थ होते हैं। श्रुतधरो ने आकार योग से उनका स्मरण किया है। एक ही अर्हत् आकार से परापरतया अनेक हो जाते हैं जैसे एक ही अकार के संवृत विवृतादि २४ भेद होते हैं वे अर्हत् एक हैं पर दर्शन ज्ञान चास्त्रि से वे अनेक भी हैं। अवर्ण भी २४ प्रकार का है जो २४ तीर्थकरो का वाचक है।]

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐक्यादतः कथं सर्वेऽर्हन्तस्तत्र निवेदिताः ।

सर्वस्वरेषु चैकोऽर्हन् कैर्गुणैः प्रतिपाद्यते ॥ १ ॥

अन्वय—अतः ऐक्यात् सर्वे अर्हन्तः तत्र कथं निवेदिताः । सर्वस्वरेषु च एक अर्हन् कैः गुणैः प्रतिपाद्यते ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने पूछा है भगवान अ में एक रूप से सभी ऋषभादि अरिहन्तों को किस प्रकार वर्णित किया गया है । सभी स्वरो में एक अर्हन् किन गुणों द्वारा प्रतिपादित किए जा सकते हैं ?

श्री भगवानुवाच

अर्हन्नाद्योऽवनीशो वा-ऽनगारोऽष्टापदेऽचले ।

निवृत्तोऽभिजिति प्रोक्तो-ऽवतारोऽप्यष्टमः परैः ॥ २ ॥

अन्वय—श्री भगवानुवाच—

अर्हन् आद्यः अवनीशो अनगारो वा अष्टापदे अचले अभिजिति नक्षत्रे निवृत्तः परैः अष्टमः अवतारः अपि प्रोक्तः ॥ २ ॥

अर्थ—अब अ में ऋषभादि सभी तीर्थङ्करों का कथन करते हैं । ऋषभदेव आदि अर्हत् हैं आदि अवनीपति हैं, आदि अनगार (साधु) हैं । इन्हें अष्टापद पर्वत पर अभिजित्* नक्षत्र में कैवल्य की प्राप्ति हुई है । अन्य धर्मावलम्बी इन्हें अष्टम अवतार मानते हैं ।

* नक्षत्र २७ ही होते हैं पर अभिजित् नामका नक्षत्र २८ वा नक्षत्र माना जाता है । अन्य नक्षत्रों की कांति इस नक्षत्र में १३ अंश २० कला नहीं होती अपितु उत्तराषाढा नक्षत्र की १५ घटी तथा श्रवण नक्षत्र की प्रारंभिक ४ घटी मिलाकर इसमें मुल १९ घटी होती हैं । अभिजित् नक्षत्र को प्रत्येक कार्य में शुभ माना जाता है ।

अजितोऽर्हन्नयोध्याया-मवतारादधीश्वरः ।

सेव्यो देव्याप्यजितया यस्य लक्ष्माप्यनेकपः ॥ ३ ॥

अन्वय—अजितोऽर्हन् अयोध्यायां अवतारात् अधीश्वरः । देव्या अजितया अपि सेव्यः यस्य लक्ष्मा अपि अनेकपः ॥ ३ ॥

अर्थ—भगवान् अजितनाथ अयोध्या में अवतरित हुए वे अयोध्या के स्वामी थे अजितादेवी द्वारा वे पूजित हैं एवं उनका लाखों अनेकप अर्थात् हाथी है ।

अश्वलक्ष्मा शंभवोऽर्हन् भासुरोऽतिशयैर्घनः ।

अयोध्यायामभूदर्हन् अभिनन्दननामभृत् ॥ ४ ॥

अन्वय—शंभवः अर्हन् अश्वलक्ष्मा अतिशयैः घनः भासुरः । अर्हन् अयोध्यायां अभूत् अभिनन्दन नामभृत् ॥ ४ ॥

अर्थ—भगवान् सम्भवनाथ अश्वलाञ्छान वाले हैं बहुत अतिशयो से सुप्रदीप्त है । अभिनन्दन नाम वाले अर्हत् अयोध्या में हुए हैं ।

अलंकृतावतारेण अयोध्यानंततेजसा ।

येन श्री सुमतिर्देया-त्सोऽजरामरसम्पदम् ॥ ५ ॥

अन्वय—येन अनन्ततेजसा अवतारेण अयोध्या अलंकृता स श्री सुमति अजरामरसम्पदं देयात् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपने अनन्त तेज से अवतरित होकर अयोध्या नगरी को विभूषित किया वे श्री सुमतिनाथ अजरामरसम्पद यानि मोक्ष को प्रदान करें ।

पद्मप्रभोऽच्युताभ्यर्च्यो-ऽम्भोजलक्ष्मारुणद्युतिः ।

द्वेधाप्यङ्गप्रभावेन सुपार्श्वोऽनङ्गवारणः ॥ ६ ॥

अन्वय—अम्भोजलक्ष्मा अरुणद्युतिः पद्मप्रभः अच्युताभ्यर्च्यः । सुपार्श्वः अपि अङ्गप्रभावेन द्वेधा-अनङ्गवारणः ॥ ६ ॥

अर्थ—कमल लच्छन एवं लाल वर्ण वाले पद्मप्रभु अच्युता देवी द्वारा पूजित हैं। सुपार्श्वनाथ अपने अंग की कांति एवं महात्म्य से दोनों प्रकार से कामदेव का वारण करने वाले हैं।

अमृतद्युतिलक्ष्मानु-राधायामवतीर्णवान् ।

चन्द्रप्रभपुष्पदन्तोऽजिताचार्यस्त्वानतागतः ॥ ७ ॥

अन्वय—अमृतद्युति लक्ष्मा अनुराधायां अवतीर्णवान् चन्द्रप्रभः अजिताचार्यः पुष्पदन्तः आनतागतः ॥ ७ ॥

अर्थ—चन्द्रप्रभुस्वामी चन्द्र लच्छन वाले हैं एवं अनुराधा नक्षत्र में अवतरित हुए हैं। सुविधिनाथ अजितादेवी द्वारा अर्चित हैं एवं आनत नाम के देवलोक से इस धरती पर आए हुए हैं।

अशोकाचार्योऽशोकतरौ स्थातार्हन् शीतलः प्रभुः ।

अनगाराधिपः श्रेयान् अच्युतादवतीर्णवान् ॥ ८ ॥

अन्वय—अशोकतरौ स्थाता शीतल प्रभुः अर्हन् अशोकाचार्य अनगाराधिपः श्रेयान् अच्युतात् अवतीर्णवान् ॥ ८ ॥

अर्थ—अशोक वृक्ष के नीचे स्थित शीतल प्रभु अशोक नामक यक्ष से पूजित हैं। साधुओं में श्रेष्ठ श्रेयांसनाथ अच्युत नामक देवलोक से अवतरित हुए हैं।

अष्टकर्मविजिदष्ट-वस्तुभिः पूजितोऽष्टधा ।

वासुपूज्योऽमरेशाचार्यो विमलोऽनर्थवारणः ॥ ९ ॥

अन्वय—अष्टकर्म विजित् अष्ट वस्तुभिः अष्टधा पूजितः वासुपूज्यः अमरेशाचार्यः विमलः अनर्थवारणः ॥ ९ ॥

अर्थ—अष्टकर्मों को जीतने आले जलादि आठ वस्तुओं से अष्ट प्रकारी पूजा से पूजित वासुपूज्य स्वामी हैं। इन्द्र द्वारा पूजित विमलनाथ भगवान् अनर्थ का निवारण करने वाले हैं।

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अ. गी. - १९

२८९

अयोध्यायामनंतोऽर्हन् अंकुशाचर्योऽर्थ सिद्धिदः ।

धर्मोऽतिशयवान् अर्थः सिद्धोऽष्टशतसाधुभिः ॥ १० ॥

अन्वय—अनन्तः अर्हन् अयोध्यायां अंकुशाचर्यः अर्थसिद्धिदः ।
अष्टशत साधुभिः सिद्धः अतिशयवान् धर्मः अर्थः ॥ १० ॥

अर्थ—अयोध्या में अवतरित अनन्तनाथ भगवान् अंकुशानाम की यक्षिणी से पूजित हैं । सकलार्थ की सिद्धि करने वाले अतिशय युक्त धर्मनाथ की नित्य प्रार्थना करनी चाहिए । वे एक सौ आठ साधुओं के साथ सिद्ध गति को प्राप्त हुए हैं ।

अचिरादचिरासूनुः शान्तये शान्तिरेनसाम् ।

अबलाचर्यकुन्धुरोऽवतीर्णश्चापराजितात् ॥ ११ ॥

अन्वय—अचिरासूनुः शान्तिः एनसां शान्तये अचिरात् । अब-
लाचर्यः कुन्धुः अरः च अपराजितात् अवतीर्णः ॥ ११ ॥

अर्थ—अचिराजी के पुत्र शान्तिनाथ भगवान् शीघ्र पापों की शान्ति के लिए हो । कुन्धुनाथ भगवान् अबला देवी द्वारा पूजित हैं । अरनाथ भगवान् अपराजित देवलोक से अवतीर्ण हुए हैं ।

अवतीर्णोऽश्विनीचन्द्रे-ऽष्टमे केवलवान् यतिः ।

मल्लिनाथः सुव्रतोऽर्हन् अवतीर्णोऽपराजितात् ॥ १२ ॥

अन्वय—अश्विनी चन्द्रे अवतीर्णः अष्टमे (चन्द्रे) केवलवान् यतिः
मल्लिनाथः सुव्रतोऽर्हन् अवतीर्णः अपराजितात् ॥ १२ ॥

अर्थ—अश्विनी नक्षत्र के आठवे चन्द्रमा में अवतरित और उसीमें केवलज्ञान प्राप्त करने वाले श्री मल्लिनाथ भगवान् हैं । मुनिसुव्रतस्वामी अपराजित नाम के देवलोक से अवतीर्ण हुए हैं ।

संजातो नमिरश्विन्यां नेमिश्चाष्टम केवली ।

अम्बिकाचर्यो रिष्टयेऽष्टा-वतारी चापराजितात् ॥ १३ ॥

अन्वय—नमि अश्विन्यां संजातः अम्बिकाचार्यः नेमिः च रिष्टये
अष्टम केवली अष्टावतारी अपराजितात् च ॥ १३ ॥

अर्थ—नेमिनाथ भगवान् अश्विनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए। अम्बिका
देवी द्वारा अर्चित नेमिनाथ भगवान् हैं। कल्याण के लिए अपराजित
देवलोक में आठ अवतार जिनके पूर्ण हुए थे, वे नेमिनाथ भगवान् कल्याण के
लिए हैं। नेमिनाथ भगवान् के आठ शिष्य परम्परा तक कैवलज्ञानी हुए हैं।

अश्वसेनसुतः प्राप्तोऽष्टमेनैवानगारताम् ।

केवली च प्रभुः पार्श्वोऽनन्तनागेन्द्रसेवितः ॥ १४ ॥

अन्वय—अश्वसेनसुतः अष्टमेनैव अनागारतां प्राप्तः केवली
पार्श्वप्रभुः अनन्त नागेन्द्रसेवितः ॥ १४ ॥

अर्थ—अश्वसेनजी के पुत्र अष्टम में ही साधु बनने वाले तथा केवल-
ज्ञान प्राप्त करनेवाले पार्श्वनाथ प्रभु अनन्त नागेन्द्र (नागकुमार देवताओं
का इन्द्रो) से सेवित हैं।

अमराचलकम्पेन धैर्ययेनाददे ततः ।

अव्ययोऽभूदपापायां वीरः पायादपायतः ॥ १५ ॥

अन्वय—अमराचलकम्पेन येन धैर्यं आददे ततः अपापायां
अव्ययः अभूत वीरः अपायतः पायात् ॥ १५ ॥

अर्थ—मेरु पर्वत को कम्पित करने वाले धैर्यशाली वीर भगवान् हैं।
जिन्होंने अपापा नगरी में मोक्ष पाया ऐसे वीर भगवान् विघ्नों से रक्षा करें।

अर्हन्तः स्युरदःप्रकारचरितात् सर्वेऽप्यकारस्वरे ।

ध्येयाः केवलशालिनः श्रुतधैरैराकारयोगे स्मृताः ॥

एकोर्हन् भगवान् परा-परतयाऽनेकेपि चाकारतः ।

सर्वज्ञास्तदिमे समे विदधतां नैर्मल्यमस्मदृशः ॥ १६ ॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

२९१

अन्वय—अकारस्वरे अदःप्रकारचरितात् अर्हन्तः स्युः श्रुतधरेः
आकारयोगे स्मृताः केवलशालिनः ध्येयाः ॥

एकोऽर्हन् परापरतया अकारतः अनेक अपि तत् इमे समे सर्वज्ञाः
अस्मदशः नैर्मल्यं विदधतां ॥ १६ ॥

अर्थ—अकार स्वर में इस प्रकार २४ अर्हत् भगवान् चरितार्थ हुए हैं। श्रुतधरों ने आकार योग से उनका स्मरण किया है ऐसे केवल ज्ञान से सुशोभित ज्ञानी अरिहन्तों का ध्यान करना चाहिए।

एक ही अर्हत् आकार से परापरतया अनेक हो जाते हैं। ये सभी सर्वज्ञ हैं। ये हमारे जैसों के लिए निर्मलता का विधान करें।

कस्येको भगवाँश्चकार विदितोऽसौधेऽपि युग्मं वने ।
तद्वा ये समतामवाप्य च गुणा लोकावकाशे दिशः ॥

अर्थाश्चेन्द्रियजा अवर्णनियता जाताश्चतुर्विंशति ।

सर्वे तेऽकचसाधनावशमपाः पान्त्वर्हतां वाचकाः ॥ १७ ॥

अन्वय—कस्य एकः भगवान् असौधेऽपि वने युग्मं विदितः
चकारः तद्वा ये गुणाः लोकावकाशे दिशः च समतां अवाप्य (जाता
चतुर्विंशति) अर्थाः च इन्द्रियजा अवर्णनियता चतुर्विंशति जाताः सर्वे
ते अकचसाधना वशमपाः अर्हतां वाचकाः पान्तु ॥ १७ ॥

अर्थ—किस केवली भगवान् ने साधन रहित होने पर भी जंगल में युगलिक जनों को ज्ञानवान् बनाया (ऋषभदेव भगवान् ने) अथवा चौदह गुण स्थानक एवं लोकाकाश को दश दिशाएं मिलकर २४ संख्या सिद्ध होती है वैसे ही अकार के भी १८ विवृत एवं ६ संवृत भेद मिलकर २४ भेद होते हैं। अथवा अवर्ण से नियत अकारादि १४ स्वर एवं य र ल व श ष स ह क्षं लं आदि १० मिलाकर २४ की संख्या सिद्ध होती है। वैसे ही इन्द्रिय जन्य अर्थ भी २४ हैं जो अवर्ण से नियत है अर्थात् आत्मा से नियंत्रित है। २४ तीर्थंकरों का वाचक अकार का

व्यञ्जन (उपाधि) रहित (क वर्ग च वर्ग आदि रहित) २४ प्रकार हमारी रक्षा करे।

अर्हन् आद्यजिनः स इक्षुकुलभूः ईशस्तथोरुक्रमः ।

उच्चैर्नित्यमहोपयोग उदयी स्थायी सदोर्ध्वं शिवे ॥

नाम्ना श्रीऋषभश्च ऋगणतनुः श्रीमान् नृभिः सेवितः ।

नृगीतोऽत्र स एक एव भगवान् ऐश्वर्यदाताङ्गिनाम् ॥ १८ ॥

अन्वय—अर्हन् आद्य जिनः स इक्षुकुल भूः ईशः तथा उरुक्रमः नित्य उच्चै महोपयोगः उदयी स्थायी शिवे सदा उर्ध्वं नाम्ना श्री ऋषभः ऋगणतनुः च श्रीमान् नृभिः सेवितः स अत्र नृगीतो अङ्गिनाम् एक एव ऐश्वर्यदाता भगवान् ॥ १८ ॥

अर्थ—ऋषभदेव में सारे स्वरो का समाहार कर रहे हैं—अर्हन् आदि जिन हैं (अ) इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए हैं (इ) ईश्वर हैं (ई) महान उपयोगशाली है उदयी है (उ) शाश्वत शिवपद की ओर सदा ऊँचे बढ़ने वाले हैं (ऊ) उनका नाम ऋषभ है (ऋ) अज शरीर वाले हैं श्रीमान् हैं मनुष्यलोक से सेवित हैं। मानव लोक से स्तुत्य ये भगवान् इस लोक में जीवों के एक मात्र ऐश्वर्यदाता हैं।

अर्हन् आत्मा केवलः स्यात्समात्रो ।

ऽपीच्छामुक्तेरीश एवोपयोगी ॥

उद्ध्वस्थायी सत्रिलोक्यापरद्धिः ।

नृणां गेयः पूजनीयः सजात्याम् ॥ १९ ॥

अन्वय—समात्रः अर्हन् केवलः आत्मा। उपयोगीस इच्छामुक्ते-ईश। सत्रिलोक्योर्ध्वस्थायी अपरद्धिः नृणां गेयः सजात्यां पूजनीयः ॥१९॥

अर्थ—मात्रा (उपाधि) से युक्त अर्हन् शुद्ध आत्मा है। उपयोग-वान् वह इच्छा की मुक्ति से ईश ही है। वह तीनों लोकों से उर्ध्व स्थित

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

२९३

है। मोक्ष सम्पत्ति युक्त यह मनुष्यों के लिए प्रशंसनीय है एवं जन्मवान् जीवों के लिए पूजनीय है।

एकोऽनेक स्रैर्गुणैरैन्द्रवन्द्यं ।

ॐकाराद्यैर्मंत्रयंत्रैर्निवेद्यः ॥

तस्यौन्नत्यं ज्ञानशक्त्याऽप्यनन्तो ।

मुक्ताकाराद् बिन्दुरूपी शिवात्मा ॥ २० ॥

अन्वय—ऐन्द्रवन्द्यं एकः । त्रै गुणैः अनेकः ॐकाराद्यैः मंत्र यंत्रैः निवेद्यः । ज्ञानशक्त्या औन्नत्यं तस्य स अनन्तः । मुक्ताकाराद् बिन्दुरूपी शिवात्मा ॥ २० ॥

अर्थ—इन्द्रों से वन्दनीय वह एक है। त्रिगुण दर्शन ज्ञान चारित्र से वह शुद्धात्मा अनेक भी है। ॐकारादि मंत्रों से वह निवेदनीय है ज्ञान की शक्ति से वह अत्यन्त उन्नत है, सर्वोपरि है। निराकार होने के कारण वह बिन्दु रूपी शिवात्मा है।

ॐकारात् कृतिभिः स्मृतोऽव्यय महानुत्पन्न कर्ताङ्गिनाम् ।

अंगेयोऽर्हत एव सिद्धभवने मुक्ताकृतिः स्वात्मनः ॥

साक्षाद्वैनयिकं पदं नम इति....प्राच्यप्रकृत्या दिशन् ।

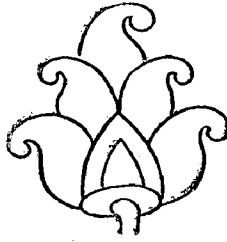
अः सिद्धार्थ विसर्जनीयवपुषो यस्याश्रयः संश्रिये ॥ २१ ॥

अन्वय—ॐकारात् कृतिभिः स्मृतः अंगीनां अव्यय महानुत्पन्न-कर्ता अर्हत एव अंगे सिद्धेभवने स्वात्मनः मुक्ताकृतिः साक्षात् वैनयिकं पदं नमः इति अः प्राच्यप्रकृत्या दिशन् यस्याश्रयः सिद्धार्थ विसर्जनीय वपुषः आश्रयं स श्रिये ॥ २१ ॥

अर्थ—जो ॐकार द्वारा ज्ञानियों से स्मृत है एवं जीवों का अव्यय एवं महोदय कर्ता है। अर्हत के अंगभूत सिद्ध भवन में जो अपनी आत्मा की आकृति को (निराकार रूप में) छोड़कर ठहरा हुआ है। अर्थात्

जिसने आकार को छोड़ दिया है एवं मात्र विसर्ग रूप में स्थित है।
आदि काल से साक्षात् विनय के वाचक पद नमः का निर्देश करने वाला
जो अः (विसर्ग) है एवं सब कार्य सिद्ध होने के कारण विसर्जनीय
निराकार रूप स्थित है वह हमारे कल्याण के लिए है। इस श्लोक में
'ॐ नमः सिद्धम्' को सिद्ध भगवान का वाचक मंत्र बताया गया है।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां कर्मकाण्डे द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥



त्रयस्तिंशत्तमोऽध्यायः

वर्णमातृका से परामातृका

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा कि धर्म सभा के सदस्य यह कैसे निर्णय करें कि मातृका के बिना शास्त्र नहीं एवम् शास्त्र के बिना ज्ञानी नहीं ।

श्री भगवान् ने उत्तर दिया-मातृका में ऊँ प्रथम है जिसका अ आत्मा उ रक्षाकारी तथा म मोक्षदाता है । मातृका के अ इ उ संज्ञक प्रथम सूत्र में अ अरिहंत, आचार्य साधु वाचक हैं सिद्धवाचक एवम् उ उपाध्याय वाचक है । इस प्रकार मातृका के प्रथम सूत्र में पंच परमेष्ठि समाये हुए हैं । ऋषभरूप ऋ को मूर्हन्य कहते हैं इस ऋकार के अंश के आश्रय से रेफ रूप सिद्ध भगवान् सर्वोपरि सिद्धशिला पर विराजमान हैं । अ इ उ ऋ लृ इस सूत्र के उच्चार मात्र से अथवा इन पंच ह्रस्वाक्षर उच्चार प्रमाणमात्र में ही सिद्ध स्थिति प्राप्त होती है ऐसा आगम कहते हैं । इन स्वरो में इन्द्रादि देवताओं का वास निश्चित किया गया है इस वर्ण मातृका (व्यक्तावस्था) से परामातृका (अव्यक्तावस्था) को प्राप्त किया जा सकता है ।

इस अध्याय में जैनागमों में प्रचलित अर्ह, अरिहा, अरहा, अरुहा आदि शब्दों में मातृका के पुंज रूप संकेत शब्दों का निर्धारण कर शब्द ब्रह्म से परब्रह्म का ध्यान बताया गया है]

त्रयस्तिंशत्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐन्द्रप्रभृतिशब्दानु-शासनैर्या पुरस्कृता ।

सा मातृकेव सर्वेषां ध्येया मान्या च मातृका ॥ १ ॥

तदुक्त्यैव परीक्ष्येयं कथं धर्मसभासदाम् ।

न तत्त्वधीर्विना शास्त्रं न शास्त्रं मातृकां विना ॥ २ ॥

अन्वय—श्री गौतम उवाच—

या मातृका ऐन्द्रप्रभृति शब्दानुशासनैः पुरस्कृता सा मातृका इव सर्वेषां ध्येया मान्या च तदुक्त्या एव धर्मसभासदां इयं कथं परीक्ष्या न तत्त्वधीर्विनाशास्त्रं न शास्त्रं मातृकां विना ॥ १,२ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने पूछा हे भगवन् ! आपने फरमाया है कि जो मातृका ऐन्द्रप्रभृति शब्दानुशासनों के द्वारा सर्वप्रथम बताई गई है उसी मातृका का माता की तरह सभी को ध्यान करना चाहिए तथा मान करना चाहिए । उसी उक्ति से धर्म सभा के सदस्य इस कथन की कैसे परीक्षा करें कि शास्त्र के बिना ज्ञानी नहीं होते हैं एवं बिना मातृका के शास्त्र नहीं ।

श्री भगवानुवाच

प्रथमेनार्हता ब्राम्ह्या स्वपुत्र्याप्रथमं यतः ।

पाठिताक्षरराजीयं ब्राह्मीति हितकृन्नृणाम् ॥ ३ ॥

अन्वय—श्री भगवानुवाच—

यतः प्रथमेन अर्हता स्वपुत्र्या प्रथमं इयं अक्षरराजि पाठिता ब्राह्मीति हितकृन्नृणाम् ॥ ३ ॥

त्रयस्तिंशत्तमोऽध्यायः

२९७

अर्थ—श्री भगवान ने कहा कि प्रथम तीर्थवर श्री ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को सर्वप्रथम इस वर्णमातृका को पढ़ाया अतः लोकोपकारी इस मातृका का नाम ब्राह्मी पड़ा ।

ॐकारः प्रथमस्तस्यां तदन्तरक्षरत्रयम् ।

अस्यात्मनो रक्षणं तत उस्ततोमितिमोक्षदम् ॥ ४ ॥

अन्वय—तस्यां ॐकारः प्रथमः तदनन्तरं अक्षरत्रयं । अस्यात्मनः । तत् उ रक्षणं ततः म् इति मोक्षदम् ॥ ४ ॥

अर्थ—इस मातृका में ॐ प्रथम है जिसमें तीन अक्षर हैं । अ उ म । इनमें प्रथम अ आत्मा वाची है, उ से रक्षण, तथा म से मोक्ष ग्रहण करना चाहिए ।

अकारः संवृतः तस्मादहिंसादिक्रियार्थकः ।

उरुद्योतश्चोपलम्भात् योगावोमिति सिद्धिवाक् ॥ ५ ॥

अन्वय—अकारः संवृतः तस्मात् अहिंसादि क्रियार्थकः उ उद्योतः च उपलम्भात् (तयोः) योगौ ओ म् इति सिद्धिवाक् ॥ ५ ॥

अर्थ—अकार संवृत है । संवृत का अर्थ है सु चरित जो अहिंसा आदि क्रियाओं का वाचक है (क्रिया) उ प्रकाशक के अर्थ में है अर्थात् ज्ञान । इन अ तथा उ के योग से ओ बनता है एवं म मोक्ष का वाचक है । क्रिया तथा ज्ञान से मोक्ष होता है अतः यह ॐ सिद्धवचन है ।
“ ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः ”

अकारस्त्ववसर्पिण्या उरित्युत्सर्पिणीपदम् ।

योगेऽनयोः कालचक्रं सिद्धमुक्तमिहार्हता ॥ ६ ॥

अन्वय—अकारः तु अवसर्पिण्या उ इति उत्सर्पिणीपदम् । अनयोः योगे कालचक्रं अर्हता इह सिद्धं उक्तम् ॥ ६ ॥

उपलम्भ = प्राप्ति ।

अर्थ—काल के दो भाग हैं अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी ॐ का अ अवसर्पिणी वाचक है एवं उ उत्सर्पिणी काल भेद का वाचक है। इन्हीं के योग से कालचक्र सिद्ध होता है यह अर्हंतों का वचन है।

पक्षोऽन्धकारोऽकारेण पूर्वउस्तूज्ज्वलः परः ।

तद्यो (द्यो)गे मितिमासः स्यादव्ययत्वेस्य सिद्धता ॥ ७ ॥

अन्वय—अकारेण अन्धकारः पूर्वः पक्षः उः तु परः उज्ज्वलः तत् योगे म् इति मासः अव्ययत्वे अस्य सिद्धता स्यात् ॥ ७ ॥

अर्थ—अब शब्द से ॐ का महत्त्व बताते हैं। अकार पहला कृष्ण पक्ष है एवं उ दूसरा शुक्ल पक्ष है। इनके योग से म अर्थात् मास सार्थक बनता है। यह ॐ इस प्रकार काल वाची भी है। यह ॐ अव्यय है इसीसे इसकी सिद्धता है।

अहर्दिनमुषारात्रि-रहोरात्रस्तयोर्युजि ।

सिद्ध एव तथात्मापि ऊर्ध्वगश्चाव्ययः शिवः ॥ ८ ॥

अन्वय—अहः दिनं उषा रात्रि तयोः युजि अहोरात्रः तथा अव्यय ऊर्ध्वगः शिवः च आत्मा अपि सिद्ध एव ॥ ८ ॥

अर्थ—अह में अ है उषा में उ है अह से दिन उ से रात्रि इनके योग से रात दिन। दिन रात अव्यय हैं। आत्मा के तीन लक्षण है अ से अव्यय उ से उर्ध्वगामी म से मोक्षमार्गी। अ से अव्ययी उ से उर्ध्वगामी एवं म से शिव मोक्षमार्गी यह अत्मा भी सिद्ध स्वरूप ही है।

नमस्कारो हि विनयस्तन्मूलं ज्ञानमिष्यते ।

तन्मूलैव क्रिया ताभ्यां सिद्धो नाम्नायमोमिति ॥ ९ ॥

अन्वय—नमस्कारः हि विनयः तन्मूलं ज्ञानं इष्यते क्रिया तन्मूला एव ताभ्यां सिद्धः नाम्ना अयं ॐ इति ॥ ९ ॥

दिन नष्ट होता है रात्रि भी, पर उनका समुदाय नष्ट नहीं होता है।

अर्थ—यहाँ अर्थ से ॐ का महत्त्व समझाते हैं। नमस्कार विनय मूलक है। क्रिया ज्ञान मूलक है। इन ज्ञान तथा क्रिया से जो सिद्ध बनते हैं उनकी संज्ञा ॐ है।

अवर्णेऽर्हस्तथाचार्यः साधुश्चव्यंजनैर्लुका ।

ईः सिद्ध उ उपाध्याय अ इ उ भ्यः शिवात्मता ॥ १० ॥

अन्वय—अवर्णे अर्हन् तथा आचार्याः व्यंजनैः लुका साधुः च ई सिद्ध उ उपाध्याय अ इ उभ्यः शिवात्मता ॥ १० ॥

अर्थ—अ इ उ संज्ञक प्रथम सूत्र में पंचपरमेष्ठि बता रहे हैं। अ वर्ण में अरिहंत भगवान व आचार्य भगवान है। यदि साधु शब्द के सा में से स् व्यञ्जन का लोप कर दें तो आकार शेष रहता है वह भी साधु वाचक है। उसका भी समावेश अ वर्ण में होता है अतः अ वर्ण में अरिहंत आचार्य व साधु भगवान समाविष्ट हैं। ई सिद्धवाचक है, उ उपाध्याय वाचक है इस प्रकार अ इ उ स्वरों में सिद्धता समाविष्ट है। इन स्वरों में इस प्रकार पंचपरमेष्ठि समाये हुए हैं।

एषां मात्राबलाद्द्वैर्ध्र्योप्यस्वरत्वं न मन्यते ।

यावद्द्व्यञ्जनयुक्तिर्नो हन्यात्सैव स्वरात्मताम् ॥ ११ ॥

अन्वय—एषां मात्राबलात् द्वैर्ध्र्यं अस्वरत्वं न मन्यते । यावत् व्यञ्जनयुक्तिः नो सा एव स्वरात्मतां हन्यात् ॥ ११ ॥

अर्थ—आचार्य शब्द में आ सिद्धवाचक ई अतः इसका समाधान करते हैं। इन स्वरों का मात्राओं के बल से दीर्घत्व होनेपर भी इनका अ स्वरत्व नहीं माना जाता अर्थात् अ से आ उ से ऊ इ से ई होने पर भी इनका स्वरत्व तथावत् ही रहता है। वे स्वर तभी तक हैं कि जब तक व्यंजन से इन स्वरों की युति नहीं होती। यह व्यञ्जनों की युति ही इनकी

स्वरात्मकता को विनष्ट करती है अर्थात् स्वर अविकारी सिद्ध स्वरूप हैं पर व्यञ्जन विकारी हैं एवं सोपाधि हैं ।

ऋकारं ऋषभं प्राहुर्मूर्धन्यं शाब्दिका अपि ।

✓ तदंशाश्रयणाद्रेफो-प्यूर्ध्वं स्याद्व्यञ्जनेऽग्रगे ॥ १२ ॥

अन्वय—ऋकारं ऋषभं मूर्धन्यं शाब्दिकाः अपिप्राहुः । तत् अंशा-श्रयणात् रेफः अपि ऊर्ध्वं स्यात् व्यञ्जने अग्रगे ॥ १२ ॥

अर्थ—ऋषभ रूप ऋकार को व्याकरण शास्त्री मूर्धन्य कहते हैं उस ऋकार के अंश के आश्रय से रेफ सभी व्यञ्जनों के ऊपर विराजमान है । सिद्ध भगवान भी मूर्धन्य हैं एवं सर्वोपरि सिद्धशिला पर विराजमान हैं ।

ऋखरे वीतरागत्वं दीर्घोऽयं च महात्मनि ।

एषां समानता तस्माच्छब्दार्थयोरभेदतः ॥ १३ ॥

अन्वय—ऋ खरे वीतरागत्वं । दीर्घः अयं च महात्मनि तस्मात् शब्दार्थयोः अभेदतः एषां समानता ॥ १३ ॥

अर्थ—ऋ स्वर ऋषभवाची होने से वीतरागत्व का द्योतक है । दीर्घ ऋ ऋषिवाचक है । दोनों की समानता है । इसलिए शब्द और अर्थ के अमेद के कारण इन ऋषभ वाची ऋ ऋ स्वरों में समानता रहती है ।

अ इ उ ऋ लृ इत्यस्य सूत्रस्योच्चारमानतः ।

निर्व्यञ्जनत्वे सिद्धिः स्यान्नुणां सिद्धान्तसंमता ॥ १४ ॥

अन्वय—अ इ उ ऋ लृ इति अस्य सूत्रस्य उच्चार मानतः निर्व्यञ्जनत्वे नृणां सिद्धान्तसंमता सिद्धिः स्यात् ॥ १४ ॥

अर्थ—अ इ उ ऋ लृ इस सूत्र के उच्चार मान से इनके स्वर रूप होने से निर्व्यञ्जन सिद्धि होती है यह बात आगम में भी कही गई है ।

ऋदुरषाणामूर्द्धा - पाणिनी

त्रयस्तिशत्तमोऽध्यायः

३०१

पंच ह्रस्वाक्षर उच्चार प्रमाण काल में ही मुक्ति प्राप्त होती है यह बात शास्त्र सम्मत है ।

गुणे वृद्धौ यथायोगं स्वराणां रूपमुद्भवेत् ।

येषां गुरुत्वं सर्वत्र तेषु युक्तो महोदयः ॥ १५ ॥

अन्वय—स्वराणां गुणे वृद्धौ यथायोगं रूपं उद्भवेत् येषां सर्वत्र गुरुत्वं तेषु महोदयः युक्तः ॥ १५ ॥

अर्थ—ये स्वर स्वयं सिद्ध होने के कारण इनके गुण एवं वृद्धि में जो रूप उत्पन्न होते हैं वे सर्वत्र गुरु रूप होते हैं, इसी प्रकार आत्माँ भी सदा गुण गरिमा एवं समुन्नति में महोदय वाली होती है अर्थात् उनका रूप सदा बड़प्पन से युक्त होता है ।

संध्यक्षरत्वं तेनैषां लोकालोकान्तरस्थितेः ।

शिवरूपमनाकारा-द्विन्दोराद्यस्वराश्रयात् ॥ १६ ॥

अन्वय—संध्यक्षरत्वं शिवरूपं भवति तेन एषां लोकालोकान्तर-स्थितेः । आद्यस्वराश्रयात् अनाकारात् विन्दोः शिवरूपं भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—इसलिए उनका सन्ध्यक्षरत्व ए औ सिद्ध परमात्मा का वाचक है जो लोक और अलोक के बीच में रहे हुए हैं, इस प्रकार ए ऐ ओ औ सिद्धशीला वाची हो गए । विन्दु तो अनाकार है । आद्य स्वर अ का आश्रयी होने के कारण यह सिद्ध स्वरूप ही है ।

रेफोग्निबीजं प्रकृति-विसर्गस्य निसर्गतिः ।

जहाति न स्वराभ्यर्णं स्वरसर्गोऽपि तत्स्मृतः ॥ १७ ॥

अन्वय—रेफः अग्निबीजं विसर्गस्य प्रकृतिः निसर्गतिः (रेफः) स्वराभ्यर्णं न जहाति स्वरसर्गोऽपि तत्स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—रेफ अग्नि बीज है एवं विसर्ग की स्वाभाविक प्रकृति विसर्जन है । रेफ स्वर की समीपता नहीं छोड़ता है अतः इसे स्वर की सृष्टि भी कहते हैं ।

रेफ एवं विसर्ग दोनों स्वतः मुक्तावस्था (निस्संगता) के द्योतक हैं ।

यद्यप्युच्चैर्गतीरेफो व्यञ्जने स्वरसंगमे ।

अन्तस्थोऽसौ न तद्द्वित्वं हकारस्यैव चोष्मणः ॥ १८ ॥

अन्वय—व्यञ्जने स्वरसंगमे यद्यपि रेफः उच्चैः गतिः असौ अन्तस्थः उष्मणः हकारस्य तद्द्वित्वं न एव ॥ १८ ॥

अर्थ—व्यञ्जन के स्वर से संगम होने पर यद्यपि रेफ की उच्च गति अर्थात् यह व्यञ्जन के ऊपर चढ़ जाता है । यह र अन्तस्थ है उष्म हकार के साथ मिलने पर न तो स्वयं का व न हकार का द्वित्व होता है । अर्हम् में रेफ होने पर भी हकार का द्वित्व नहीं हुआ ।

रेफः स्वभावेन विसर्जनीयः

क्लेशप्रवेशं कुरुते प्रजप्तः ।

अधस्तनस्थानतया हकारो

द्वयं न वाक्ये बहुशः प्रयोज्यम् ॥ १९ ॥

अन्वय—रेफ स्वभावेन विसर्जनीयः अधस्तनस्थानतया हकारो प्रजप्तः क्लेश प्रवेशं कुरुते वाक्ये द्वयं बहुशः न प्रयोज्यम् ॥ १९ ॥

अर्थ—रेफ स्वभाव से ही विसर्जनीय है (विसर्गरूप है) ह अध स्थानीय होने के कारण जपादि में क्लेश उत्पन्न करता है । इसलिए इनका वाक्य में बहुत प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

क्लीबत्वं ऋलृवर्णे यत् काप्युक्तं तन्मूषागमे ।

ह्रस्वाः पुमांसो नार्योऽन्ये स्वराः क्लीबा न कर्हिचित् ॥२०॥

अन्वय—ऋ लृ वर्णे यत् क्लीबत्वं कापि आगमे यत् उक्तं तन् मूषा ह्रस्वाः पुमांसः अन्ये नार्यः । स्वराः क्लीबा न कर्हिचित् ॥ २० ॥

त्रयस्तिंशत्तमोऽध्यायः

३०३

अर्थ—किन्हीं शास्त्रों में ऋ एवं लृ वर्णों में नपुंसकता बताई गई है वह असत्य है ह्रस्व स्वर पुल्लिंग होते हैं। दीर्घस्वर स्त्रीलिंग वाची होते हैं। स्वर कमी भी नपुंसक लिंग में नहीं होते हैं।

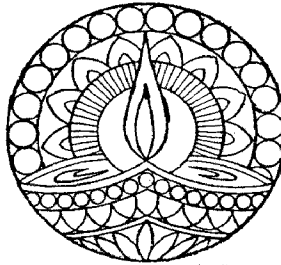
“स्वयं राजन्ते इति स्वराः” स्वर स्वयं प्रकाशमान है। अर्थात् वे निस्सत्व नहीं हो सकते हैं।

अकारोऽर्हन् पुरोन्तस्थाख्यानं यस्यारहः कृतम् ।
उक्ताद्यशम्भुना ब्राह्मी मातृका सा हितायते ॥ २१ ॥

अन्वय—अकारोऽर्हन् यस्य पुरः अन्तस्थाख्यानं रहः कृतम् । ते हिताय सा ब्राह्मी मातृका आद्यशम्भुना उक्ता ॥ २१ ॥

अर्थ—अकार अर्हत् परमात्मा है आगे (र) अन्तस्थ (ह) उष्मादि का आख्यान होने से अरह शब्द सिद्ध होता है इस प्रकार इस ब्राह्मी वर्णमाला को तुम्हारे हित के लिए आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान ने कहा है।

॥ इति श्रीअर्हद्वीतायां कर्मकाण्डे त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥



चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

व्यञ्जन भी अर्हद्वाची हैं

[श्री गौतम स्वामी ने पूछा कि स्वरों में तो इन्द्रादि देवताओं का वास निश्चित हो गया पर ३८ व्यञ्जनों में अर्हत भगवान का चिन्तन कैसे किया जा सकता है ?

श्री भगवान् ने उत्तर दिया सभी वर्गों के पंचम रूप इञ् ञ् ण् न् म् एवम् य ल व स्वर के आश्रित है अतः ये आठों अष्ट सिद्धियों के दाता हैं। प्रभु के वचन श्रुतशास्त्र है एवम् श्रुतशास्त्र में इन स्वर व्यञ्जनों की आश्रय-धारिता है इसलिए ये अर्हद्वाची हैं। इस मातृका में प्रकृति व्याप्त है एवम् यह त्रिलोक भी इसीमें व्याप्त है। इसमें सभी स्वर व्यञ्जनों में अ की प्रमुखता है जो अर्हतों का प्रतिपादक है। अर्हतों में मोक्ष रूप समाया हुआ है अतः इस अ की समग्र व्याप्ति से ये व्यञ्जन भी अर्हद् वाचक हैं। चित्त का सूक्ष्म कंपन स्थूल रूप में वर्ण मातृका के द्वारा प्रकट होता है। चित्त में जैसा भाव उत्पन्न होता है वैसी ही वर्णमातृका का उद्भव होता है। वर्णमातृका के समस्त स्वर व्यञ्जन भावमन से जुड़े हुए हैं।]

* * *

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

एन्द्राधिदेवदेवत्वं स्वरेष्वेवं विनिश्चितम् ।

एषः सकारकैवलयात्सर्वाक्षरमयः परः ॥ १ ॥

अन्वय—श्री गौतम उवाच

एवं स्वरेषु ऐन्द्राधिदेवदेवत्वं विनिश्चितं । एषः सकारकैवलयात् सर्वाक्षरमयः परः ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामीने कहा— इस प्रकार स्वरों में परमात्मा का स्वरूप सुनिश्चित है । इन स्वर समूहों में परमात्मपद (सकारकैवल्य) निहित होने से ये अक्षय एवं परम हैं ।

त्रयष्टसु व्यञ्जनेष्वेतदार्हन्त्यं चिन्त्यते कथम् ।

प्रकृतेर्वर्धनान्नानारूपैराकारधारिषु ॥ २ ॥

अन्वय—प्रकृतेः वर्धनात् नानारूपैः आकारधारिषु (एषु) त्रयष्टसु व्यञ्जनेषु आर्हन्त्यं कथं चिन्त्यते ॥ २ ॥

अर्थ—प्रकृति (स्वर) से वर्धनशील होने के कारण नानारूपों के द्वारा आकार धारण करने वाले इन ३८ व्यञ्जनों में आर्हन्त्य का चिन्तन कैसे किया जा सकता है ?

श्री भगवानुवाच

षोडशैव हि सुवर्णभास्वरा—

स्तीर्थपा इह सुवर्णभाः स्वराः ।

व्यञ्जनैर्विरहिता हिताय व—

स्ते दिशन्ति समहोदयं जयम् ॥ ३ ॥

ऐन्द्र - आत्मा । आत्मा के अभिदेव - परमात्मा ।

अन्वय—श्री भगवानुवाच—

षोडशैव हि सुवर्णभास्वराः तीर्थपाः सन्ति इह सुवर्णभाः स्वराः
(षोडशाः) सन्ति । वः हिताय व्यञ्जनैः विरहिताः ते समहोदयं जयं
दिशन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—श्री भगवान् ने कहा—स्वर्ण के समान भास्वर स्वर सोलह हैं
एवं सुवर्ण भास्वर तीर्थपति भी १६ ही हैं । तुम्हारे हित के लिए (निरुपाधि)
व्यञ्जनों से रहित वे महान् उत्कर्षमय विजय को प्रदान करते हैं ।

व्यंजनप्रकृतिवर्णभेदतो—

ऽष्टौ परेषि महसाऽष्टसिद्धिदाः ।

पंचमाः सयवलाः स्वराश्रय—

प्रस्तुता दधति रूपमक्षरम् ॥ ४ ॥

अन्वय—परेऽपि अष्टौ व्यञ्जनप्रकृतिवर्णभेदतः महसा अष्ट-
सिद्धिदाः सयवलाः पञ्चमाः स्वराश्रयप्रस्तुता अक्षरं रूपं दधति ॥ ४ ॥

अर्थ—सभी वर्णों के पंचम रूप ङ् ञ् ण् न् म्, एवं य व ल स्वर के
आश्रय से प्रस्तुत हैं अतः अक्षर रूप को धारण करते हैं । अर्थात् य व ल
(इ+अ उ+अ लृ+अ) स्वर योग से बनते हैं ये आठों व्यञ्जनों की
प्रकृति से अलग होने के कारण ध्यान करने पर अष्ट सिद्धि को प्रदान
करने वाले होते हैं । इस प्रकार १६ स्वर + ५ अनुनासिक + ३ (यवळ)
मिलकर कुल २४ तीर्थकरों के वाचक हैं । रलयोरभेदः (पाणिनि) सूत्र से
र एवं ल में भेद नहीं माना जाता है अतः यहाँ केवल ल का ही उल्लेख
हुआ है र का नहीं ।

अल्पांतरत्वाद्बहुलान्तराद्वा

तीर्थस्य लोपान्नवमार्हतो वा

विवेच्य वर्णाश्रयतोऽर्हदुक्तिः

कचित्तदुक्तः स्वरवद्यकारः ॥ ५ ॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

३०७

अन्वय—अल्पान्तराद् वा बहुलान्तराद् वा वर्णाश्रयतः यकारः क्वचित् स्वरवत् उक्तः । नवमार्हतः अल्पान्तराद् वा बहुलान्तराद् वा तीर्थस्य लोपात् अर्हदुक्तिः विवेच्य ॥ ५ ॥

अर्थ—य का स्वर से अल्प अन्तर होने से अथवा अन्तस्थ होने के कारण बहुत दूरी होने पर भी स्वर का आश्रित होने के कारण य को स्वरवत् ही कहा गया है । नवम तीर्थङ्कर सुविधिनाथ के बाद कभी कभी बहुत लम्बे समय तक तीर्थ का लोप हो गया तथा कभी थोड़े समय तीर्थ का लोप हो गया पर तीर्थङ्करत्व अक्षुण्ण रहा । इसी तरह य कार का भी स्वरत्व अक्षुण्ण रहा । इस प्रकार प्रत्येक वर्ण का आश्रय लेकर अर्हद् वाणी का विवेचन करना चाहिए ।

यद्वा द्वात्रिंशताऽकारैर्व्यञ्जनस्थैः सह स्वराः ।

यदा षोडश मील्यन्ताऽष्टवेदाःस्यु(४८)स्तदा स्वराः ॥ ६ ॥

अन्वय—यद्वा व्यञ्जनस्थैः द्वात्रिंशताकारैः सह यदा षोडश स्वराः अमील्यन्त तदा स्वराः अष्टवेदाः स्युः । (८ + ४ = ४८ अंकानां वामतो गतिः) ॥ ६ ॥

अर्थ—अथवा व्यञ्जनों के ३२ अकारों के साथ जब १६ स्वर मिलते हैं तब स्वर ४८ हो जाते हैं ।

चतुर्विंशतिकायुगमेवंस्यात् स्मृतमर्हताम् ।

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरतीतवर्तमानयोः ॥ ७ ॥

अन्वय—उत्सर्पिणी अवसर्पिण्योः अतीतवर्तमानयोः एवं अर्हताम् चतुर्विंशतिकायुगं स्मृतं स्यात् ॥ ७ ॥

अर्थ—भूतकालीन एवं वर्तमानकालीन उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी कालों में इस प्रकार अर्हत्देवों की २४ चौवीसी का जोड़ा कहा गया है ।

यद्वा चतुर्दशार्हन्तस्वराः शब्दानुशासनात् ।

व्यञ्जनानुग्रहकराः पृथग् उक्ता दशापरे ॥ ८ ॥

अन्वय—यद्वा शब्दानुशासनात् आर्हन्त स्वराः चतुर्दशः । (एते)

व्यञ्जनानुग्रहकराः भवन्ति अपरे दशः पृथग् उक्ताः ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा व्याकरण शास्त्र के अनुसार अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ
ऌ ॡ ए ऐ ओ औ आर्हन्त स्वर कहे गए हैं ये स्वर व्यञ्जनों का
अनुग्रह करने वाले होते हैं । दूसरे १० व्यञ्जन अलग कहे गए हैं य र
ल व श ष स ह क्ष लं ।

तीर्णत्वं तारकत्वं च बोधकत्वं च बुद्धता ।

मुक्तत्वं मोचकत्वं चार्हतामत्रैवमाहितम् ॥ ९ ॥

अन्वय—तीर्णत्वं तारकत्वं च बोधकत्वं च बुद्धता मुक्तत्वं मोच-
कत्वं च अर्हतां अत्र एवं आहितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—संसार से पार होने की, पार करने की, बोध देने की, ज्ञान
प्राप्ति की, मुक्ति की एवं मोक्ष प्रदान की योग्यता इन २४ अर्हत्स्वरूप
वर्णों में ही है ।

तीर्थ प्रभोः प्रवचनं श्रुतशास्त्रमाहु

स्तीर्थकराः स्वरवराः श्रुतमूलहेतोः ।

तद्व्यञ्जनप्रकृतयोह्यपवर्गकान्तं

स्युर्मातरश्चतुरुपाहितविंशकाद्याः ॥ १० ॥

अन्वय—प्रभोः प्रवचनं श्रुतशास्त्रं तीर्थ आहुः । श्रुतमूलहेतोः
स्वरवराः तीर्थङ्कराः अपवर्गकान्तं तद् व्यञ्जन प्रकृतयः । चतुरुपाहित-
विंशकाद्याः मातरः स्युः ॥ १० ॥

अर्थ—प्रभु का प्रवचन श्रुत शास्त्र है यही तीर्थरूप में कहा गया
है । आगम के मूल होने के कारण ये श्रेष्ठ स्वर तीर्थङ्कर कहे गए हैं ।

अपवर्ग - मोक्ष — पवर्ग - संसार

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

३०९

प वर्ग के अन्तिम म को छोड़कर ये २४ व्यञ्जन तीर्थकरों की २४ माताएं हैं। १४ स्वर एवं १० य व र ल आदि २४ तीर्थकर कहे गए हैं। तो यह म को छोड़कर २४ व्यञ्जन तीर्थकरों की माताएं मानी गई हैं। २४ तीर्थकर एवं २४ माताएं मिलकर स्वर व्यञ्जन ४८ हुए।

महाप्रकृतिरंतस्था उष्माणश्च भवानुगाः ।

यथासौ वर्गसंसर्गाद् ब्राह्म्या पाठे प्रकीर्तिताः ॥ ११ ॥

अन्वय—महाप्रकृतिः अन्तस्थाः उष्माणश्च भवानुगाः यथासौ-वर्गसंसर्गात् ब्राह्म्या पाठे प्रकीर्तिताः ॥ ११ ॥

अर्थ—महान् प्रकृति वाले (य र ल व) अन्तस्थ (सिद्ध) एवं उष्म संसार का अनुगमन करने वाले (संसारी) होते हैं ये जिस वर्ग के साथ सम्पृक्त होते हैं ब्राह्मी में उनका वैसा ही उच्चारण कहा गया है।

स श ष ह उष्म व्यञ्जन माने गये हैं ये जिस वर्ग के साथ मिलते हैं उनका वैसा ही उच्चारण होता है जैसे निः का ह उष्म है पर वह अन्तस्थ य से मिलने पर स्वयं भी अन्तस्थ बन जाता है जैसे निः + यात् से गिर्यात्।

वलेर्बलात् पाणिनिना स्वसूत्र

पूर्वोपदेशो रहयोर्व्यधायि ।

मिथ्यामतेराश्रयणात्तथापि

स्वरेषु पाठः शषसेषु मौलः ॥ १२ ॥

अन्वय—वलेः बलात् पाणिनिना रहयोः स्वसूत्र पूर्वोपदेशः व्यधायि (तत्) मिथ्यामतेः आश्रयणात् तथापि स्वरेषु शषसेषु रहयोः मौलः पाठः ॥ १२ ॥

अर्थ—पाणिनी ने परात्परो बलीयान् सूत्र के बल से र एवं ह का विधान य से पूर्व में कर दिया है परन्तु यह मिथ्या मति के आश्रय से हुआ है क्योंकि श ष स के बाद ही ह का पाठ होता है।

ककारात्कर्मणाविष्टो-कारः खात् खादनेन्द्रियैः ।

गाद्रात्रं कुरुते घोषं घात्प्राणं पंचमादिह ॥ १३ ॥

अन्वय—अकारः ककारात् कर्मणाविष्टः, खात् (अकारः) खादनेन्द्रियैः (युक्तः), गात् (अकारः) गात्रं कुरुते, घात् (अकारः) घोषं, इह (अकारः) पञ्चमात् (डात्) प्राणं कुरुते ॥ १३ ॥

अर्थ—क का तात्पर्य है कर्म से आविष्ट अकार अथवा आत्मा । ख से भोजन और इन्द्रिय अर्थात् आहार व इन्द्रिय पर्याप्ति से सहित आत्मा । ग से गात्र अर्थात् शरीर पर्याप्ति, घ से घोष अर्थात् भाषा पर्याप्ति, एवं ङ से प्राण पर्याप्ति अर्थात् श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति+, इन्हें अकाररूप आत्मा बनाती है ऐसा समझना चाहिए ।

एवं पर्याप्तयः पञ्चकालैक्याद् घोषचेतसोः ।

चाच्चित्ते छान्दलान्वेषी जाज्जातो ज्ञादतृप्तिमान् ॥ १४ ॥

अन्वय—एवं घोषचेतसः कालैक्यात् पंचपर्याप्तियः चात् चित्ते छान्दलान्वेषी जात् जातः ज्ञात् अतृप्तिमान् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस प्रकार वचन एवं मन पर्याप्ति की काल की एकता के कारण पर्याप्तियाँ पांच ही कही गयी हैं । च से आत्मा चित्त में रमता है । छ से छल कपट का अन्वेषण करता है ज से उत्पन्न हुआ है एवं ज्ञ से वह जीव अतृप्त रहता है । भाषा पर्याप्ति एवं मन पर्याप्ति के काल की ऐक्यता होने से इस प्रकार पांच पर्याप्तियाँ ही होती हैं यद्यपि पंचेन्द्रिय जीव को सिद्धान्तानुसार छः पर्याप्तियों वाला कहा गया है किन्तु देवों की भाषा पर्याप्ति एवं मन पर्याप्ति एक ही साथ पूर्ण होती है अतः पांच पर्याप्तियाँ ही बताई गई हैं ।

+ जैन दर्शन में पर्याप्तियों का उल्लेख है ।

१ आहार पर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रियपर्याप्ति, ४ श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति ६ मनपर्याप्ति.

चतुर्विंशत्तमोऽध्यायः

३११

आदग्निद्वेषवशतष्टात्धूम्रमनसाकुलः ।

ठो बहुध्वान्तवान् शून्यो भ्रमेत्डैर्मूढधीर्ढवत् ॥ १५ ॥

अन्वय—जात् अग्निद्वेषवशतः टात् धूम्रमनसाकुलः ठोः बहु-
ध्वान्तवान् डैः शून्यो भ्रमेत् ढवत् मूढधीः ॥ १५ ॥

अर्थ—जू से यह अकार रूप आत्मा अग्निद्वेष वश होती है । ट से यह धूमायित तथा कामना से आकुल होती है । ठ से कालिमात्रय, ड से शून्य में भटकती है एवं ढ से मूढमति होती है ।

णान्मोक्षात्तस्करस्तात् स थाङ्गीत्राणेन दादयं ।

दाताधाद्धर्मधनवान् नात्बुद्धः पात् स चाधिपः ॥ १६ ॥

अन्वय—णात् मोक्षात् स तात् तस्करः भीत्राणेन थात् दात् अयं
दाता धात् धर्म धनवान् नात् बुद्धः पात् च स अधिपः ॥ १६ ॥

अर्थ—यह अकार रूप आत्मा ण से मोक्ष, त से तस्कररूप, थ से यह भय से त्राण पाती है । द से यह दाता, ध से धर्मधनवान् न से बुद्ध, प से यह राजा बनाती है । यहाँ वर्णमातृका का मनोवैज्ञानिक स्वरूप बताया गया है ।

फाद्रणे निष्ठुरोक्तौ वात्कलिर्बाहुबलेरिव ।

मे शंभौ भगवत्युच्चैर्भक्तो मः शिवरूपभाक् ॥ १७ ॥

अन्वय—फात् रणे निष्ठुरः उक्तः, वात् कलिः बाहुबलेरिव । मे
शंभौ भगवति उच्चैः भक्तः मः शिवरूपभाक् ॥ १७ ॥

अर्थ—फ से यह अकार आत्मा ण सुभट कहा गया है । व से यह बाहुबलि के समान बलशाली, भ से तीर्थंकर भगवान का भक्त एवं म से शिवस्वरूप बन जाता है ।

यात्पशुः सहिरेकामे लात्खण्डनमिहाश्रुते ।

वात्संयमात् शिवस्यात्पे स्वर्गे सहरितस्तु हात् ॥ १८ ॥

अन्वय—यात् पशु सहि रे कामे लात् इह खण्डनं अश्रुते वात्
संयमात् शिवः स्यात् पे स्वर्गे स हरितस्तु हात् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह अकार आत्मा य से पशु तुल्य, र से कामलीन, ल से वह खण्डित होता है व से संयमशील श ष से मोक्षरूप स से स्वर्गोन्मुख एव ह से प्रसन्न होता है ।

ल्लं परब्रह्मलब्धोक्षः क्षेमवानक्षरः परः ।

एष्वात्मवाचकोऽकारो बिन्दुस्तु शिवरूपवान् ॥ १९ ॥

अन्वय—ल्लं पर ब्रह्मलब्धो, क्षः क्षेमवान् अक्षरः परः एषु आत्म-
वाचकोऽकारः बिन्दुः तु शिवरूपवान् ॥ १९ ॥

अर्थ—ल्लं पर ब्रह्मलीनता का अक्षर है एवं उसके आगे का अक्षर क्ष मंगलकारी है । इन क से लेकर क्ष पर्यन्त अक्षरों में आत्मवाचक अकार निहित है इस अ पर लगा बिन्दु सिद्ध स्वरूपमय है । अर्थात् अं सिद्ध स्वरूप है ।

वक्राकाराद्भवेदात्माऽकारेण ऋजुलेखया ।

अर्हन् अकारस्तद्द्वेधा परमात्मात्मभेदतः ॥ २० ॥

अन्वय—वक्राकारात् आत्माभवेत् अकारेण ऋजुलेखया अकारः
अर्हन् तत् परमात्मात्मभेदतः द्वेधा ॥ २० ॥

अर्थ—(ऽ) वक्राकार रूप लिखने से अकार आत्मवाची एवं सीधी
(१) रेखा रूप लिखने से अकार अर्हत्वाची होता है । इस प्रकार यह
(ऽ) वक्राकार तथा सरलाकार (१) अकार आत्मा तथा परमात्मा के भेद
से दो प्रकार का हुआ ।

एवं मातृकया जयत्रयमिदं व्याप्तं प्रकृत्याश्रयात् ।

एषाऽपि स्वरसंगता स्थितिवशात् सर्वेऽप्यकारे स्वराः ॥

सोऽप्यर्हत्प्रतिपादकः समहिताः सिद्धाः सबुद्धाः शिव ।

स्ताद्रूप्याय निसेव्य एव भगवान् भव्यैरनन्तश्रिया ॥ २१ ॥

अन्वय—एवं प्रकृत्याश्रयात् मातृकया इदं जगत् त्रयं व्याप्तं ।
 एषाऽपि स्वरसंगता स्थितिवशात् सर्वेऽपि स्वराः अकारे (स्थिताः)
 सो (अकारः)ऽपि अर्हत्प्रतिपादकः समहिताः सिद्धाः सबुद्धाः शिवः ।
 ताद्रूप्याय एव भव्यैः अनन्तश्रिया भगवान् निसेव्यः ॥ २१ ॥

। ॐ अकार के लघु गुरु रूप छन्द शास्त्र में भी कहे गये हैं ।

अर्थ—इस प्रकार यह त्रिलोक प्रवृत्ति से मातृका में व्याप्त है । यह
 मातृका भी स्वरमय है । सभी स्वरों में मुख्यता के कारण सभी स्वर अकार
 में स्थित हैं । यह अकार भी अर्हत्तों का प्रतिपादक है । अर्हत्तों में सिद्ध
 केवलज्ञानी एवं मोक्षरूप समाया हुआ है । इसलिए भव्य जीवों को शिव-
 स्वरूपता के लिए अनन्त शोभा सम्पन्न भगवान् का निसेवन करना चाहिए ।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां कर्मकाण्डे चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥



पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

वर्णमातृका में लोक स्वरूप

[इस अध्याय में गौतम स्वामी ने वीर प्रभु से वर्णमातृका के उपदेश से लोकरूप का विवेचन पूछा है।

श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि वर्णमाला का अक्षर अलोकवाची है ल उर्ध्वलोक तथा अधोलोक रूपात्मक लोक स्वरूप है ल भूमि का बीज है अतः यह अक्षर राक्षस वाची है। प से लेकर व पर्यन्त आठ वर्ण व्यन्तरो के आठ समूह के वाचक हैं। प फ व भ में मनुष्यों के चारों वर्ण समाये हुए हैं जैसे ही त थ द ध में तारे नक्षत्र सूर्य चन्द्रादि चार प्रकाशक स्थित हैं। प्रत्येक वर्ग के पाँच अन्तिम सानुस्वार वर्ण अर्हत् परभेष्टियों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। क से ढ पर्यन्त १२ वर्ण १२ स्वर्गों के वाचक हैं। इसी प्रकार स्वरो में भी नौ प्रैवेयक आदि स्वरूप समाए हुए हैं। त्याग विसर्ग रूप है तथा रेफ अभिरूप है। अंत में नमः शब्द में रेखाओं के अंकन द्वारा २५ तीर्थकरों का आभास भी इसी अध्याय में दिया गया है।

इसी अध्याय में नमः शब्द की विशिष्ट व्याख्या की गई है विनय (विशिष्ट नय = सम्यक् ज्ञान) विनय भक्ति (सम्यग् दर्शन) तथा विनयव्रत (सम्यग् चारित्र)। इस अध्याय में मातृका में लोकलोक का निदर्शन कर लोक अर्हद् व्यापी तथा अर्हत् को लोकव्यापी बताया गया है।]

पंचत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐश्वर्यमुपलब्धीनां देव त्वय्येव निस्तुलम् ।
तन्मातृकोपदेशेन लोकरूपं निरूपय ॥ १ ॥

अन्वय—श्री गौतम उवाच—

देव त्वयि एव निस्तुलं उपलब्धीनां ऐश्वर्यं । तत् लोकरूपं मातृको-
पदेशेन निरूपय ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी ने पूछा हे भगवान् आप में तो उपलब्धियों
का अनुपम ऐश्वर्य समाया हुआ है अतः मुझे वर्णमातृका के उपदेश से
लोकरूप को समझाइए ।

श्री भगवानुवाच

क्षः क्षेत्रं तदिहालोकः ऊर्ध्वधः पार्श्वयोर्द्वयोः ।
पूर्णबिन्दुद्वयाकारात् ज्ञेयोऽन्तः शुषिरः स्वतः ॥ २ ॥

अन्वय—श्री भगवानुवाच—

क्षः क्षेत्रं तत् इह अलोकः ऊर्ध्व अधः पार्श्वयोः द्वयोः पूर्णबिन्दु-
द्वयाकारात् स्वतः अन्तः शुषिरः ज्ञेयः ॥ २ ॥

अर्थ—वर्णमाला का क्ष अक्षर अलोक क्षेत्र का वाचक है । इसके
उपर नीचे तथा दोनों ओर यह अलोक व्याप्त है । दो पूर्ण बिन्दुओं के
आकार का होने के कारण अन्दर से इसे शून्य ही समझना चाहिए ।

ऊर्ध्वधोभूद् द्वयात्मत्वान्नस्तु लोको महाप्रभुः ।
वहन् मूर्धन्यनुस्वारं सिद्धरूपोपदेशकम् ॥ ३ ॥

अन्वय—ऊर्ध्वधः द्वयात्मत्वात् लस्तु लोको महाप्रभुः । मूर्धनि
अनुस्वारं वहन् सिद्धरूपोपदेशकम् ॥ ३ ॥

अर्थ—उर्ध्व एवं अधोरूप द्वयात्मक होने के कारण 'लं' उर्ध्वलोक तथा अधोलोक रूपात्मक अति विशाल लोक स्वरूप है। सिद्ध रूप को बताने वाला इस के ऊपर का अनुस्वार लोक के ऊपर स्थित सिद्धशिला को बताने वाला है।

क्षः क्रौंचबीजं बाहुल्यात्तस्य क्षायाः समाश्रयात् ।

मातृकान्तस्थितस्यास्य वाच्यो नरकदण्डकः ॥ ४ ॥

अन्वय—बाहुल्यात् क्षः क्रौंचबीजं तस्य क्षायाः समाश्रयात्
मातृकाअन्तस्थितस्य अस्य नरकदण्डकः वाच्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—क्ष मंत्रशास्त्रानुसार क्रौंचबीज है। इसमें नाशभावना का बाहुल्य होने के कारण मातृका में यह नरक दण्डक का वाचक है।

लमित्यंतेन सन्दिष्टाः दशाप्यसुरदण्डकाः ।

नष्टा(ष्ट)जातचक्रे हि लमितस्य दिगंकतः ॥ ५ ॥

अन्वय—नष्टजातकचक्रे लं इति अस्य दिगंकतः लं इति अन्तेन
दशापि असुरदण्डकाः सन्दिष्टाः ॥ ५ ॥

अर्थ—*नष्ट जातक चक्र में लं को दस संख्या माना गया है। अन्तिम लं से दस असुर दण्डकों का संकेत है (लं दसवा अक्षर है य र ल व ष स ह क्षं लं)

वाच्यं रक्षोऽपि लक्षाभ्यां बहुधाऽसुरवाचिलः ।

लः पैशाच्यां प्राकृतो क्तौ नागोक्तावपि लादरः ॥ ६ ॥

अन्वय—लक्षाभ्यां रक्षः अपि वाच्यं बहुधा असुरवाचिलः । लः
पैशाच्यां प्राकृतोक्तौ नागोक्तौ अपि लादरः ॥ ६ ॥

अर्थ—ल एवं क्ष लक्ष। इस लक्षको रक्ष भी कहा जा सकता है।

* ज्योतिष का पारिभाषिक शब्द ।

रक्ष का अर्थ होता है राक्षस अतः ल को असुरवाची भी माना जाता है ।
पैशाची, प्राकृत एवं नागभाषा में भी ल से र का ग्रहण किया जाता है* ।

मंत्रागमेऽपि लमिति बीजं भूमेर्निरूपितम् ।
यवनानां भुवि क्षेपस्तन्मृतस्यासुराश्रयात् ॥ ७ ॥

अन्वय—मंत्रागमेऽपि लं इति भूमेः बीजं निरूपितम् तत् मृतस्य
असुराश्रयात् यवनानां भुवि क्षेपः ॥ ७ ॥

अर्थ—ल असुरवाची कैसे है यह सिद्ध करते हैं । मंत्रशास्त्र में भी
ल को भूमि का बीज बताया गया है । मुर्दों का असुराश्रयी अर्थात् प्रेत-
योनि में पड़ने के कारण यवनों की भूमि में गाड़ा जाता है ।

तत्राप्येकग्रहे सर्वग्रहन्यायाल्लकारकः ।
एकः सविन्दुः प्रायस्त-ल्लिपौ बिन्दोर्धनाग्रहात् ॥ ८ ॥

अन्वय—तत्र अपि एकग्रहे सर्वग्रहन्यायात् लकारकः एकः प्रायः
लिपौ बिन्दोः घनाग्रहात् तत् सविन्दुः ॥ ८ ॥

अर्थ—वहाँ भी एक साधे सब साधे न्याय से लकार एवं रकार एक
है । प्रायः लिपि में बिन्दु की अधिकता का आग्रह होने से वह बिन्दु-
युक्त यानि लं रूप में लिखा जाता है ।

परमाधार्मिका एषु स्वभावात् क्रूरकर्मठाः ।
बह्वालपेऽपि देशाप्तेरेकवर्णे समुच्चयः ॥ ९ ॥

अन्वय—एषु परम अधार्मिकाः स्वभावात् क्रूरकर्मठाः बह्वाल-
पेऽपि देशाप्तेः एकवर्णे समुच्चयः ॥ ९ ॥

अर्थ—ये लोग (असुरों में) परम अधार्मिक एवं क्रूर कर्म करने वाले
होते हैं । जनश्रुति तथा देश परम्परा के अनुसार इन असुरों का केवल

* रलयोरभेदः— पाणिनी । र एव ल में अभेद होता है ।

एक ल में समाहार हो गया है । स्वभाव से ही क्रूर कर्म करने वाले जो परमाधार्मिक देव हैं वे भी इस एक ही वर्ण में समाविष्ट हो जाते हैं ।

पादयोऽष्टौ व्यंतराणां निकायाष्टकवाचकाः ।

वाय्वाग्निभूजलादीनां बीजेष्वेषां विशेषतः ॥ १० ॥

अन्वय—पादयोः अष्टौ व्यन्तराणां निकायाष्टकवाचकाः वाय्वाग्नि-भूजलादीनां बीजेषु एषां विशेषतः ॥ १० ॥

अर्थ—प से लेकर व पर्यन्त जो आठ (प फ ब भ य र ल व = आठ) वर्ण हैं वे व्यन्तरो के आठ समूह के वाचक हैं । वायु अग्नि भूमि एवं जलादि के बीजों में इनकी विशेषता रहती है ।

चातुर्वर्ण्यं नृणामिष्टं पाद्ये वर्णचतुष्टये ।

ज्योतिष्काणां तथा ताद्ये चातुर्विध्यं व्यवस्थितम् ॥ ११ ॥

अन्वय—पाद्ये वर्णचतुष्टये नृणां चातुर्वर्ण्यं इष्टम् । तथा ताद्ये ज्योतिष्काणां चातुर्विध्यं व्यवस्थितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—प फ ब भ आदि चारों वर्णों में मनुष्यों के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र चार वर्ण इष्ट हैं वैसे ही तथ द ध में तारे, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि चार प्रकार के प्रकाशक व्यवस्थित हैं ।

वर्गीयपंचमाः पंच पूर्वैऽर्हन्तः प्रकीर्तिताः ।

पंचस्वेवजनैरुक्त-स्तद्वा स पारमेश्वरः ॥ १२ ॥

अन्वय—पूर्वैः पंच अर्हन्तः वर्गीयपंचमाः प्रकीर्तिताः पंचसु एव जनैः उक्तः तद्वा स पारमेश्वरः ॥ १२ ॥

अर्थ—प्रत्येक वर्ग के पांच अन्तिम अनुस्वार वर्ण तो अर्हत् रूप में कहे गए हैं । इन पांचों में पंच परमेष्ठि भगवान् का पारमैश्वर्य निहित है ऐसा तो लोग कहते ही हैं ।

पांच अन्त्य अनुस्वार ङ् ञ् ण् न् म्

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

३१९

काद्या ढान्ताः स्मृताः स्वर्गा द्वादश त्रिदशान्विताः ।

उकाराद्या विसर्गान्ता नव ग्रैवेयकान्यपि ॥ १३ ॥

अन्वय—काद्या ढान्ता त्रिदशान्विताः द्वादश स्वर्गाः स्मृताः
उकाराद्या विसर्गान्ता अपि नव ग्रैवेयकानि ॥ १३ ॥

अर्थ—क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ आदि देवताओं से भरे हुए १२ स्वर्ग कहे गए हैं ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ अः पर्यन्त नौ स्वर नव ग्रैवेयकों के वाचक हैं ।

न ऋवर्णाद् लृवर्णस्य भेदभावोऽप्रयोजनात् ।

अकाराद्या उकारान्ताः पंचाप्यनुत्तरालयाः ॥ १४ ॥

अन्वय—ऋ वर्णाद् लृ वर्णस्य भेदभावः न अप्रयोजनात् अकाराद्या उकारान्ताः पंचापि अनुत्तरालयाः ॥ १४ ॥

अर्थ—ऋ वर्ण से लृ वर्ण के भेदभाव का कोई प्रयोजन नहीं है* अर्थात् दोनो में कीई भेद नहीं है । इसलीए इन् दोनों पर विचार करने का प्रयोजन नहीं है । अब अ आ इ ई उ पर्यन्त ये पांच वर्ण पांच अनुत्तर विमानवासी देवों के वाचक हैं ।

सर्वार्थसिद्धिः प्रथमोऽपरोऽपराजितस्ततः ।

इस्वरे पि जयो दीर्घे विजयान्तोज्जयन्तके ॥ १५ ॥

अन्वय—प्रथमः सर्वार्थसिद्धिः अपरः अपराजितः ततः इ स्वरेऽपि जय दीर्घे विजयान्त उत् जयन्तके ॥ १५ ॥

अर्थ—प्रथम स्वर अ से सर्वार्थसिद्धि दूसरे आ से अपराजित इ स्वर से विजय दीर्घ ई से विजयन्त एवं उ से जयन्त नाम के लोक (विमान) सिद्ध हुए ।

ॐकारकेवलज्ञानं सिद्धः प्रागेव दर्शितः ।

अस्त्यागसिद्धश्चारित्रात् अं सिद्धो भक्तिशीलनात् ॥ १६ ॥

* 'रलयोरभेदः' र एवं ल में भेद नहीं है यह पहले ही कहा जा चुका है ।

अन्वय-ॐकारकेवलज्ञानं सिद्धः प्राक् एव दर्शितः चारित्र्यात्
त्यागसिद्धः अः, भक्तिशीलनात् अं सिद्धः ॥ १६ ॥

अर्थ-ॐकार केवलज्ञान स्वरूप है यह पहले ही सिद्ध कर
चुके हैं। चारित्रपूर्वक जो त्याग किया जाता है वह अः वाची है।
(विसर्ग त्याग सूचक है।) अःसे अ के विवर्तो का त्याग होता है। अः
अंतिम विकार स्वरूप है। भक्ति और शीलसे अं सिद्ध होता है।

योगेऽनयोः स्यादोंकारः पुरोऽस्यार्थस्य दर्शनात् ।

नरांगरूपं यस्त्यागो विसर्गः सिद्धताऽनयोः ॥ १७ ॥

अन्वय-अनयोः योगे ओंकारः स्यात् पुरः अस्य अर्थस्य
दर्शनात् नरांगरूपं यः त्यागः विसर्गः अनयोः सिद्धता ॥ १७ ॥

अर्थ-इन अं तथा अः के योग से ओंकार बनता है। पहले अःका
स्वरूप बता चुके हैं कि मनुष्य का शरीर धारण कर जो त्याग किया
जाता है वही विसर्ग है इन अं अः की सिद्धता स्वतः सिद्ध है।

विसर्गप्रकृतेरेफस्याग्नेः केवलसेवनात् ।

सिद्धः केवलभक्त्या वा तौ पुनर्भवभाजनम् ॥ १८ ॥

अन्वय-विसर्गप्रकृतेःरेफस्याग्नेः केवलसेवनात् केवलभक्त्या
चा सिद्धः तौ पुनर्भवभाजनम् ॥ १८ ॥

अर्थ-(अः में) विसर्ग प्रकृति वाला जो रेफ है वह (माया सूचक)
अग्निबीज है मात्र उसका आश्रयण या भक्ति दोनों ही पुनर्भवकारी हैं।
अर्थात् अं और अः युक्त ॐ ही मोक्ष वाची है।

नमः शब्देन विनयो भक्तिर्वा विनयो व्रतम् ।

विशिष्टो वा नयः शास्त्रं ज्ञानं सिद्धस्त्रयादत्तः ॥ १९ ॥

अन्वय-नमः शब्देन विनयः भक्तिः वा विनयः व्रतम् विशिष्टो
चा नयः त्रयात् अतः शास्त्रज्ञानं सिद्धः ॥ १९ ॥

पंचत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अ. गी. - २१

३२१

अर्थ—अब नमः शब्द की व्याख्या करते हैं:— नमः शब्द से विनय भक्ति, विनय व्रत अथवा विशिष्ट नय तीन अर्थ सिद्ध होते हैं । इन तीनों से शास्त्र सम्मत ज्ञान सिद्ध होता है । विनय भक्ति से सम्यग्-दर्शन, विनय व्रतसे सम्यक्-चारित्र तथा विशिष्ट नयसे सम्यग्-ज्ञान लिया जाता है ।

नकारेष्टावतश्चैको मे नन्दा ९ षड विसर्गके ।

चतुर्विंशतिरेखास्यान्नष्टजातकचक्रजाः ॥ २० ॥

अन्वय—नष्टजातकचक्रजाः नकारे अष्टौ अतः च एकः मे नन्दा विसर्गके षड् (एवं) चतुर्विंशतिरेखा स्यात् ॥ २० ॥

अर्थ—अब नमः शब्द का रेखाओं में अंकन द्वारा २४ तीर्थकरों का आभास देते हैं :— यदि गोलाई रहित नमः शब्द का आलेखन किया जाय तो न् नकार में आठ रेखाएं अ में एक रेखा म् में नौ रेखाएं एवं विसर्ग में छः रेखाएं इस प्रकार नमः में २४ रेखाएं सिद्ध होती हैं जो २४ तीर्थकरों की वाचक हैं ।

लोकभावनया चैवं लोकालोकावलोकनात् ।

लोको भवत्यकारस्यार्हतः सारूप्यभाग् भुवि ॥ २१ ॥

अन्वय—एवं लोकभावनया लोकालोकावलोकनात् भुवि लोकः अकारस्य अर्हतः सारूप्यभाग् भवति ॥ २१ ॥

इअर्थ—इस प्रकार लोक भावना से लोकालोक का अवलोकन किया जाय तो संसार में लोक अकार रूप अर्हत् के समान सिद्ध होता है एवं अर्हत् लोकव्यापी हो जाते हैं ।

॥ इति श्री अर्हद्गीतायां कर्मकाण्डे पंचत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

सदाचरण धर्म का स्वरूप

[श्री गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है कि नाना शास्त्रों की बातों से धर्म की एकता प्रतिपादित नहीं होती है अतः कृपा कर धर्म के तत्त्व का निरूपण कीजिये ।

भगवान् ने छन्द शास्त्रानुसार गणों के माध्यम से धर्म का स्वरूप समझाया है एवम् बताया है कि लघुता से ही प्रभुता मिल सकती है अहिंसा सर्वोत्कृष्ट है एवम् यज्ञ कर्म करने वाले ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। क्रोधी की कभी भी उर्ध्व गति नहीं हो सकती है छन्द शास्त्र में यति का बड़ा महत्त्व है जैसे ही मानव जीवन में यति धर्म का बहुत महत्त्व है। छन्द शास्त्र में कर्ण कटु शब्दों को त्याग दिया जाता है जैसे ही साधु जीवन में मधुरता का वरण किया जाता है। छन्द विशारद ज्ञानियों ने सदाचरण से सुख की प्राप्ति का उपदेश दिया है। यही धर्म का सार है।]

* * *

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

३२३

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्री गौतम उवाच

ऐक्यं न दृश्यते धर्मे नानाशास्त्रीयवार्तया ।

श्री वर्द्धमान तन्मे त्वं धर्मतत्त्वं निवेदय ॥ १ ॥

अन्वय—श्री गौतम उवाच—

नानाशास्त्रीयवार्तया धर्मे ऐक्यं न दृश्यते श्री वर्द्धमान तन्मे त्वं धर्मतत्त्वं निवेदय ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा हे वर्द्धमानस्वामी ! नानाशास्त्रों की बातों से धर्म की एकता प्रतिपादित नहीं होती है अतः आप मुझे धर्म का तत्त्व समझाइए ।

वृत्ते ज्ञाने दर्शने वा सर्वस्मिन्नक्षरत्रये ।

यस्य गौरवमेवास्ति श्रिये स मगणोऽर्हताम् ॥ २ ॥

अन्वय—श्री भगवानुवाच—

वृत्ते ज्ञाने दर्शने वा सर्वस्मिन् अक्षरत्रये यस्य गौरवं एव अस्ति स अर्हतां मगणः श्रिये ॥ २ ॥

छन्दशास्त्र में भी अर्हत् स्वरूपनिदर्शन

अर्थ—दर्शन ज्ञान तथा चारित्र के सभी तीनों प्रथमाक्षरों में जिनका गुरुत्व है ऐसे अर्हतो का गौरववाची सर्व गुरु मगणरूप आपके कल्याण के लिए हो ।

संयुक्ताद्यं दीर्घं—संयुक्त अक्षरात् प्रथमं ह्रस्वाक्षरं दीर्घं मन्यते ।

संयुक्त अक्षरों के पूर्व में आनेवाला ह्रस्व अक्षर गुरु माना जाता है दर्शन में र + श संयुक्त अक्षर हैं तो उनके पहले का द बड़ा अर्थात् गुरु ऽ रूप होगा ।

—श्रुतबोध (कालिदास)

द र्श न	ज्ञा न	चा रि त्र
(S) । ।	(S) ।	(S) S ।
गुरु लघु गुरु	गुरु लघु	गुरु गुरु लघु
वृ त्ते	ज्ञा ने	दर्श ने
S S	S S	S । S

छन्द नियमन गणों से होता है । गणमात्रा सूत्रक सूत्र इस प्रकार है-

“ यमाताराजभानसलगं ”

यमाता	S S	यगण		भानस	S	भगण
मातारा	S S S	मगण		नसल		नगण
ताराज	S S	तगण		सलगं	S	सगण
राजभा	S S	रगण		ल—		लघु
जभान	S	जगण		ग—	S	गुरु

यः सुदेव्यास्तनुजन्मा गणोऽस्य यगणः स्मृतः ।

तद्वर्णमुख्येऽपि लघौ युक्ताग्रे गुरुता द्विधा ॥ ३ ॥

अन्वय—यः सुदेव्याः तनुजन्माः अस्य गणः यगणः स्मृतः तद्वर्णमुख्ये अपि लघौ अग्रेद्विधा गुरुता युक्ता ॥ ३ ॥

। S S

अर्थ—ऋषभदेव भगवान् सुदेवी (मरुदेवी) के गर्भ से उत्पन्न हुये हैं उन सुदेवी का गण । S S यगण है । ये सुदेवी के पुत्र समस्त वर्णों में मुख्य होते हुए भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में लघुता में लीन रहे जिससे उन्हें आगे श्रमण रूप में व प्रथम तीर्थङ्कर रूप में गुरुता प्राप्त हुई ।

छन्दशास्त्र में यगण का प्रथमाक्षर लघु व आगे के दो अक्षर गुरु होते हैं इसका देवता गतिवाचक जल एवं सदा शुभ रहने के कारण इसका फल वृद्धि रूप होता है । सुदेवी के गर्भ से जन्मे, साधारण मानव ऋषभदेव अपनी साधना के बल पर प्रथम योगी व प्रथम तीर्थङ्कर बने ।

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

३२५

यः सदा रगणे लग्नो नग्नोऽस्य गौरवं क्षितौ ।
न चित्रमादावन्तेऽपि अन्तर्लघुतयाङ्गिनः ॥ ४ ॥

अन्वय—यः सदा रगणे लग्नः नग्नः अस्य गौरवं क्षितौ । अङ्गिनः
अन्तर्लघुतया आदौ अन्तेऽपि न चित्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो सदा रगण (अग्निरूप तपश्चर्या) में लीन हैं, निरम्बर हैं
एवं जिनका गौरव पृथ्वी पर स्पष्ट दिखाई देता है उनका आदि एवं अन्त
यदि गौरवशाली रहा हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि
आत्मा भी मध्य में ही लघुरूप हो गई है । उसका आदि और अन्त तो
महान् ही रहा है । ऋषभदेव भगवान् भी पहले सम्राट और बाद में प्रथम
तीर्थङ्कर हुए केवल साधनावस्था में ही साधुरूप (लघु स्थिति) में रहे ।
यह रगण । ५ । ऋषभदेव भगवान् की आदि, मध्य एवं अन्त तीनों
अवस्थाओं का द्योतक है ।

सहिताः सगणो वर्णे स्त्रिमिर्वन्द्योऽन्तगौरवात् ।
तीर्थेशभावात्तगणं भजतेऽनुक्रमेण यः ॥ ५ ॥

अन्वय—सहिताः सगणः, अंतगौरवात् त्रिभिः वर्णैः वन्द्यः यः
अनुक्रमेण तीर्थेशभावात् तगणं भजते ॥ ५ ॥

अर्थ—संसार के हितैषी (सहिता । ५) अन्तः गौरवशाली सगण-
रूप भगवान् तीनों वर्णों द्वारा पूजनीय हैं, गौरवशाली हैं । जगत् के
तारक भावों के कारण वे तीर्थेश तगणरूप कहलाये अनुक्रम से उन्हें
अन्तलघु (निरुपाधी) मोक्षपद की प्राप्ति हुई ।

अन्तर्गुरुधियं पुष्यन् पार्श्वे लघुतयोपधेः ।
रगणं च द्विषन्नीत्या जगणो जगदर्यमा ॥ ६ ॥

अन्वय—अन्तःगुरु धियं पुष्यन् पार्श्वे उपधेः लघुतया नीत्या
रगणं च द्विषन् जगणः जगत् अर्यमा ॥ ६ ॥

अर्थ—सुबुद्धि का पोषण करता हुआ दोनों बाजुओं में उपाधि की लघुता धारी जगण । ५ । आन्तर गौरवशाली है । नीति पूर्वक मध्य लघु रगण का विरोधी यह मध्यगुरु जगण जगत में केन्द्रस्थ सूर्य के समान प्रकाशमान है । जगण का देवता सूर्य है । जगण । ५ । रगण ५ । ५ का ठीक विपरीत होता है ।

भगवान् भगणः श्रेयान् साक्षाद्गुरुमुखो हि सः ।

कीर्तिश्चन्द्रमसाकान्ते—र्धाता भावत एव यः ॥ ७ ॥

अन्वय—भावतः एव यः कान्तेः धाता भगवान् भगणः श्रेयान् सः हि साक्षाद्गुरुमुखः चन्द्रमसा कीर्तिः ॥ ७ ॥

अर्थ—स्वभाव से ही प्रकाश के धारक (भास्वर ५ । १) परमात्म स्वरूप भगण मंगलकारी हो । इस भगण का पहला अक्षर गुरु होता है इसका देवता चन्द्रमा तथा फल यशलाभ होता है । चन्द्रमा के समान शीतल एवं यशस्वी परमात्मा गुरुमुख से साक्षात् होते हैं । वे तेजोमय परमात्मा हमारे कल्याण के लिए हों ।

शिवानयनकृद् यस्य स्थितिर्जीवितनन्दिनी ।

नगणः स सदा नम्यो गुणैर्नगणनान्वितैः ॥ ८ ॥

अन्वय—गुणैः नगणनान्वितैः स नगणः सदा नम्यः यस्य स्थितिः शिवानयनकृद् जीवितनन्दिनी ॥ ८ ॥

अर्थ—गणनातीत गुणों के द्वारा युक्त होने के कारण उस नगण रूप ऋषभ का नमन करना चाहिए जिसकी स्थिति मंगलप्रद एवं प्राणियों को हर्षित करने वाली है । नगण (। । ।) में तीनों लघु होते हैं आदि मध्य एवं अन्त । ऋषभ शब्द में भी नगण (। । ।) है । अतः वे गणनातीत नगणसे वाच्य हैं ।

यहाँ अर्थमा केवल सूर्यवाची है इसका यहाँ गणसे सम्बन्ध नहीं है ।

मन्दारः स्वैष्टदानेषु यैकारोऽर्हन् युगादिजः ।

राजराट् प्रथमो योगी सहितः प्रभया रवेः ॥ ९ ॥

अन्वय—स्वैष्टदानेषु मन्दारः यः अकारः अर्हन् युगादिजः रवेः प्रभया सहितः स राजराट् प्रथमो योगी ॥ ९ ॥

अर्थ—इष्टदान देने में जो मन्दारः कल्पवृक्ष के समान हैं जो अकाररूप अर्हत् युग में सर्व प्रथम जन्मे हैं, सूर्य की प्रभा से युक्त है वे राजराज ऋषभदेव संसार में प्रथम योगी हैं ।

तस्मात्तीर्थेश एवान्ये जयन्त इह जज्ञिरे ।

सर्वे भावत एतेषां गणना गणवर्णवत् ॥ १० ॥

अन्वय—तस्मात् भावतः तीर्थेश एव अन्ये सर्वे जयन्त इह जज्ञिरे एतेषां गणना गणवर्णवत् ॥ १० ॥

अर्थ—अतः तारक भाव से इन्हें तीर्थेश कहते हैं दूसरे सब इन्हें जिन कहते हैं इनकी गणना ८ गणों के २४ वर्णों की तरह ही मानी जाती है अर्थात् ये जिन २४ हैं । प्रत्येक गण में तीन अक्षर होते हैं । गणों की संख्या आठ हैं । इस प्रकार आठों गणों में २४ वर्ण होते हैं जो २४ तीर्थङ्करों के वाचक हैं ।

लोके नयनतुल्यास्ते गुरुतां प्राप्य लाघवात् ।

शिवस्वरूपमापन्ना—छन्दोमार्गानुरोधिनः ॥ ११ ॥

अन्वय—छन्दोमार्गानुरोधिनः ते लोके नयनतुल्याः लाघवात् गुरुतां प्राप्य शिवस्वरूपं आपन्ना ॥ ११ ॥

अर्थ—नीति (छन्द) मार्ग पर चलाने वाले वे तीर्थङ्कर भगवान् संसार में नेत्रों के समान—पथप्रदर्शक हैं । उन्होंने स्वपुरुषार्थसे लघुता से उपर उठकर बड़प्पन प्राप्त कर मोक्षपद को प्राप्त किया है । यहाँ लघु एवं गुरु । ऽ का संकेत किया गया है ।

भवानुरागो क्रमतो गौरवं लाघवं भजन् ।

सर्वांगलाघवाद्धत्ते—ऽकारोर्हन्नार्जवं हि सः ॥ १२ ॥

अन्वय—भवानुरागः क्रमतः गौरवं लाघवं भजन् अकारो अर्हन् सर्वाङ्गलाघवात् सः हि आर्जवं धत्ते ॥ १२ ॥

अर्थ—जीवात्मा अकार संसार के राग की वृद्धि या न्यूनता के कारण क्रम से गुरुता या लघुता को धारण करता है। अर्हन् स्वरूप अकार अपने सभी अंगों की लघुता के कारण सरलता अर्थात् सीधी रेखा (।) संज्ञाको धारण करता है। भवानुराग युक्त जीवात्मा का वाचक (अ+अ) आकार जुड़नेसे वक्राकार (ऽ) संज्ञामें व्यक्त होता है। छन्द शास्त्र में यही (ऽ।) गुरु लघु कहे जाते हैं।

आकृतौ विकृतिर्नास्य शिवोयमूर्ध्वगामुकः ।

प्रस्ताराद्विरतच्छन्दो विश्रामायैव केवलः ॥ १३ ॥

अन्वय—अस्य आकृतौ विकृतिः न अयं शिवः ऊर्ध्वगामुकः प्रस्तारात् विरतच्छन्दः केवलः विश्रामाय एव ॥ १३ ॥

अर्थ—ह्रस्व अकार की आकृति में किसी प्रकार की विकृति नहीं है। शिवस्वरूपी यह अकार आत्मा उर्ध्वगमन का अभिलाषी है। वर्ण एवं मात्रा के प्रस्तार से निवृत्त कामना रहित आत्मा मोक्ष के लिए (विश्रामाय) केवलज्ञान को प्राप्त करती है।

छन्द शास्त्र में छन्दों के भेद एवं उनमें रूपों के वर्णन को प्रस्तार कहते हैं। इसके दो भेद हैं वर्णप्रस्तार एवं मात्राप्रस्तार। छन्द की समाप्ति को यति कहते हैं जो विश्राम की अवस्था होती है।

यस्याकृतिर्लिपिन्यासे वक्रा विकृतिभागुरोः ।

तस्याकारस्य वाच्योङी युक्तः प्रस्तारवानयम् ॥ १४ ॥

अन्वय—लिपिन्यासे यस्य आकृतिः गुरोः वक्रा विकृतिभाक् तस्य अकारस्य वाच्य युक्तः अङी अयं प्रस्तारवान् ॥ १४ ॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

३२९

अर्थ—लिपिन्यास में जिसकी आकृति गुरु अवस्था में टेढ़ी ऽ होती है उस अकार का वाच्य संसारी जीव होता है। यह प्रस्तारवान् (गतिमान्) होता है।

विश्राम्यति यथा छन्दोरूपेभ्यः केवलोऽव्ययः।

अकारो लाघवादेवं मात्रयार्यागणेष्वपि ॥ १५ ॥

अन्वय—यथा लाघवात् केवलः अव्ययः छन्दोरूपेभ्यः विश्राम्यति तथा अकारोऽपि मात्रया आर्यागणेषु (विश्राम्यति) ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ह्रस्वमात्रा के कारण कैवल्य स्वरूप अव्यय परमात्मा छन्द रूपों से शान्त (निवृत्त) होते हैं वैसे ही ह्रस्व अकार अपनी लघु मात्रा के कारण आर्यादि मात्रिक छन्दों में विश्राम करता है।

आर्या छन्द मात्रक छन्द है इसके प्रथम व तृतीय पाद में द्वादश मात्राएं होती हैं।

सर्वादिमोक्तानुसृते—येषां पङ्क्तिर्धृतिर्वरा।

वर्णानां विदुषां तेषां प्रतिष्ठा बृहती ध्रुवा ॥ १६ ॥

अन्वय—अनुसृतेः येषां वर्णानां पङ्क्तिः सर्वादिमा उक्ता प्रतिष्ठ बृहती ध्रुवा। तेषां धृति विदुषां वरा ॥ १६ ॥

अर्थ—नियमानुसार जिन अ इ उ ऋ लृ ह्रस्व वर्णों की पङ्क्ति का सर्वप्रथम विधान किया गया है उनकी प्रतिष्ठा निश्चय रूप से विशाल है उनका धारण विद्वानों के लिए श्रेयस्कर है। अनुश्रुति के अनुसार जो संसार से सर्वप्रथम मोक्ष गये हैं उन ऋषभदेव भगवान की गणना सर्व-प्रथम मानी गई है उनकी प्रतिष्ठा निश्चय रूप से महान् है तथा उनका धैर्य विद्वानों के लिए श्रेष्ठ है।

ये मीमांसादृता लोके येषां मन्युक्रिया प्रिया।

नेश्वरस्तैस्सर्वज्ञो प्राप्यते समये क्वचित् ॥ १७ ॥

अन्वय—ये लोके मीमांसादृता येषां मन्युक्रिया प्रिया तैः क्वचित्
समये सर्वज्ञो ईश्वरः न प्राप्यते ॥ १७ ॥

—लोके ये मीमांसात् ऋता, येषां मन्युक्रिया प्रिया तैः क्वचित्
समये सर्वज्ञईश्वरः न प्राप्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—(किन्तु) जो संसार में मीमांसा दर्शन में विश्वास करते हैं,
जिन्हें हिंसायुक्त यज्ञ कर्म प्यारा है अथवा हिंसक यज्ञकर्म प्रिय हैं वे ईश्वर
की सिद्धि नहीं कर सकते हैं ।

संसार में जो लोग विचार शून्य एवं क्रोधी हैं वे कभी भी सर्वज्ञ
ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं ।

मीमांसा + आदृता मीमांसाश्रयी मीमांसात् + ऋता—विचार शून्य ।

नित्यंरतिर्यतिस्थानेमतिर्दण्डकनिश्चये ।

गतिः शनिः पदन्यासे दिव्याकृतिषु संस्कृतिः ॥ १८ ॥

अन्वय—यतिस्थाने नित्यं रतिः दण्डकनिश्चये मतिः पदन्यासे
शनैः गतिः कृतिषु दिव्या संस्कृतिः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार छन्द में वाचक की यति (विराम) स्थान में
रति रहती है एवं उसकी बुद्धि छन्द का निर्णय करने में एवं पदयोजना के
मांगलिक वर्णों की तरफ रहती है जिससे दिव्य आकार में छन्द ढलता है
वैसे ही जिनकी रूचि सदैव साधुपने में, बुद्धि २४ दण्डकों के निर्धारण
में एवं विहारादि में मन्दगति होती है, विद्वानों में उनकी संस्कृति दिव्य
मानी जाती है ।

पदं श्रुतिकट्टुत्याज्यं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम् ।

यतः स्याद्ग्राम्यधर्मस्यो—हीपनं ध्रियते न तत् ॥ १९ ॥

अन्वय—श्रुतिकट्टुपदं असत्क्रियं दुष्टं वाक्यं त्याज्यं यतः ग्राम्य-
धर्मस्य उहीपनं स्यात् तत् न ध्रियते ॥ १९ ॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

३३१

अर्थ—छन्द शास्त्र में कर्णकटु एवं असंस्कृत दुष्ट वाक्य को त्याग दिया जाता है। जिन शब्दों से गंवारूपन झलकता है ऐसे पदों का चयन नहीं किया जाता है। उसी प्रकार साधु मार्ग में कर्णकटु, असंस्कृत दुष्ट वाक्य एवं ऐसे सभी काम छोड़ दिए जाते हैं जिनसे अविवेकी रूप प्रकट होता है।

छन्दोविशारदैरेवमादर्शि शिवशर्मणे ।

धर्मस्तस्मान्नित्यसुखं श्रीमेघविजयोदयः ॥ २० ॥

अन्वय—एवं धर्मः शिवशर्मणे छन्दोविशारदैः एवं आदर्शि तस्मात् नित्यसुखं श्री मेघविजयोदयः ॥ २० ॥

अर्थ—इस प्रकार का धर्म संसार के सुख कल्याण के लिए छन्द (नीति) विशारद ज्ञानियों ने बताया है उसके आचरण से नित्य सुख की प्राप्ति होगी ऐसा श्री मेघविजयजी उपाध्याय कहते हैं।

आद्यं सर्वगुरुस्वरूपमुचितं जीवप्रकृत्यात्मकं,

प्रान्ते सर्वलघुक्रियं परिणतं सिद्धं सुबुद्धं शिवम् ॥

छन्दः शास्त्रगणेऽखिले वरकुले जात्या विशिष्टेऽप्यहो

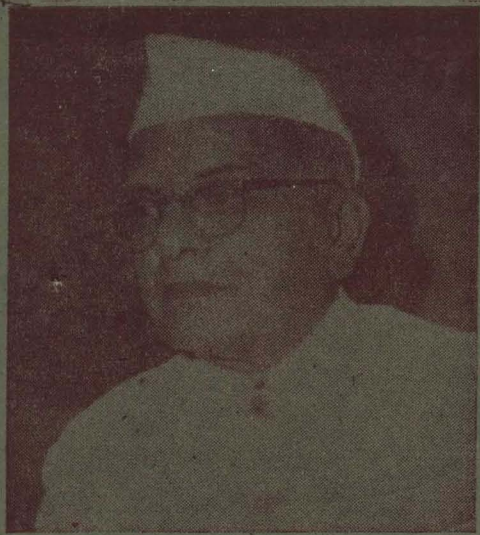
मन्येऽकारनिदर्शनं गुरुलघुस्थित्यार्हतो वाचकम् ॥ २१ ॥

अन्वय—आद्यं जीवप्रकृत्यात्मकं सर्वगुरुलघुरूपं उचितं प्रान्ते सर्वलघुक्रियं सिद्धं सुबुद्धं शिवं परिणतं छन्दशास्त्रगणे अखिले विशिष्टे अपि वरकुले जात्या गुरुलघुस्थित्या अकारनिदर्शनं अर्हतः वाचकं मन्ये ॥ २१ ॥

अर्थ—जीव जन्म से प्रारम्भ में सर्वगुरुरूप अर्थात् अष्ट कर्मों से आवृत्त रहता है एवं अन्त में समस्त कर्मों का विच्छेदन कर सिद्ध सुबुद्ध एवं मोक्ष पद को प्राप्त करता है। छन्द शास्त्र में भी प्रथम गण मगण के तीनो अक्षर गुरु होते हैं तथा अन्तिम गण नगण के तीनों अक्षर लघु होते हैं। सम्पूर्ण छन्द शास्त्र में विशेष रूप से अकार के गुरु एवं लघु सर्व स्वरूपों के विवेचन से अर्हत् का ही निदर्शन किया है ऐसी मेरी मान्यता है।

॥ इति श्रीअर्हद्गीतायां कर्मकाण्डे षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

स्व. सेठ श्री अमृतलाल
कालीदास दोशी



लक्ष्मी और सरस्वती का मिलन एक सुसंयोग है, जो बहुत ही दुर्लभ है। भारत के प्रसिद्ध उद्योग प्रतिष्ठान “अमर डॉय केम” के संस्थापक सुप्रसिद्ध उद्योगपति स्व. सेठ श्री अमृतलाल दोशी के जीवन में यह सुसंयोग देखा गया। आप न केवल कुशल व्यापारी व उद्योगपति थे, परंतु अच्छे विद्वान भी थे। धर्म और सदाचार में दृढ़ निष्ठा रखने वाले श्री अमृतलालभाई साहित्य, संस्कृति और जन सेवा में सदा अग्रणी रहे। उनके विचार बड़े व्यापक व उदार थे और जीवन संयम-निष्ठ तथा आध्यात्मोमुख था।

जैन साहित्य के संशोधन और प्रचार हेतु आपने “जैन साहित्य विकास मंडल” की स्थापना सन् १९४८ में की और उसके संचालन के लिए बड़ी राशि प्रदान की। इस संस्था ने स्थापना के समय से आज तक संशोधन के क्षेत्र में व्यापक व महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मंत्र, योग, ध्यान, न्याय एवं आध्यात्मिक विषयों में बहुत ही मौलिक साहित्य का प्रकाशन किया है।

संस्था का अपना एक समृद्ध पुस्तकालय भी है, जिसमें बहुमूल्य आध्यात्मिक-जैन व जैनेतर साहित्य की पुस्तके हैं, जिसका लाभ हमारे पूज्य मुनिराज, पंडित, संशोधक तथा समाज के विद्वान उठा रहे हैं।